

मुक्तांगन

एक व्यसन-मुक्ति केंद्र की कहानी



डॉ. अनिल अवचट

भाषांतर : अरविन्द गुप्ता

मुक्तांगन

एक व्यसन-मुक्ति केंद्र की कहानी

डॉ. अनिल अवचट

भाषांतर - अरविन्द गुप्ता



बनियन ट्री

मुक्तांगन

एक व्यसन-मुक्ति केंद्र की कहानी

डॉ. अनिल अवचट

प्रथम हिन्दी संस्करण 2015

बनियन ट्री

1-बी, धेनु मार्केट, दूसरा माला

इन्दौर - 452003, इण्डिया

टेलीफोन : 91-731-2531488

मोबाइल : 91-9425904428

ई-मेल : banyantreebookstore@gmail.com

वेबसाइट : www.banyantreebookstore.weebly.com

मूल संस्करण कॉपीराइट @ डॉ. अनिल अवचट

संशोधित संस्करण कॉपीराइट @ डॉ. अनिल अवचट

“भाषांतर एवं प्रकाशन अनुमति पूर्वक।”

ISBN : 978-93-82400-19-6

भारत में प्रकाशित एवं मुद्रित

मुद्रण : स्वाध्याय मंदिर, इन्दौर

बनियन ट्री ऐसी पुस्तकों का प्रकाशन एवं वितरण करते हैं जो जड़ एवं चेतन के संबंधों को आपस में जोड़ती हैं। हमारी पुस्तकें संस्थानीकृत विश्व की पूर्व परिभाषित अवधारणाओं को चुनौती देती हैं; अपनी परंपरागत एवं सांस्कृतिक जड़ों की ताकत की समझ को उसी प्रकार सुदृढ़ करती हैं जैसे *बरगद की जड़ें*।

यहाँ आपको ऐसी पुस्तकें मिलेंगी जो ज्ञान, संस्कृति एवं परंपरा के संस्थानीकरण को चुनौती देती हैं; पुस्तकें जो भोजन, स्वास्थ्य एवं कृषि के नियंत्रण और मिलावट को चुनौती देती हैं; सीखने, स्कूल-विहीन शिक्षा तथा, परिवेष के टिकाऊ विकास पर पुस्तकें। हमारा यह अटल विश्वास है कि “कुछ भी पढ़ाया नहीं जा सकता” तथा “काम ही गुरु है”। यहाँ आप अंग्रेजी, हिंदी व अन्य भारतीय भाषाओं में पुस्तकें खरीद सकते हैं।

शाख सूख चुकने के बाद भी
खुशियों की यादें अभी भी बाकी हैं,

तेल सूखने के बाद भी
दिया अभी भी टिमटिमाता है,

कई बारिशों के आने के बाद भी
उदास मन, अभी भी बौछारों में भीगा है,

दिल बेचैन है, परन्तु वो मुझे दिलासा देती है
वो मेरी शक्ति का स्रोत है
वो ज्यादा तसल्लीबख्श है शब्दों से
जो न जाने कब इधर-उधर भटक गए

सुनंदा के लिए...

विषय वस्तु

प्रस्तावना	7
अध्याय-1	11
वर्ष 1985 की एक दोपहर	
अध्याय-2	33
एक-एक दिन करके जियो	
अध्याय-3	52
जिंदगी की भट्टी में पके बर्तन	
अध्याय-4	80
दुनिया में अन्य कोई शाखा नहीं ..	
अध्याय-5	95
मेरी हंसी : मेरा हक	
अध्याय-6	110
मुक्तांगन - नए स्थान पर	
अध्याय-7	140
“हमें गलती बताएं, हम उन्हें सुधारेंगे।”	
अध्याय-8	166
फॉलो-अप और दूसरों के साथ बांटना	
अंत के शब्द	179

मुक्तांगन

एक व्यसन-मुक्ति केंद्र की कहानी

लेखक: डॉ. अनिल अवचट

हिन्दी अनुवाद: अरविन्द गुप्ता

प्रस्तावना

सच यह है, कि मैंने इस पुस्तक को लिखने का कभी सोचा नहीं था। इस किताब को लिखने का विचार मेरे दिमाग में कभी कौंधा तक नहीं था। वैसे जो कुछ मैं करना चाहता हूँ उसकी मैं पहले एक रूपरेखा और योजना बनाता हूँ। उसके लिए मैं भिन्न लोगों से मिलता हूँ, यात्रा करता हूँ, पुस्तकें पढ़ता हूँ। और अगर मुझे कोई ज्ञानी गुरु मिल जाए तो मैं उनसे सीखता भी हूँ। पर इस पुस्तक को लेकर मैंने ऐसा कुछ भी नहीं किया।

जब मैं मुक्तांगन में होता हूँ तो मैं वहाँ के बच्चों को मुक्तांगन के जन्म की कहानी सुनाता हूँ। अगर मुझे किसी पुराने मरीज की कोई बात याद आती है तो मैं वो घटना भी सुनाता हूँ। पर मुझे कभी ऐसा नहीं लगा कि यह लघु कथाएं एक दिन मिलकर एक पुस्तक का रूप लेंगी। मेरे अंदर मुक्तांगन को लेकर इतनी ज्यादा विषय-वस्तु छिपी होगी, इसका मुझे कोई अहसास न था। क्योंकि मैं मुक्तांगन के इतने करीब था शायद इसलिए मुझे उसे बाहर से कभी देखने का मौका ही नहीं मिला। जब आप किसी पुस्तक को अपनी आंखों के बहुत नजदीक रखते हैं तो फिर सब कुछ धुंधला दिखता है। मेरी स्थिति कुछ-कुछ ऐसी ही थी।

हाल ही में मुझे दो महीनों के लिए अमरीका जाने का अवसर मिला। मित्रों ने वहाँ अलग-अलग राज्यों में, मेरे भाषणों को हरेक सप्ताह के अंत में रखा था। इसलिए पूरा हफ्ता मुझे खाली मिलता था। मुझे इस खाली वक्त में मजा आने लगा। मैंने मित्रों से आग्रह किया कि वे अपनी सामान्य दिनचर्या जारी रखें - आफिस आदि जाएं और मेरे बारे में अधिक फिक्र न करें। मैंने उन्हें आश्वासन दिया कि खाली समय में मैं

खुद को अच्छी तरह व्यस्त रखूंगा। फिर उन मुक्त लम्हों में मैंने मुक्तांगन की कहानी को लिखना शुरू किया। इस कथा को मैं संस्था की आने वाली पीढ़ियों के लिए लिखना चाहता था। संस्था कैसे बनी? उसकी स्थापना में कितनी दिक्कतें और परेशानियां आईं और उनका कैसे हल निकला, मैं यह सब उन्हें बताना चाहता था। मुक्तांगन के जन्म की कहानी मैंने मरीजों को पहले कई बार सुनाई थी। इसलिए मुझे लगा कि उसे याद करने में मुझे बहुत आनंद आएगा। अमरीका प्रवास का एक बहुत अच्छा पक्ष यह था कि कई भूली-बिसरी कहानियां, जो मैंने कभी किसी को नहीं सुनाई थीं अब धीरे-धीरे मुझे याद आने लगीं। और जब मैंने उन कहानियों को लिखना शुरू किया तब मामला बहुत आसान हो गया और आगे का सिलसिला तेजी से बढ़ा।

अमरीका से वापस लौटने के चंद ही दिनों बाद मुझे दुबई जाना पड़ा। वहां मैं फिसल कर पीठ के बल गिरा जिससे मेरी रीढ़ की और दायीं कोहनी की हड्डी टूट गई। पर तब तक मुक्तांगन की कहानी लिखने का जोश काफी जोर पकड़ चुका था। दुर्घटना के बावजूद मैं पलंग पर लेटे-लेटे लगातार लिखता रहा। लिखते समय टूटा हाथ दुखता तो था, पर गनीमत यह थी कि मैं फिर भी लिख पाया। दुबई से लौटने के बाद मुझे आराम की सख्त जरूरत थी। तब मैंने आराम किया और साथ में लिखाई भी।

पांडुलिपि पर पहली प्रतिक्रिया आनंद (डॉ. आनंद नाडकर्णी) ने भेजी। आनंद ने क्या लिखा उसे दुबारा पेश करना मेरे लिए शायद मुश्किल हो। पर उस प्रतिक्रिया का असर मैं आपके साथ जरूर बांट सकता हूं। आनंद की प्रशंसा के बाद मुझे किताब लिखकर उसे खत्म करने का एक अजीब भूत सवार हो गया।

मैं पांडुलिपि के अंशों को कूरियर द्वारा आनंद को भेजता रहा। वो अक्सर मुझे रात के वक्त फोन करता। वैसे आनंद खुलकर कभी भी मेरी तारीफ नहीं करता था। उसे डर था कि प्रशंसा से, मैं कहीं बिगड़ न जाऊंगा, और अहंकार से कहीं मेरा सिर न फिर जाए। पर इस बार उसकी प्रतिक्रिया बहुत अलग थी। आनंद, मुक्तांगन के साथ शुरू से ही जुड़ा था। दरअसल, मुक्तांगन के तमाम मित्र-मरीजों को आनंद बहुत अच्छी तरह जानता था। इसलिए उसने इस कहानी में नई-नई बातें जोड़ीं। उसने कुछ मित्रों की वर्तमान स्थिति से भी मुझे अवगत कराया।

अभी तक मेरा लेखन, छोटे और बड़े लेखों तक ही सीमित रहा था। मेरी पुस्तक *अमरीका* विभिन्न विषयों और घटनाओं पर, अलग-अलग कालों में मेरे लेखों का एक संकलन थी। *वाघ्यामुरली* में भी मेरे लेखों को संकलित किया गया था। लम्बे अर्से तक एक पूरी किताब लिखना, मेरे लिए एक बिल्कुल नया अनुभव था। किताब लिखते

समय घटनाओं को दुबारा-दुबारा दोहराने का भी डर था। पर मैंने इस समस्या से बाद में जूझने की सोची। अभी मैं इससे क्यों परेशान होऊँ?

सबसे पहले मुझे जो कुछ याद आया उसे मैंने लिख डाला। मैंने विषय-वस्तु को अध्यायों में नहीं बांटा और ही उनके लिए अलग खंड या श्रेणियाँ बनायीं। कहानी यूँ ही आगे बढ़ती गई और मैं उसका पीछा करता रहा। मैंने एक झोंक में पूरी कहानी लिख डाली और उसके बाद मैंने उसे अपने करीबी लोगों को पढ़ने के लिए दिया। जब मुझे कोई नया प्रकरण याद आता तो मैं उसे जोड़ देता। कई बार पुरानी कहानी में नई घटनाओं को जोड़ना मुश्किल होता। नए प्रकरण का समावेश करते समय मुझे अक्सर, मूल कहानी के कुछ अंशों को दुबारा लिखना पड़ता था।

मेरी पुस्तक का पहला संस्करण समकालीन प्रकाशन ने छपा है। असल में आनंद अवधानी एक लम्बे अर्से से मुझसे इस पुस्तक को लिखने की गुजारिश कर रहे थे। पर मैंने उसे लिखने से साफ इंकार किया था। पर जब पुस्तक खत्म हुई तब उन्होंने मुझसे पढ़ने के लिए उसकी पांडुलिपि मांगी। मैं कुछ निर्णय नहीं ले पाया। तभी मेरे मित्र (और दत्तक पुत्र) महेन्द्र कानिटकर ने समस्या को सुलझाया। पांडुलिपि पढ़ने के बाद उन्होंने तुरन्त कहा, 'इसे समकालीन को दे दीजिए।' अक्सर बेटा अपने पिता की बात मानता है। पर इस बार मैंने इसका उल्टा किया। महेन्द्र की सिफारिश पर मैंने समकालीन को पुस्तक के प्रकाशन की अनुमति दे दी। प्रकाशन के दौरान, मैं समकालीन प्रकाशन के तीनों पार्टनर (अवधानी, सुहास कुलकर्णी और श्याम देशपांडे) के बहुत निकट आया।

पूर्व में मेरी कई पुस्तकों के कवर-चित्र मेरे छोटे भाई ने बनाए थे। पर बड़े कैनवस पेंट करना शुरू करने के बाद से, उसने लगभग मुझे त्याग दिया था। मैंने उससे नई पुस्तक का कवर-चित्र बनाने की विनती की। उसने न केवल मेरी बात मानी परन्तु हफ्ते भर के अंदर ही कवर-चित्र बनाकर भेज भी दिया! इस बार भी मैं, उसके एक बेहतरीन चित्रकार होने और उसकी सशक्त स्ट्रोक्स से खुश था। सुभाष मेरा भाई है, और वो सुभाष ही रहेगा। मैं आशा करता हूँ कि भविष्य में भी वो मेरी पुस्तकों को, अपने आकर्षक कवरों से सजाएगा-संवारेगा।

मुक्तांगन को पैसे देते वक्त मराठी के दिग्गज साहित्यकार पु. ल. देशपांडे (पु. ल.) ने कहा था, 'अगर एक भी घर ड्रग्स की त्रासदी से मुक्त होगा, अगर एक भी आंगन में नशे की मुक्ति का दीप जलेगा, तो मैं अपने दिए अनुदान को धन्य समझूंगा।' पु. ल. मेरे लिए पिता-तुल्य थे। मैं उनके कथन में कुछ और जोड़कर कहूँगा कि: अगर एक भी ड्रग्स-पीड़ित में, मेरी इस पुस्तक को पढ़कर उम्मीद की किरण

जगे और स्वास्थ्य-लाभ की इच्छा जागे, तो इस पुस्तक को लिखने का मेरा श्रम धन्य होगा। अगर किसी भी स्वयंसेवी कार्यकर्ता या संघर्षरत मित्र को पुस्तक पढ़कर नशा-मुक्ति की समस्या से लड़ने का बल मिले, तो सचमुच यह पुस्तक धन्य होगी। अगर पुस्तक पढ़ने के बाद लोगों में विषम परिस्थितियों में भी लड़ने की हिम्मत बनी रहे, तो भी इस पुस्तक को लिखने का उद्देश्य पूरा होगा। अगर पुस्तक को पढ़कर एक भी पत्नी अपने ड्रग-एडिक्ट पति की पीड़ा को भूलकर, जिंदगी को नए सिरे से शुरू करे तो भी इस पुस्तक का उद्देश्य पूरा होगा। अगर ड्रग-एडिक्ट का कोई बेटी-बेटा इस पुस्तक को पढ़कर एक नई-सुबह का आलिगन करे तो भी इसे लिखने की सारी मेहनत कामयाब होगी। भला इससे ज्यादा कोई और क्या उम्मीद कर सकता है?

- अनिल अवचट

अध्याय - 1

वर्ष 1985 की एक दोपहर

पता नहीं कि मैं कहां से शुरू करूं? मुझे मुक्तांगन की कहानी सुनानी है पर मेरे सामने 25 साल का लम्बा कालखंड खड़ा है। कहानी में मैं क्या लिखूं, कैसे लिखूं? मेरे सामने एक और समस्या है। उम्र बढ़ने के साथ मेरी याददाश्त भी कमजोर हो रही है। कुछ रोज पहले क्या हुआ मैं वो तक भूल जाता हूं। और अब मुझे सालों पहले घटी कहानी को सुनाना है। काश, इन घटनाओं को अनुभव करने वाला कोई व्यक्ति मुझे मिल जाता, तो मैं यह काम उसे सहर्ष सौंप देता। पर मुझे कोई ऐसा व्यक्ति नहीं पता। मुझे लगता है कि अब मुक्तांगन की कहानी अन्य लोगों को सुनाना बहुत जरूरी है। कहानी बरसों से जिंदा है, पनप रही है। सामाजिक क्षेत्र में मुक्तांगन जैसी संस्थाओं की मृत्यु बहुत तेजी से होती है।

पर मैं कैसे लिखूं? मैं तो खुद मुक्तांगन का एक हिस्सा हूं। तो क्या खुद अपने बारे में लिखूं। वो शायद मुश्किल हो। पर मुझे यह काम करना ही होगा, क्योंकि उन अनुभवों से शायद कुछ लोग लाभांवित हों। ऐसे लोग जो न सिर्फ नशा-मुक्ति केंद्र चलाते हों पर जो अन्य सामाजिक अथवा शैक्षणिक संस्थाएं चलाते हों। इस प्रकार की ज्यादातर संस्थाएं एक-जैसी समस्याओं और मुश्किलों से होकर गुजरती हैं।

पूर्व मैं मैंने कई बार मुक्तांगन की कहानी को बीमार लोगों और मित्रों को सुनाया है। मैंने सार्वजनिक भाषणों में भी उस कहानी को सुनाया है। बार-बार उसी कहानी को सुनाने से इंसान ऊब जाता है। पर मुझे यह काम करना ही है। इसलिए मैंने अब इस कहानी को इत्मीनान और विस्तार से लिखने का मन बनाया है।

1985 में दोपहर का समय है। अचानक घंटी बजती है। सुनंदा की मित्र अल्का अपने युवा बेटे के साथ दरवाजे पर खड़ी है। क्या? अल्का? अल्का इतनी दुखी क्यों लग रही है? उसे क्या हुआ है? अल्का का बेटा अब बड़ा हो गया है। पहले अल्का हमेशा हंसती, मुस्कराती और उत्साही लगती थी। उसके बेटे धनु का मुस्कुराता चेहरा, आज बिल्कुल अलग लग रहा था। वो चेहरा लटकाए, उदास क्यों खड़ा था? सुनंदा मेरे पीछे खड़ी थी। अल्का अचानक उससे लिपट जाती है। सुनंदा, अल्का को घर में

लाती है। मुझे कुछ भी समझ में नहीं आता है। धनु मेरे सामने बैठता है। क्या हुआ? मैं उससे पूछ सकता था। पर मैंने ऐसा नहीं किया। यह सुनंदा का अधिकार था। मैं उसमें दखल देना नहीं चाहता था। सुनंदा के पास जो मरीज आते मैं उनकी केस-हिस्ट्री में कभी दखलंदाजी नहीं देता था। सुनंदा के पास अक्सर मानसिक रोग के मरीज आते थे। कई मरीजों को मैं जानता था, फिर भी मैं उनसे कोई सवाल नहीं पूछता था।

कुछ देर बाद धनु और अल्का चले गए। फिर सुनंदा मेरे पास आई और उसने कहा, “ब्राउन-शुगर!”

“हे भगवान! धनु? उसे यह लत कैसे लगी?”

“कोल्हापुर के इंजीनियरिंग कॉलेज में! धनु वहां पढ़ रहा था।” धनु इंजीनियरिंग औजार खरीदने के लिए अक्सर मां-बाप से पैसे मांगता था। और मां-बाप पैसे भेजते रहते थे। फिर एक दिन कॉलेज ने उन्हें धनु की कम-हाजिरी के बारे में पत्र भेजा। हाजिरी कम होने के कारण धनु परीक्षा में बैठ नहीं सकता था। तब अल्का फौरन कोल्हापुर गई और वहां उसे असली कहानी मालूम पड़ी।

अल्का को एक और डर था। उसके पति महेश को बहुत जल्दी गुस्सा आता था। वो उसे धनु के बारे में कैसे बताए? सुनने के बाद महेश, धनु को जरूर पीटता। इसलिए सुनंदा ने महेश को धनु की पिटाई न करने के लिए मनाया। “अब समय है धनु की मदद करने का,” उसने कहा। उससे महेश शांत हुआ।

उस शाम हम उनके घर गए। धनु को बेडरूम में सोने को कहा गया। सुनंदा ने उसे उपचार के लिए दवाईयां दीं। उसने कहा कि किसी भी हालत में धनु को घर से बाहर निकलने नहीं दें, नहीं तो वो फिर ड्रग्स लेने लगेगा। अल्का और महेश ने बारी-बारी से बेडरूम में धनु पर निगरानी रखने की ठानी। उसके बाद हम घर वापस लौटे।

सुबह तड़के ही अल्का का फोन आया। “जैसी ही महेश की आंख लगी, धनु खिड़की से बाहर कूदकर कमरे से फरार हो गया। गनीमत है कि हमारा घर पहली मंजिल पर था।”

उसके बाद धनु अपने पुराने अड्डे पर गया। उसके ऊपर पहले ही काफी कर्ज था। इसलिए ड्रग्स सप्लायर्स ने उसकी जमकर पिटाई की। उसके कपड़े खून से लथपथ हो गए। वहां से धनु दौड़ता-भागता घर वापस आया। उसे दरवाजे पर खड़ा देखकर उसके माता-पिता को कितना धक्का लगा होगा! हम दुबारा उनके घर गए। मेरी मदद से सुनंदा ने उसके जख्मों की मलहम-पट्टी की। फिर धनु का इलाज नए सिरे से शुरू हुआ।

हमने धनु को बचपन से बड़े होते देखा था। गर्भ के पहले कुछ महीनों में सुनंदा ने अल्का को इंजेक्शन दिए थे। धनु एक प्यारा और सुशील बालक था। मैंने उसे घर में तिपहिया साइकिल चलाते हुए देखा था। मैं उसके साथ खेला था, उसके तमाम फोटो भी खींचे थे। अब वही बच्चा एक जानलेवा लत का शिकार बन गया था। मैं सोचता था कि धनी लोगों के बच्चे ही ऐसे व्यसन के शिकार होते होंगे। मैंने सुना था कि एक्टर सुनील दत्त का बेटा ड्रग-एडिक्ट था। एक उद्योगपति का बेटा भी। पर अब समस्या हमारे दरवाजे तक आ पहुंची थी।

धनु को पहले दो दिनों तक बहुत कष्ट झेलना पड़ा। बेसुध अवस्था में भी वो सिगरेट में ड्रग्स भरने की क्रिया को दोहराता था। वो साथ में अजीब तरह ही फू-फू...फू-फू की आवाजें भी निकालता - जैसे वो सिगरेट को माचिस से जला रहा हो। फिर वो काल्पनिक धुएं को पकड़ने की कोशिश करता। पीठ में असहनीय दर्द के कारण वो अक्सर चिल्लाता। यह सिलसिला कुछ समय तक जारी रहा।

धीरे-धीरे ड्रग्स का असर कम हुआ और तीन दिनों के बाद वो कुछ सामान्य लगने लगा। अल्का और महेश को कुछ शांति मिली। तब धनु के मित्र घर आकर उसके बारे में पूछने लगे। अल्का और महेश उन लड़कों से पहले कभी नहीं मिले थे। सुनंदा ने किसी को भी धनु से नहीं मिलने के सख्त निर्देश दिए थे। “उनसे कहना कि धनु अपने गांव गया है,” सुनंदा ने उन्हें समझाया। उसके बाद से धनु के मित्रों का आना बंद हुआ।

धनु को घर में घुटन महसूस होने लगी। उसे लगा जैसे वो पिंजड़े में बंद हो। माहौल बदलने के लिए सुनंदा ने मुझे उसे बाहर घुमाने ले जाने के लिए कहा। “तुम साथ होगे तो उसके दोस्तों की पास आने की हिम्मत नहीं होगी।” उसके बाद मैं धनु को यूनिवर्सिटी के मैदान में घुमाने ले जाने लगा।

मैं खुद से बहस करने लगा: क्या मैं उससे ड्रग्स के बारे में चर्चा करूं? जल्द ही मैंने उस विषय पर बातचीत शुरू की और फिर धनु खुल गया। मुझे ड्रग्स के बारे में बहुत कम पता था। मैंने अखबारों में उस विषय पर कुछ लेख जरूर पढ़े थे, परन्तु मुझे ड्रग्स की अलग-अलग किस्मों के बारे में कुछ नहीं पता था। अब मेरे सामने ड्रग्स की लत में फंसा एक युवा था। मुझे याद है वो दोपहर जब धंसे गालों वाला धनु मेरे सामने खड़ा था। उसका चेहरा कितना वीभत्स था - काले ओंठ, आंखों पर गहरे गोले और धंसे हुए गाल। अब वो ड्रग्स से मुक्त था, फिर भी वो पहले जैसा नहीं रहा था।

धनु, पुणे के फरग्यूसन कॉलेज में पिछली बेंचों पर बैठने वाले समूह का सदस्य था। कक्षा की खिड़की के कूदकर वह अपने लिए 'गर्द' लेने जाता था, जो तब कैम्प में मिलती थी। कॉलेज में वह छोटे-छोटे पैकिट लाता और फिर दोस्तों को मस्ती की बैठक में आने का न्यौता देता। उनके मिलने का स्थान बेहद रोचक था, कहाँ? बिल्कुल उस होस्टल के कमरे के नीचे जहाँ कभी श्रद्धेय स्वतंत्रवीर वी. डी. सावरकर रहते थे! यह कैसा वीभत्स संयोग था! सावरकर एक ऐसे प्रेरक और दृष्टिमान लीडर थे जिनकी महज मौजूदगी ने, तमाम लोगों की जिंदगियों को बदला था! और जहाँ यह महानुभाव रहते थे वहीं यह लड़के ड्रग्स का सेवन करते थे।

धनु के ग्रुप के सभी लड़कों के नाम हमने इकट्ठे किए। उनमें से अधिकांश धनी और संभ्रांत परिवारों के थे जो पुणे के डेक्कन जिमखाना इलाके में रहते थे। हम नहीं चाहते थे इन पालकों को भी अल्का और महेश जैसे ही स्थिति भुगतनी पड़े। इसलिए सुनंदा ने पालकों को फोन कर, उन्हें लड़कों की असलियत से वाकिफ कराया। "हमें आपके लड़के के बारे में यह जानकारी मिली है। आप भी इसकी जांच करें और पुष्टि करें। और अगर मदद लगे, हो तो हम आपकी सहायता जरूर करेंगे।" पर इस अपील के बिल्कुल उल्टे नतीजे निकले, "हमारे लड़के को किसी व्यसन की लत नहीं है। आप फजूल में हमारे परिवार को बदनाम न करें।"

कुछ सालों बाद वही पालक अपने लड़कों को मुक्तांगन लाए। अब उनकी आवाज की तलखी खत्म हो चुकी थी। अहंकार ने बेबसी का रूप ले लिया था। इस संकट को वो पहले क्यों नहीं पहचान पाए? उससे क्या कुछ बरबादी बच जाती? तब वो समस्या का जल्दी समाधान ढूँढ़ पाते। शायद उच्च, धनी-वर्ग की यही नियति थी!

जैसे-जैसे धनु ने अपनी कहानी सुनाई, वैसे-वैसे ड्रग्स की एक नई दुनिया मेरे सामने खुलती गई। ड्रग्स के पैकिट कौन खरीदता था? गरीब लोग, बस्तियों, झोपड़-पट्टियों में रहने वाले बच्चे, कचरापेटी में से फेंकी चीजें बीनने वाले, अस्थाई-छोटी नौकरी वाले मजदूर, रिक्शा-डाइवर, दिहाड़ी के मजदूर आदि। इनमें कोई भी फिल्म एक्टर संजय दत्त जैसा 'स्टार' नहीं था। एक इंच लम्बे ड्रग्स के पाऊच बहुत मंहगे भी नहीं थे। कीमत मात्र 20 रुपए प्रति पाऊच थी। एक एडिक्ट को रोजाना ऐसे पांच पैकिट की जरूरत पड़ती थी। चार-पांच महीने की लत के बाद ड्रग-एडिक्ट को इतनी मात्रा रोज चाहिए होती थी। पांच पाऊच रोज पर प्रतिदिन 100 रुपए का खर्च आता था, जो बहुत मंहगा था। (और यह आंकड़ें अस्सी के दशक के थे!) एडिक्ट को एक निश्चित समय के बाद ड्रग लेनी जरूरी होती थी। न लेने पर ड्रग का असर उतर जाता और व्यक्ति को असहनीय दर्द होता। आप दुनिया में किसी भी

अन्य चीज से पलायन कर सकते हैं, परन्तु ड्रग्स से नहीं। ड्रग्स न लेने से धीरे-धीरे एडिक्ट की परेशानी बढ़ती जाती थी। इतना कष्ट होता था कि उसे बर्बाद करना भी मुश्किल था। कभी-कभी उस वेदना से व्यक्ति की मृत्यु भी हो जाती थी। मुझे पहली बार समझ में आया कि ड्रग्स का मंहगा एडिक्शन, समाज के सबसे गरीब तबके में सबसे ज्यादा व्याप्त था। कितनी विडम्बना थी! इस विषय पर लिखना भी एक बहुत बड़ी चुनौती थी। पर मैंने इस चुनौती को स्वीकार किया।

मैं धनु की कहानी को आगे बढ़ाऊंगा। यूनिवर्सिटी के मैदान में टहलते हुए मैंने उससे पूछा कि उसे ड्रग्स की लत कैसे पड़ी। उसने कहा, “आपको पता होगा कि मेरे पिता रोज शाम को घर पर पीते थे। वो संयम से पीते थे। पिताजी क्या पीते हैं? यह प्रश्न एकदिन मैंने मां से पूछा। मां ने उत्तर दिया, ‘वो कोई ड्रिंक है।’ सालों बाद मुझे पता चला कि वो ड्रिंक - दारू थी। मैंने मां से पूछा, ‘वो रोज क्यों पीते हैं?’ मां ने कहा कि पिताजी आफिस के तनाव भूलने के लिए दारू पीते थे।”

धनु ने आगे बताया, “दसवीं कक्षा में मेरा दिमाग भी गहरे तनाव में था। मैं भी दारू पीकर अपने तनाव को भुलाना चाहता था। पर दारू ही क्यों? सिगरेट क्यों नहीं? मुझे लगा अगर मैं सिगरेट पियूंगा तो उसके बारे में घर में किसी को पता नहीं चलेगा। इस प्रकार मेरी लत शुरू हुई। साधारण सिगरेटों के बाद मैं उनमें चरस भरकर पीने लगा, और अंत में ब्राउन-शुगर।”

अपने सार्वजनिक लेक्चर्स में मैं अक्सर ‘सोशल ड्रिंकिंग’ की अवधारणा के बारे में बोलता था। आप चाहें घर में अच्छी क्वालिटी की शराब संयम से पीते हों, फिर भी बच्चे उसका क्या अर्थ निकालते होंगे? क्या बच्चों की सोच पर आपका कोई नियंत्रण है? आप खुद निर्णय लें - क्या आप घर में शराब की संस्कृति को लाना चाहते हैं?

मुझे याद है एक दिन मेरा एक मित्र परेशान और गम्भीर हालत में मुझसे मिलने आया। “तुम्हें पता है कि मेरे लड़के ने आज क्या किया? आज उसने एक सिगरेट पी। और महाशय अभी आठवीं में पढ़ते हैं।”

मुझे एकदम धक्का लगा। मेरा मित्र निरंतर धूम्रपान करता था। (मैं मजाक में उसे ‘अग्निहोत्री’ - फॉयरमैन बुलाता था) मैंने उससे कहा, “देखो दोस्त, अगर तुम चाहते हो कि तुम्हारा लड़का सिगरेट छोड़े, तो पहले तुम्हें खुद सिगरेट त्यागनी होगी। क्या तुम तैयार हो?”

उसने उत्तर दिया, “मेरे लिए यह करना असम्भव है।”

“फिर अपने लड़के को कैसे मनाओगे?”

“मैंने उससे कहा कि मैंने आठवीं कक्षा में सिगरेट कभी नहीं पी। नौकरी मिलने के बाद ही मैंने धूम्रपान शुरू किया।”

मुझे अपने मित्र के तर्क पर तरस आया। “दोस्त, तुम्हारा बेटा तुम पर कैसे यकीन करेगा? बचपन से ही उसने तुम्हें सिगरेट फूंकते देखा है? फिर वो कैसे विश्वास करेगा कि सिगरेट सेहत के लिए हानिकारक है?”

मित्र का बेटा मेरा लाडला था। एक दिन मैं उसे सैर करने सिंहगड पहाड़ी पर ले गया। वहां मैंने उससे सिगरेट की लत के बारे में पूछा और फिर विस्तार से उस पर चर्चा की। उसके बाद से उस लड़के ने सिगरेट कभी नहीं छुई। अब मैं धनु की अधूरी कहानी पर वापस आऊंगा।

मुक्तांगन शुरू होने पर धनु सुनंदा का सहायक बना। पिता के तबादले की वजह से उसके परिवार को मुम्बई जाना पड़ा। मुम्बई प्रवास के दौरान धनु फिर से ड्रग्स का सेवन करने लगा। पर हर गलती के बाद धनु को दुबारा मुक्तांगन में भर्ती कराया जाता था। बाद में वो ड्रग्स से पूरी तरह मुक्त हो गया। जो एडिक्ट्स साल भर तक खुद पर लगाम रखकर ड्रग्स से दूर रहते हैं उनका हर वर्ष मुक्तांगत में सत्कार किया जाता है। धनु का भी इसी प्रकार सत्कार किया गया और उसे अपने अनुभव सुनाने के लिए आमंत्रित किया गया। उसने एक पते की बात बताई, “पिताजी और मेरी तमाम मुद्दों पर लड़ाई होती थी। हर तू-तू मैं-मैं के बाद मैं सिगरेट पीता था। उसके बाद मैंने ड्रग्स लेना शुरू किया। एक बार पिताजी मुझ पर बुरी तरह बरसे और उन्होंने मुझ से घर से निकल जाने को कहा। मैं बाहर जाकर सीढ़ियों पर बैठ गया। मुझे अपनी परेशानी से निकलने के दो रास्ते दिखाई दिए। पहला - ड्रग्स का सेवन जारी रखना और दूसरा - पिताजी से माफी मांगकर घर पर रहना। क्योंकि पिताजी बिल्कुल नहीं बदलेंगे इसलिए मुझे खुद को बदलना था। मैंने घर वापस जाकर पिताजी से माफी मांगी। पिताजी को बहुत आश्चर्य हुआ। मित्रों, मैंने पिताजी के सामने पहले कभी ‘सॉरी’ शब्द का उपयोग नहीं किया था। आश्चर्य इस बात का है कि उसका पिताजी पर उसका बहुत असर हुआ और उन्होंने मुझे गले लगा लिया। उस दिन हम दोनों बहुत रोए। उसके बाद मैंने खुद में भारी परिवर्तन पाया। मैं तो बदला ही, पर पिताजी भी बदले।”

यह सुनने के बाद सब ने स्वेच्छा से तालियां बजायीं। किस पुस्तक से धनु ने यह विवेक सीखा? सीढ़ियों पर बैठने के बाद उसने उस दिन जीवन का सही पथ कैसे चुना? आश्चर्य की बात है, क्यों?

धनु के उपचार के बारे में एक अन्य दिलचस्प जानकारी का उल्लेख जरूरी है। ड्रग्स से मुक्त होने के बाद उसके पिता ने हमें बताया, “शुक्र है महाराज का, जिनके

कारण आज धनु खतरे से बाहर है।” पिता किसी साधु महाराज के भक्त थे। घर में महाराज का एक विशाल चित्र भी टंगा था। यह सुनकर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। क्या सुनंदा और मुक्तांगन के लोगों के अथक प्रयासों ने धनु का उपचार नहीं किया? क्या उसके इलाज में उनका कोई योगदान नहीं था? परन्तु धनु के पिता से इस बारे में चर्चा करके कोई फायदा नहीं था। वो तुरन्त कहते, “महाराज के आशीर्वाद के कारण ही धनु मुक्तांगन गया। उन्हीं की कृपा से मुक्तांगन के लोगों को धनु का उपचार करने की ऊर्जा मिली।”

धनु को पिता का तर्क सुनकर मुस्कुरा कर कहा, “पिताजी को बताएं कि मैंने बेडरूम में महाराज की फोटो के नीचे बैठकर कई बार ड्रग्स का सेवन किया था।” मैंने महेश को यह बात कभी नहीं बतायी। अगर उसे लगा कि उपचार महाराज की कृपा से हुआ, तो उसमें क्या बुराई थी?

मुक्तांगन में अन्य पालकों के साथ भी, हमें वैसे ही अनुभव हुए। लोग, उपचार को अक्सर किसी दैवीय शक्ति या व्रत का आशीर्वाद मानते थे। कुछ कहते थे, “चलो, अब मन्मत पूरी हुई, इसलिए हम एक महापूजा आयोजित करेंगे।” सुनंदा ऐसे लोगों से हमेशा कहती थी, “पूजा जरूर करो, परन्तु साथ में अपने खान-पान और डॉक्टर की सलाह का भी जरूर ध्यान रखो।”

धनु के प्रकरण ने मुझे झकझोरा और लिखने के लिए प्रेरित किया। मुझे पता चला कि डॉ. आनंद नाडकर्णी इसी प्रकार का व्यसन-मुक्ति कार्य मुम्बई में करते थे। इससे मेरा काम कुछ आसान हुआ। मैं उनके ठाणे स्थित घर गया, और वहां मैंने उनसे अनेकों प्रश्न पूछे। उन्होंने बहुत उत्साह से मेरे प्रश्नों का उत्तर दिया। एक तरह से वो मेरे गुरु बन गए। बाद में मैं परेल स्थित केईएम अस्पताल में उनके कमरे में रहा। वे बेहद सुंदर और खुशहाल दिन थे जब मुझे बहुत कुछ सीखने को मिला। मैं मरीजों की पीड़ा को भी आत्मसात कर पाया। आनंद इस खुशी का स्रोत थे। उनमें जिंदगी जीने की प्रबल उमंग थी। कॉलेज की पढ़ाई मैं पंद्रह साल पहले खत्म कर चुका था। परन्तु यहां मुझे फिर से युवाओं का साथ मिला। आनंद के होस्टल का कमरा बहुत छोटा था। उसमें मुश्किल से दो पलंग समा सकते थे। इसलिए मैं वहां जमीन पर गद्दा बिछाकर सोता था।

महेश गोसावी, आनंद का रूममेट था। उसने मुख्यमंत्री शिवाजीराव निलंगेकर के खिलाफ मुहिम छेड़ा था। मुख्यमंत्री ने अपनी बेटी को मेडिकल कॉलेज में गैरकानूनी रूप से दाखिला दिलाया था। इसलिए महेश को सब तरफ से धमकियां मिल रही थीं। परन्तु उन प्रहारों से वो बिल्कुल विचलित नहीं हुआ और चट्टान की तरह डटा रहा।

इस मामले में अंततः मुख्यमंत्री को इस्तीफा देना पड़ा। मैंने इस प्रकरण को बहुत करीबी से देखा। केईएम अस्पताल में आनंद का कमरा इस मुहिम का केंद्र-बिंदु था। रोजाना वहां कुछ नया घटता था - नए निर्णय लिए जाते जिससे कभी-कभी मुश्किलें और घबराहटें बढ़ती थीं।

मैं अक्सर आनंद के साथ, मानसिक विभाग की पत्थर की बनी इमारत में जाता था। पुणे के ससून अस्पताल की अपेक्षा वो कहीं ज्यादा साफ-सुथरा और चुस्त अस्पताल था। आनंद की ग्रुप-थेरेपी में करीब 40 लोग होते थे। वहां मरीज अन्य मरीजों को अपनी अंतरंग - दिल दहलाने वाली कहानियां सुनाते थे। आनंद, मरीजों के अभिन्न मित्र थे। उनके साथ मरीज खुलकर बातें कर सकते थे। आनंद की मानसिक चिकित्सा में एमडी की डिग्री, इसमें कभी आड़े नहीं आई। ड्रग्स के जाल से उबरने की कोशिश करने वाले मरीजों के लिए आनंद एक हीरो थे। यह काम बहुत जोशीला था क्योंकि रोज नई-नई समस्याएं आती थीं और उनके अनूठे हल खोजे जाते थे।

हम अक्सर मरीजों के घर जाते थे। उससे मेरा दायरा बढ़ा और मैंने एक नई मुम्बई देख पाया। मैं उन घरों में गया जो ड्रग्स से तबाह हो गए थे। अब वो बेहतरी की राह पर थे, पर फिर भी घरवालों में अभी भी अनिश्चितता और परेशानी थी। हमारे बच्चे का अब क्या होगा? इस प्रकार की परेशानी उनके चेहरों पर साफ झलकती थी। इससे मैं परिवारों के गुप्त रिश्तों को गहराई से समझ पाया। एक ड्रग-एडिक्ट अपनी मां, बड़े भाई और भाभी के साथ रहता था। उस लड़के ने ड्रग्स के लिए घर से कई बार पैसे चुराए या पड़ोसियों से मांगे थे। अंत में बड़े भाई ने तंग आकर, छोटे भाई को घर से निकाल दिया। घर से निकाले जाने के बाद लड़का पास के सार्वजनिक पार्क की बेन्च पर बैठा रहा। कुछ देर में उसकी मां आयी। उन्होंने कहा कि वो जहां जाएगा, वो भी उसे साथ-साथ जाएंगी। थोड़ी देर में बड़ा भाई भी वहां आया और फिर वो दोनों को घर वापस ले गया। इस कहानी से मेरी आंखों में आंसू छलक आए। इससे मुझे बहुत सीखने को मिला। ऐसी मां, जो बच्चे की विपदा में उसके साथ कहीं भी जाने को तैयार हो, वाकई में प्रशंसा की पात्र थी। बड़े भाई का दोनों को घर वापस लाने का व्यवहार भी काबिले तारीफ था। जब मैंने विदेश में नशा-मुक्ति के कार्यकर्ताओं को यह घटना सुनाई तो उन्हें इस पर यकीन ही नहीं हुआ।

दूसरी घटना में ड्रग-एडिक्ट ने पैसे न मिलने पर, अपनी मां के सिर को कई बार दीवार से पटका। इससे मां अंधी हो गई। बाद में उस लड़के ने ड्रग्स छोड़ दीं। अब वो अपनी अंधी मां की देखभाल करता है। कुछ नुकसान की भरपाई हो सकती है, पर कुछ की क्षति कभी पूरी नहीं की जा सकती है। हमें जिंदगी को इस प्रकार की तमाम समस्याओं के साथ जीना पड़ता है।

मुम्बई में मैंने एल्कोहलिक्स एनॉनिमस (एए) की बैठकों में भाग लेना शुरू किया। बाद में पुणे में भी, मैं उनकी मीटिंग्स में गया। उनकी बैठकें एक अनूठे तरीके से आयोजित होती हैं। शराबी यह कहेगा, “मैं (वो अपना पूरा नाम नहीं, सिर्फ नाम का पहला अक्षर बताएगा) एक नशेबाज हूँ।” बाकी लोग उससे कहेंगे, “हेलो” वे भी अपने नाम का केवल पहला अक्षर बताएंगे। मुझे यह कुछ अजीब सा लगा। कुछ नशेबाजों ने अपनी बातें बहुत स्पष्टता से रखीं। कई बार अपनी कहानियों में वे उन्हीं बातों को बार-बार दोहराते थे। फिर भी मुझे उनकी बातें बहुत अच्छी लगीं। पर शराबी के नाम को गुप्त रखने की बात मुझे ठीक नहीं लगी। यह अमरीकी संस्था, नाम को गुप्त रखने पर बल देती है। परन्तु भारत में तमाम बातें बिल्कुल खुले में होती हैं और बहुत से लोगों को उनके बारे में पता होता है।

मुझे नशा-मुक्ति के उनके 12 सूत्र पसंद आए। यह सूत्र असली अनुभवों पर आधारित थे, और उनसे मरीज को नशे से मुक्त होने में मदद मिलती थी। पहला सूत्र था - नशे की बुरी लत को स्वीकार करो। और अंतिम सूत्र था - किसी अन्य शराबी का नशा छुड़वाओ, उसे शराब से दूर रखो। यह बहुत महत्वपूर्ण सूत्र था। जो व्यक्ति अभी खुद अपना नशा नहीं छोड़ पाया है, वो भला दूसरे की नशा-मुक्ति में कैसे मदद कर सकता था?

एए के समृद्ध अनुभवों पर एक प्रेरक और व्यावहारिक पुस्तक लिखी जा सकती है। इन लोगों की अपनी विशेष प्रार्थनाएं हैं। प्रार्थना के समय कुछ प्रेरक कहावतों के पोस्टर दीवार से लटके होते हैं। एल्कोहलिक्स एनॉनिमस (एए) की सबसे अच्छी बात यह है कि यह संस्था शराबी पियक्कड़ों के लिए पूरी तरह से समर्पित है। इस संस्था में न कोई डॉक्टर है और न ही कोई मशहूर हस्ती। एए की बैठकें अक्सर शाम के वक्त होती हैं क्योंकि वही दारू पीने का समय होता है। मीटिंग में लोग स्वेच्छा से अपनी बातें कहते हैं, अनुभव बांटते हैं, और इससे बिना एक बूंद पिए शाम ढल जाती है।

एए जैसी अन्य संस्थाएं भी हैं: नारकोटिक्स एनॉनिमस जो ड्रग्स-मुक्ति का काम करती हैं, ओबीसिटी एनॉनिमस उन मोटे, स्थूलकाय लोगों के लिए जो अधिक भोजन करने से बचना चाहते हैं, और गैम्बलिंग एनॉनिमस उन लोगों के लिए है जो जुए की लत त्यागना चाहते हैं।

आनंद ने इस दुनिया से मेरा परिचय कराया। इस मामले में आनंद, मेरा और सुनंदा का गुरु है। बाद में वो मेरा ज़िगरी दोस्त भी बना। वो एक नाटककार, संगीत महफिलों का सूत्रधार, लेखक और निबंधकार भी है। भाग्यवश, उसमें मौलिक सृजना के

साथ-साथ अपार ऊर्जा और जोश भी है। किसी सामान्य व्यक्ति के लिए इतनी सारी चीजें एक साथ कर पाना असम्भव होगा।

मुक्तांगन की स्थापना में आनंद का बहुत बड़ा रोल था। बाद में जब सुनंदा को कैसर हुआ तब आनंद महीने में 2-3 दिन मुक्तांगन में बिताता, जिससे कि सुनंदा की जिम्मेदारियां कम हो सकें। अत्यन्त व्यस्तता के बावजूद वो आज भी मुक्तांगन के लिए समय निकालता है। शुरू में जब आनंद आया तो वो सुनंदा को आई (मां) बुलाता था और उसके साथ वैसा ही व्यवहार करता था। इस प्रकार मुझे स्वतः ही उसके पिता होने का श्रेय मिला।

हम सभी उत्सुकता से आनंद के आने का इंतजार करते थे। वो अपने साथ हमेशा एक नई ताजगी और विचारों का सैलाब लेकर आता। वो मुम्बई से ट्रेन पकड़कर सीधे मुक्तांगन पहुंचता। वो पहले सभी मरीजों से सामूहिक रूप से मिलता और उसके बाद उनसे एक-एक करके मिलता। फिर दोपहर को पूरे स्टाफ के साथ मिलता। काम खत्म होते-होते अक्सर शाम के चार बज जाते। तब मैं उनसे कुछ समय लेटने और आराम करने को कहता। पर वो उस समय मुझसे बातचीत करना चाहता था, जिसके लिए मैं सदैव तैयार रहता था। कभी-कभी मानसिक रोगों के मरीज आनंद से मिलने मुक्तांगन आते थे। आनंद बहुत सहजता और सुंदर तरीके से इन मरीजों से पेश आता। ऐसे जटिल मरीजों के साथ वार्तालाप करना बहुत कठिन होता है। आनंद बहुत कठिन कामों को भी अत्यंत सरलता से कर लेता था। शायद इसीलिए मैंने उन्हें 'महामानव' की उपाधि दी थी। डेक्कन क्वीन से मुम्बई के सफर के दौरान वो मुझे फोन करता और कहता, "सुनो बाबा, मैंने अभी-अभी नया नाटक लिखना शुरू किया है। उसका पहला अध्याय अभी-अभी खत्म किया है।"

अक्सर आनंद और मेरी मुलाकातें कुछ खास जगहों और समय पर होतीं। उन क्षणों में आनंद किसी की दखलंदाजी बरदाश्त नहीं करता था। रात को हम अक्सर खाने के लिए बाहर जाते और खूब गप्पें लगाते। अगली सुबह मैं उसे डेक्कन क्वीन पकड़ने के लिए स्टेशन छोड़ने जाता। उन पंद्रह मिनटों में भी हम अनेकों अंतरंग बातें करते।

जब मैं आनंद के साथ कोईएम के होस्टल में रह रहा था तब हम रात को अक्सर थॅकर्स क्लब तक टहलते हुए जाते, या फिर चौपाटी की सैर करते। चर्नी रोड पर एक पार्सी सज्जन की आईसक्रीम की दुकान थी। वहां रेल के पुल पर बैठकर, आईसक्रीम खाते हुए आनंद मुझे अपनी जिंदगी और सपनों के बारे में बताता था।

ड्रग्स के मेरे अध्ययन से मरीजों को जरूर कुछ लाभ हुआ होगा। पर इस काम के दौरान मुझे आनंद की संगत मिली। उसमें मुझे एक बेटा, एक पिता और एक सच्चा

मित्र मिला। हम दोनों ने, बुरे-भले समय में, एक-दूसरे का साथ निभाया है। हमारे परिवार भी एक-दूसरे के साथ घुलमिल गए।

आनंद के साथ कुछ समय रहने के बाद मैं पुणे वापस लौटा। चिकित्सक मित्रों ने मुझे कुछ एडिक्ट्स के पते बताए। मैं उनके घर गया। एक एडिक्ट की मां किसी घर में नौकरानी थी। मैं अलग-अलग तरह के लोगों से मिला। मैं पुलिस वालों से भी मिला। फिर मैंने उन पर, लेखों की एक श्रृंखला लिखी। पत्रकार दिनकर गांगल उस समय महाराष्ट्र टाइम्स के साथ काम करते थे। उन्होंने उत्साहपूर्वक अपने अखबार में रोज मेरा एक लेख छपा। इस प्रकार 11 लेख छपे। इनमें कुछ और सामग्री जोड़कर मैंने एक पुस्तक लिखी जिसका नाम था 'गर्द' (उर्दू में पाऊंडर)।

उन लेखों ने काफी सनसनी फैलाई। ब्राउन-शुगर के तमाम एडिक्ट्स - जो बाद में हमारे पास इलाज के लिए आए ने उन लेखों को पढ़ा और उन्हें बहुत सराहा। "एडिक्ट्स होने के बावजूद हम लोग महाराष्ट्र टाइम्स का बेसब्री से इंतजार करते थे। हमने सभी लेख पढ़े। हमें वे इसलिए पसंद आए क्योंकि उनमें हमारी जिंदगी प्रतिबिम्बित थी।"

उन लेखों को पढ़ने के बाद मध्यम-आयु के, और कई बूढ़े पालक भी मुझ से आकर मिले। कुछ कहते, "आपने जिन लक्षणों का जिक्र किया है बिल्कुल वही लक्षण मेरे बेटे में भी हैं।" लड़के को मिलने पर मैं तुरन्त समस्या को पहचान जाता। और फिर सुनंदा उसे ससून अस्पताल के मानसिक चिकित्सा विभाग में भेज देती। इस प्रकार हम रोजाना दो-तीन एडिक्ट्स को ससून भेजने लगे। जल्द ही ससून के डॉक्टरों ने सुनंदा को फोन करके कहा, "हमारे पास मरीज भेजना बंद करो। हमारे लिए उन्हें सम्भाल पाना मुश्किल है।"

एक दिन एक नौजवान लड़का बेलगांव से आया। "मैंने पिछले चार दिनों से ड्रग्स को छुआ तक नहीं है। कल मेरा इंटरव्यू है। अगर मुझे वो नौकरी मिल गई तो मेरी सभी समस्याएं सुलझ जाएंगी।"

मैंने कहा, "पर मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूँ?"

उसने कहा, "मुझे सिर्फ एक पैकिट ड्रग्स चाहिए। मैं उसे अपनी जेब में छिपा कर रखूंगा। उसका इस्तेमाल नहीं करूंगा। अगर पैकिट मेरे पास होगा तो मुझे अच्छा लगेगा और मेरी समस्या का निदान हो जाएगा।"

यह सुनकर मुझे धक्का लगा। मैंने सुना था कि पवित्र विभूति को पास रखना लोगों को अच्छा लगता था। "तो तुम चाहते हो कि मैं तुम्हें ड्रग्स का एक पैकिट दूँ? यह कैसी मांग है? हम तो यहां पर ड्रग्स मुक्ति के लिए काम करते हैं।"

“देखिए मैं यहां किसी ड्रग विक्रेता को नहीं जानता हूं। मुझे सिर्फ बेलगांव के ड्रग विक्रेता ही पता हैं। इसीलिए मैं आपके पास आया हूं। आपने अपनी अखबार श्रृंखला में लिखा था कि आप इस क्षेत्र के तमाम पुलिस वालों को भी जानते हैं। उन्होंने जो ड्रग्स जब्त की होंगी उनमें से ही एक पैकिट आप मांग लीजिए।”

यह सुनकर मुझे बहुत गुस्सा आया। पर मैंने अपनी भावनाओं पर काबू रखकर उससे कहा, “अगर तुम इस समस्या से मुक्त होना चाहते हो तो मैं तुम्हारे साथ हूं। नहीं तो तुम यहां से तुरन्त चले जाओ!”

लड़का कुछ देर गिड़गिड़ाया, फिर वो चला गया। हमारी प्रतिक्रिया क्या हो? यह मुझे और सुनंदा को समझ में नहीं आया। कुछ मिनटों बाद एक 60 साल का देखने में अच्छा, गंजा आदमी हमारे पास आया। हमने उनसे बैठने को कहा। “मैं फलां-फलां हूं (बेलगांव का एक धनी व्यक्ति)। जो लड़का अभी आपके पास आया वो मेरा बेटा था। कृपा उसे ड्रग का पैकिट दे दें,” पिता ने हाथ जोड़कर भीख मांगते हुए कहा।

उस दिन हमें तमाम झटके लगे। सुनंदा ने एक नुस्खा लिख कर दिया जो ड्रग्स छोड़ने वाले रोगी के लिए लिखा जाता है। उसके बाद हमने लड़के के पिता से जाने को कहा। बाद में वही लड़का मुक्तांगन में एक मरीज जैसे आया। तब हमें पता चला कि वो लड़का किसी इंटरव्यू आदि के लिए नहीं आया था। वो मेरे पास इसलिए आया था, क्योंकि वो ड्रग की खुराक से वंचित था। वो वाकई में ड्रग्स से पीड़ित था।

उस लड़के के परिवार से हमारा अक्सर मिलना-जुलना होता। वो एक धनी परिवार से था पर वहां संस्कृति की बेहद कमी थी। परिवार के सदस्यों के बीच में आपसी संवाद टूट चुका था। हरेक सदस्य ने अपनी राह पकड़ी थी। एक टूटे परिवार को देखने, समझने का यह एक अच्छा मौका था। एक ओर परिवार बहुत सम्पन्न था - बड़ा बंगला, कारें और अपार धन! पर इस सम्पन्नता के बावजूद लोगों के जीवन खोखले थे। उस दिन मैंने एक सबक सीखा - धन से सब कुछ नहीं खरीदा जा सकता था। धन से आंतरिक शांति नहीं मिल सकती थी। शांति केवल निःस्वार्थ कार्य और अच्छे पारिवारिक सम्बंधों से मिलती थी। सुख-चैन के लिए यह जरूरी था कि परिवार के सदस्य अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को ताक पर रखकर अन्य सदस्यों के लिए समय निकालें। मैं ऐसी कई महिलाओं को जानता हूं जो अपने परिवार के लिए बेहद श्रम करती हैं। वो अच्छे और सुखी परिवार की नींव हैं। यह मालूम होने के बावजूद लोग मालूम नहीं क्यों, अंधे होकर पैसे के पीछे दौड़ते-भागते हैं। लोग अपने सगे-सम्बंधियों को जमीन-जायदाद के केसों में उलझाते हैं और फिर जीवन भर कोर्ट-कचहरी के चक्कर काटते हैं। अजीब बात है!

कुछ दिनों बाद सुनीताबाई देशपांडे ने हमें फोन किया। श्रद्धेय पु. ल. ने भी हमसे बात की। मेरे लेख पढ़कर वे बहुत व्याकुल थे। उन्होंने हमें अपने घर बुलाया। क्योंकि उनका घर बहुत पास में था इसलिए हम तुरन्त उनके पास गए। और फिर हम बार-बार उनके घर जाते रहे। उन्होंने कई बार हमसे कुछ काम करवाए - ऐसे कार्य, जो केवल प्रिय मित्रों को ही करवाए जाते हैं। उन्होंने हमें, अपने बच्चों जैसा माना। हर साल पु. ल. मुझे एक विशेष काम के लिए बुलाते। वो मुझसे, बेहतरीन सामाजिक काम करने वाले व्यक्तियों और संस्थाओं के नाम जानना चाहते थे। पु. ल. मेरी बात बहुत ध्यान से सुनते और उसके बाद उन योग्य लोगों और संस्थाओं को व्यक्तिगत अनुदान देते। इससे कई महत्वपूर्ण छोटे उपक्रमों को लाभ पहुंचा। अनुदान लेने के लिए मैं अक्सर उन लोगों को पु. ल. के घर बुलाता था।

एक दिन पु. ल. ने कहा, “तुम इन एडिक्टिड युवाओं के लिए कुछ करो। इसके लिए मैंने एक लाख रुपए देने का निर्णय लिया है। अगर बाद में अधिक धन की जरूरत होगी, वो भी हम सहर्ष देंगे।” अब तक पु. ल. और सुनीताबाई ने सामाजिक क्षेत्र में जाने-माने, स्थापित, स्थाई उपक्रमों को ही अनुदान दिया था। परन्तु हमारा काम तो अभी शुरू होना बाकी था। उसके लिए एक लाख? यह बड़ी रकम थी और उससे बहुत कुछ कर पाना सम्भव था। मैं सोचने लगा कि उन पैसों से क्या-क्या करना सम्भव होगा - प्रचार-प्रसार की सामग्री, फोटो स्लाइड-शो, और अतिरिक्त धन से एक डॉक्युमेंट्री।

अनुदान की बात सुनकर सुनंदा की प्रतिक्रिया थी, “चलो, व्यसन मुक्ति केंद्र शुरू करें।” यह सुनकर मैं चौंका। मुझे लगा कि ऐसे केंद्र के लिए बहुत श्रम करना होगा, एक सविस्तार योजना बनानी होगी। मुझे अंदर से डर भी लगा। परन्तु पु. ल. और सुनीताबाई ने सुनंदा की बात का पूरा समर्थन किया। घर लौटते समय मैंने सुनंदा से पूछा, “तुमने यह क्यों सुझाया? क्या तुम ऐसा केंद्र चला पाओगी?”

“हां, हम बिल्कुल चला पाएंगे।”

“पर हमने आज तक ऐसा एक भी केंद्र देखा नहीं है। उसे वैज्ञानिक ढंग से चलाने के लिए हम प्रशिक्षित तक नहीं हैं।”

सुनंदा, मानसिक रोग चिकित्सक थी। वो मानसिक रुग्णालय में चरस और गांजे की लत वाले मरीजों, और शराबियों का अक्सर उपचार करती थी। परन्तु वे सभी मानसिक रोगी थे। व्यसन-मुक्ति केंद्र के लिए अलग प्रकार की कुशलताओं की जरूरत थी। भला मानसिक रूप से स्वस्थ एडिक्ट्स का कोई कैसे इलाज करे?

सुनंदा की प्रतिक्रिया मेरे लिए काफी शिक्षाप्रद रही। उसके उत्तर से मैं सुनंदा के एक नए पक्ष से परिचित हुआ। उसने कहा, “केंद्र चलाने में कौन सी बड़ी मुश्किल आएगी? एंडिक्ट्स को हमलोग, कम-से-कम एक स्थान पर तो रख पाएंगे। बाद में हम मरीजों से ही सीखेंगे।” सुनंदा की स्थिति एक सीखने वाले छात्र की थी। मानसिक-रोग चिकित्सक की डिग्री का उसे कोई गुमान नहीं था। बहुत से उच्च डिग्री प्राप्त लोगों का रवैया होता है ‘हमें सब पता है’। सुनंदा इससे अछूती थी। वो चरस-गांजे और ब्राउन-शुगर की लत वाले मरीजों से सीखने को तैयार थी।

सुनंदा ने उनसे धीरे-धीरे सीखा भी। वो अपने मरीजों से पूछती, “आपके उपचार में मैं क्या सहायता कर सकती हूँ?” मरीज उसके प्रस्थान-बिंदु थे। इसके कारण मरीजों का उसके साथ तुरन्त एक विशेष रिश्ता बन जाता था। आज भी हम मुक्तांगन में ‘मरीजों से सीखने’ के सिद्धांत का आदर करते हैं। और हजारों मरीजों का उपचार करने के बावजूद हम उसी सिद्धांत पर अमल करते हैं। ऐसी थी हमारी सुनंदा!

जैसे मैंने पहले भी कहा, सुनीताबाई और पु. ल. व्यसन-मुक्ति केंद्र शुरू करने के पूरे पक्ष में थे। उस समय सुनंदा, येरवडा मानसिक चिकित्सालय में सीनियर सायकियैट्रिस्ट के पद पर थी। उनके सीनियर डॉ. इकबाल, हज यात्रा के लिए छह महीनों के अवकाश पर थे। उनकी अनुपस्थिति में सुनंदा अस्पताल की सुपरिन्टेंडेंट का काम भी सम्भाल रही थीं। पहले भी इस पद को ग्रहण करने का उससे कई बार आग्रह किया गया था। परन्तु प्राशासनिक कामों में रुचि न होने के कारण उसने उसे अस्वीकार किया था।

पिछले कुछ सालों में मानसिक चिकित्सालय में दो नई इमारतें बनी थीं। उनमें एक बिल्डिंग में ज्यादातर दफ्तर शिफ्ट हो गए थे। दूसरी इमारत अभी भी खाली थी। उसकी निचली मंजिल पर थोड़े से मरीज थे। सुनंदा ने उन मरीजों को कहीं और शिफ्ट किया। फिर उसने सरकार से दूसरी इमारत को अपने नए केंद्र के रूप में उपयोग करने की अनुमति मांगी। सुनंदा केंद्र को मानसिक अस्पताल के अंदर और अस्पताल की देखरेख में ही चलाना चाहती थी। उस समय सरकार बहुत आर्थिक तंगी में थी और ‘जीरो-बजट’ पर काम कर रही थी। इसका मतलब था कि सरकार केवल संस्था को चलाने के फंड्स दे सकती थी परन्तु किसी नए प्रकल्प या स्कीम को मंजूरी नहीं दे सकती थी। ‘जीरो-बजट’ राज्य के मुख्यालय यानि मंत्रालय के सत्ताधारियों के हाथ में, एक हथियार जैसा था। इससे वो नए प्रकल्पों को, जड़ से उखाड़ फेंक सकते थे। इसलिए ‘जीरो-बजट’ काल में हमारे केंद्र को तमाम समस्याओं से गुजरना पड़ा।

पु. ल. के नाम के साथ-साथ सुनंदा और डॉ. संभाजी जाधव (उन्हें अक्सर काम से मुम्बई जाना पड़ता था) के प्रयासों का सरकारी व्यवस्था पर कुछ असर पड़ा। संभाजी एक सीधे-सादे और खुशमिजाज डॉक्टर थे। अन्य लोगों द्वारा साथ छोड़ देने के बाद भी, वे सुनंदा के साथ खड़े रहे। सुनंदा जैसे आज वो भी इस दुनिया में नहीं हैं।

बाद में सरकार ने सुनंदा के प्रकल्प को, कुछ शर्तों के साथ स्वीकृति दी। सुनंदा इमारत का उपयोग कर सकती थी पर स्टॉफ के वेतन की उसे खुद जुगाड़ करनी थी। स्टॉफ बाद में, सरकारी कर्मचारी होने का कोई लाभ भी नहीं उठा सकते थे।

अब एक नई समस्या उठ खड़ी हुई। पु. ल. का अनुदान किस संस्था को जाए? उनके अनुदान को लेने वाला कोई नहीं था। पैसों को प्रबंधन कौन करेगा?

पु. ल. देशपांडे प्रतिष्ठान जरूरतमंद लोगों को धनराशि उपलब्ध कराने वाली संस्था थी। वो किस अन्य संस्था के कामकाज में दखलंदाजी कैसे कर सकती थी? अनुदान देते वक्त वो बस उस संस्था के कामकाज का मूल्यांकन करती थी, दखलंदाजी नहीं करती थी। प्रतिष्ठान ने अपने रोल को अच्छी प्रकार परिभाषित किया था। वो महज शुभचिंतक थे, संस्था के कार्यकर्ता नहीं।

पर क्योंकि वे भावनात्मक रूप से इस मुहिम से जुड़े थे इसलिए सुनीताबाई ने कहा, “तुम संस्था बनाने की शुरुआत करो। इस बीच हम अपनी संस्था से तुम्हारे कर्मचारियों के वेतन और अन्य खर्चों का भुगतान करेंगे।”

यह सुनकर मैं चकित रह गया। वो हमारे काम में हाथ बंटाने को तैयार थे। इससे उनके काम का लोड और परेशानियां और बढ़तीं। पर उन्होंने सालों-साल हमारी मदद की और मुक्तांगन के स्टॉफ की संख्या बढ़ने के बाद भी उनका लगातार वेतन देते रहे। पु. ल. देशपांडे प्रतिष्ठान हर माह वेतन के चेक्स देता। सुनीताबाई स्टॉफ के नाम और वेतन के हिसाब से चेक्स बनातीं। हरेक चेक पर दोनों पति-पत्नी दस्तखत करते।

केंद्र के लिए सुनंदा ने नई इमारत की सफाई करवाई। मैंने मुक्तांगन के लिए पीले रंग का एल्मुनियम बोर्ड बनाया और उसे लगवाया। ड्रेनेज पाईप्स और शौचालयों की भी सफाई करवाई गई। इलेक्ट्रिशियंस ने टूटे बिजली के तारों को बदला। क्योंकि सुनंदा को स्टॉफ चाहता था इसलिए नई इमारत की पुताई तेजी से समाप्त हुई। स्टॉफ ने अच्छी तरह से केंद्र को रंगा। फर्श इतना गंदा था कि शक्तिशाली ऐंसिड से रगड़ाई के बाद ही, उसका मूल रंग खिलकर उभरा।

सुनंदा ने अपनी प्रिय नर्सों को, नए केंद्र के लिए चुना। स्टॉफ ने सारी औषधियों को एक कमरे में सजाया और दूसरे कमरे को भौतिक जांच के लिए तैयार किया। अस्पताल के पेंटर ने सुनंदा के कमरे के बाहर एक विशेष नेमप्लेट लगा दी। अस्पताल

मैं बाकी डॉक्टरों को, स्टॉफ ने ऐसा सहयोग पहले कभी नहीं दिया था। पर उसी स्टॉफ ने सुनंदा का दिल से सहयोग किया।

सुनंदा ने येरवडा मानसिक चिकित्सालय में पंद्रह साल काम किया था। उसे मरीजों को देखने का डॉक्टरी अनुभव तो था ही, वो साथ-साथ प्रशासनिक जिम्मेदारियां भी बखूबी सम्भाल सकती थी। उसने नए केंद्र के लिए एक अच्छी व्यवस्था रची। छोटे-छोटे खर्चों का भी हिसाब रखा जाता। मरीजों का एडमिशन रजिस्टर, केस पेपर्स, मेडिकल सप्लाइ रजिस्टर, डायरी में मरीजों की रोजाना की औषधियां दर्ज होतीं। फिर मानसिक चिकित्सालय से उधार लिए फर्नीचर और गद्दे आदि भी एक 'डेड स्टॉक रजिस्टर' में दर्ज थे। अक्सर हमें सरकारी मशीनरी में अव्यवस्था नजर आती है। परन्तु सुनंदा की मेहनत और लगन से मुझे सरकारी व्यवस्था भी कुछ सार्थकता नजर आने लगी। सरकार में छोटी-छोटी गोलियों और तकिए के गिलाफों का हिसाब तक रख जाता था। वैसे हर सिस्टम में कामचोर और ढीले लोग होते हैं। पर अब मैं सरकारी व्यवस्था को कुछ आदर की दृष्टि से देखने लगा था।

उस दौरान हम रोजाना ही पु. ल. से मिलते। केंद्र का उपयुक्त नाम क्या हो? एक चर्चा में यह बात छिड़ी। सुनीताबाई ने कहा, "अगर अभी तक आपने कोई विशेष नाम न सोचा हो तो हम 'मुक्तांगन' नाम चुन सकते हैं। किसी नए उपक्रम को अनुदान देते समय हम उसे 'मुक्तांगन' नाम देते हैं। यह भाई (पु. ल.) का सबसे चहेता नाम है।" हमने उस नाम को तुरन्त स्वीकार कर लिया। पु. ल. ने उसे मुक्तांगन व्यसन-मुक्ति केंद्र बुलाने का सुझाव दिया। ऐसा केंद्र लोगों को ड्रग्स के अभिशाप से मुक्त करेगा और उन्हें एक ड्रग्स-फ्री जीवन जीने के लिए प्रेरित करेगा। सभी ने इस नाम की प्रशंसा की और उसे अंतिम रूप दिया।

हमें तभी मालूम पड़ा कि पुणे में मुक्तांगन नाम का एक स्कूल भी था। मुक्तांगन नाम की कई अन्य कई संस्थाएं थीं - वृद्धाश्रम, गरीब छात्रों के होस्टल, पुस्तकालय और शोध संस्थाएं आदि। 'मुक्तांगन' एक पसंदीदा नाम था - जो मुक्त स्थान और खुशहाली का द्योतक था। मुझे एक रोचक किस्सा याद है जो हमारे मुक्तांगन की स्थापना के तुरन्त बाद घटा। मेरे मित्र - एक वरिष्ठ पुलिस अधिकारी का पुणे तबादला हुआ। मुझसे मिलने के बाद उन्होंने मुक्तांगन देखने की इच्छा व्यक्त की। मैंने उनके आगमन के लिए एक तारीख और समय तय कर दिया। जब मैं उन्हें मुक्तांगन का पता बताने लगा तो वो हंसे और उन्होंने कहा, "हम पुलिस वालों को शहर का चप्पा-चप्पा पता होता है। फिक्र न करो, मैं वहां पहुंच जाऊंगा।" कार्यक्रम के दिन हम काफी देर तक उनका इंतजार करते रहे। मुझे लगा कि पुलिस में होने के कारण

उन्हें कोई इमरजेंसी काम आ गया होगा, इसलिए उन्हें देरी हुई होगी। तभी उनका फोन आया कि वो गलती से सहकारनगर स्थित मुक्तांगन स्कूल पहुँच गए थे! मुक्तांगन स्कूल, हमारी संस्था से बिल्कुल विपरीत दिशा में था!

हमारे मुक्तांगन की अच्छी शुरुआत हुई। शुरू से ही मरीजों की एक वेटिंग लिस्ट रही। कभी-कभी मरीजों को दाखिला मिलने से के लिए 4 महीनों तक रुकना पड़ता था। रोचक बात यह है कि मेरे मित्र और जानकार मुझे अक्सर स्कूल में दाखिले के लिए फोन करते हैं। मेरे एक पुराने स्कूल के साथी ने फोन किया।

“देखो, वो मुक्तांगन तुम्हारा ही है न?”

“हां, हां, क्यों?”

“मेरी बहन का बेटा....”

“उसे किसका व्यसन है? ड्रग्स या शराब?”

मेरे मित्र को एकदम धक्का लगा। “नहीं वो बच्चा अभी केवल पांच साल का है। वो पहली कक्षा में दाखिला चाहता है।”

मुझे ऐसी कई रोचक घटनाएं याद हैं जब लोग किसी अन्य संस्था को हमारा मुक्तांगन समझ बैठे थे। अक्सर हमें कुरियर से भेजे गए पार्सल किसी दूसरे मुक्तांगन में पहुँच जाते। धीरे-धीरे ये हादसे कम हुए और अब लगभग बंद हो गए हैं। पर जब मुक्तांगन स्कूल का स्पोर्ट्स-डे होता है (किसी टूर्नामेंट में उनकी जीत अथवा कबड्डी में हार) और वो खबर जब अखबारों में छपती है तो उस दिन मुझे कई फोन आते हैं। बाद में जब हम दिल्ली की नौकरशाही के सम्पर्क में आए तो मुक्तांगन नाम का उच्चारण एक विशेष हिन्दी लहजे में सुनाई पड़ा।

बहुत कुछ तैयारी और मेहनत के बाद आखिरकार मुक्तांगन के उद्घाटन का दिन अगस्त 29, 1986 आ ही गया। प्रख्यात डॉ. एच. वी. सरदेसाई को केंद्र के उद्घाटन के लिए आमंत्रित किया गया था। पु. ल. की शोहरत और उनके फोन कॉल्स से हरेक अतिथि ने हमारे निमंत्रण को स्वीकारा। प्रसिद्ध सामाजिक कार्यकर्ता बाबा आमटे उस दिन पुणे में ही थे। उन जैसा महान अतिथि हमें बहुत आसानी से मिल गया। नहीं तो बहुत श्रम के बाद भी उन्हें ला पाना हमारे लिए मुमकिन नहीं होता।

इस सब के बावजूद मुझे अंदर से कुछ अनिश्चितता थी। मेरे दिमाग में अनेकों प्रश्न कौंध रहे थे। हमारे इस व्यसन-मुक्ति केंद्र में भला कौन आएगा? कितने एडिक्ट, ड्रग्स छोड़ने में रुचि दिखाएंगे? मैंने इस प्रकार की पहल आनंद के मानसिक रोगियों के वार्ड में देखी थी। पर वो मुम्बई के मशहूर केईएम अस्पताल का एक हिस्सा था। बाद में मुझे पता चला कि इसी प्रकार की पहल मुम्बई के जेजे अस्पताल और ठाणे

के मानसिक रोग अस्पताल में भी शुरू हुई थी। उसका उद्घाटन एक्टर सुनील दत्त ने किया था। कुछ समय बाद दोनों केंद्र बंद हो गए। ऐसा कहा जाता है कि जेजे अस्पताल के वार्ड-कर्मचारी चुपके से, इलाज कराने आए मरीजों को शराब सप्लाई करते थे। शराब को नारियल में छिपा कर लाया जाता था। नारियल में डूबी स्ट्रॉ द्वारा मरीज पानी नहीं, डॉक्टरों की मौजूदगी में शराब का लुत्फ लेता था। ठाणे स्थित व्यसन-मुक्ति केंद्र भी इस प्रकार की करतूतों के लिए मशहूर था। इन केंद्रों की रपटें बिल्कुल भी उत्साहजनक नहीं थीं। व्यसन-मुक्ति संस्थाओं की मृत्यु दर बहुत अधिक थी। उनका कोई भी सफल मॉडल आंखों के सामने नहीं था। इन संस्थाओं के बंद होने का एक बड़ा कारण था कि मरीजों को पिछले दरवाजे से शराब और ड्रग्स उपलब्ध कराई जाती थी। जो केंद्र बंद हुए वो अक्सर किसी बड़े अस्पताल का हिस्सा थे। इन केंद्रों के स्टॉफ की जिम्मेदारी कौन लेगा? अक्सर उनके स्टॉफ को भी शराब की भयंकर लत होती है और वे उसे पाने के लिए कुछ भी करने को तैयार होते हैं।

पुणे के मानसिक अस्पताल में स्थिति कोई बहुत अलग नहीं थी। वहां का स्टॉफ भी एक बड़े और भ्रष्ट समाज का अंग था। हम भला इस केंद्र को कैसे चलाएंगे? क्या हम इस खेल में लम्बे समय तक टिके रह पाएंगे? ऐसे प्रयासों में अक्सर 'सभी या शून्य' का नियम लागू होता है। वहां पर एक गलत व्यक्ति, पूरे केंद्र को तबाह कर सकता था। या तो ऐसे केंद्र बहुत अच्छे चलते हैं, नहीं तो बहुत ही जल्दी बंद हो जाते हैं। मुझे लग रहा था कि मुक्तांगन भी बहुत जल्दी ही बंद होगा।

मुझे यह भी लगा कि सुनंदा ने अपनी क्षमता से ज्यादा काम हाथ में ले लिया हो। मैं उसका बस एक वफादार सहायक था। वैसे मेरे लेख ही मुक्तांगन के जन्म का कारण बने, पर वाकई मैं वो पूरा प्रकल्प सुनंदा का था।

अतीत में मैंने अनेक विषयों पर लिखा था। पर मैं भावनात्मक रूप से उनमें से किसी के साथ जुड़ा नहीं था। जिन विषयों पर मैं लिखता था उनसे दूर रहने पर अक्सर लोग मेरी आलोचना भी करते थे। अपने बचाव में मैं कहता कि व्यक्तिगत भागीदारी मेरे बस की बात नहीं थी। परन्तु मुक्तांगन की बात कुछ अलग थी। सुनंदा के कारण, मुक्तांगन पर लिखने के बाद भी, मैं उससे भावनात्मक रूप से जुड़ा था। अतीत में मैंने युवक क्रांति दल (युवाओं की संस्था), बाबा अढाव के महात्मा फुले प्रतिष्ठान और कई अन्य स्वयंसेवी संस्थाओं के साथ काम किया था। पर इन सभी समूहों में मेरे साथ अन्य बहुत से लोग थे। मैंने कई आंदोलनों में भी भाग लिया था, जेल की हवा भी खाई थी - पर सब बहुत शांति से। मैं किसी एक मुद्दे को अपने जीवन का लक्ष्य नहीं बनाया था। मुझ में किसी एक विषय पर निरंतर काम करने और संघर्ष की क्षमता

भी नहीं थी। पर मुक्तांगन में मुझे जिम्मेदारियां सम्भालनी पड़ीं और सुनंदा के कारण मैं वहां से पलायन नहीं कर सका। मुझे लगा कि शायद सुनंदा को शुरू में मेरी जरूरत पड़े पर प्रकल्प चलने के बाद मैं खुद को उससे मुक्त कर पाऊं। सुनंदा के जन्मदिन पर हम दोनों सिंहगड की पहाड़ी पर गए और वहां मैंने ऐलान किया कि मैं अगले दो वर्ष, बाकी सब छोड़कर मुक्तांगन के लिए काम करूंगा। उन दो सालों में मैं कोई भी सामाजिक कार्य अपने हाथ में नहीं लूंगा। दो साल का वादा कब का पूरा हो चुका। उससे बाद 25 वर्ष और बीत गए। पर मैं अभी भी मुक्तांगन से खुद को मुक्त नहीं कर पाया हूं।

मुक्तांगन के उद्घाटन वाले दिन मराठी के प्रमुख अखबार सकाल ने मेरा एक लेख छापा, जिसमें उन्होंने नए व्यसन-मुक्ति-केंद्र की सम्पर्क जानकारी भी दी थी। उन्होंने नई इमारत का एक फोटो भी छापा था। क्योंकि हमारा केंद्र एक कोने में, शहर से काफी दूरी स्थित था इसलिए मुझे उद्घाटन समारोह में बहुत लोगों के आने की उम्मीद नहीं थी। इसलिए मानसिक चिकित्सालय के मनोरंजन हॉल को खचाखच भरा देखकर मुझे काफी आश्चर्य हुआ। वहां, बाबा आमटे एक पलंग पर लेटे थे और मंच को ध्यान से देख रहे थे। वो बहुत गंभीरता से सुन रहे थे। आनंद ने उद्घाटन समारोह का बड़ी खूबसूरती से आयोजन किया था। अन्य लोगों ने उस मौके पर क्या कहा यह मुझे याद नहीं पर सुनंदा ने एक सुंदर, स्पष्ट भाषण जरूर दिया। वैसे सुनंदा सार्वजनिक मंचों पर नहीं बोलती थी। यह जिम्मेदारी उसने मुझे सौंपी थी। मुक्तांगत खुलने के बाद उसने मंच को पूरी तरह त्याग दिया था। मुक्तांगन के हर जन्मदिन पर औपचारिक भाषण देने के वो मुझे ही मंच पर भेजती थी। यही सिलसिला 26 जून - ड्रग्स व्यसन और अवैध तस्करी के अंतर्राष्ट्रीय दिवस पर भी दोहराया जाता था। मंच से मैं सुनंदा को, मरीजों और उनके रिश्तेदारों के बीच बैठे पाता। पर उस उद्घाटन वाले दिन वो बहुत अच्छा बोली। वो एक खादी कुर्ता, सलवार और जैकेट पहने थी। अब मुझे वो प्रसंग अच्छी तरह याद नहीं है। मुझे आश्चर्य है कि मैं उस घटना को भूल गया जबकि उसके पहले की अनेकों घटनाएं मुझे याद हैं। याददाश्त ने मेरे साथ अच्छा खेल खेला! पु. ल. के मित्र नंदा नारलकर ने सुनंदा को बधाई दी। उन्होंने पु. ल. से कहा, “वो लड़की कितना सुन्दर बोली। कितना आत्मविश्वास था उसमें!!”

उद्घाटन समारोह की मुझे एक अन्य घटना याद है। अस्पताल परिसर में उद्घाटन हॉल काफी अंदर था। एक महिला के कहने पर मुझे अस्पताल के मेन गेट तक जाना पड़ा। गेट पर मुझे पांच स्कूल टीचरें दिखाईं। उन्होंने सकाल में मेरा लेख पढ़ा था। उनके साथ गंदे कपड़ों में स्कूल का एक चपरासी भी था। उसकी दाढ़ी बढ़ी हुई थी। टीचरें

उस शराबी चपरासी को तुरन्त केंद्र में दाखिल करवाना चाहती थीं। उनमें से एक ने कहा, “उसे शराब की बुरी लत है। हम उसे दाखिल करने लाएं हैं।” चपरासी, शर्म से मुंह झुकाए यह सब बातें सुनता रहा। वो भर्ती होना नहीं चाहता था। वो पहले, अपने परिवार को इसकी सूचना देना चाहता था। पर टीचरों ने परिवार को सूचना देने की जिम्मेदारी सम्भाली। चपरासी का नाम महादेव घारे था। उद्घाटन के बाद सुनंदा ने अपने पहले मरीज - महादेव को तुरन्त दाखिल किया। वो हमेशा मजाक में कहती थी, “मेरा पहला मरीज - सबसे शुभ मरीज है। वो भगवान की देन है। वो न केवल पूरी तरह स्वस्थ हुआ, परन्तु वो बाकी मरीजों के लिए एक मिसाल भी बना।” महादेव वाकई में एक आदर्श मरीज था। सुनंदा के जीते-जी उसने कभी शराब नहीं चखी। 25 सालों तक उसने शराब की एक बूंद नहीं छुई - यानि ‘सोबर’ रहा। ‘सोबर’ एक रोचक शब्द है। एल्कोहलिक्स एनॉनिमस इसका काफी उपयोग करते हैं। ड्रग्स की दुनिया में भी यह एक प्रचलित शब्द है। मैंने इसका मराठी पर्याय खोजने की कोशिश की। तभी मुझे साईं बाबा का ‘सबुरी’ (संयम) शब्द याद आया, जो ‘सोबर’ के बहुत करीब था। यह सच है कि शराब छोड़ने के लिए लोगों को बहुत संयम चाहिए होता है। त्यागने के बाद भी लोगों में शराब पीने का जुनून जल्दी जाता नहीं है। परन्तु महादेव को ऐसी इच्छा का दुबारा अनुभव नहीं हुआ।

हरेक क्षेत्र की अपनी एक भाषा और शब्दावली होती है। जब व्यसन मुक्त व्यक्ति को कभी शराब पीने की तेज ललक लगती है तो इसे ‘स्लिप’ कहते हैं। नशा छोड़ने के कुछ हफ्तों, महीनों में या कुछ सालों बाद भी यह होना सम्भव है। एए को इसके बहुत अनुभव हैं। ‘स्लिप’ कुछ निश्चित कारणों से होती है और उसे तुरन्त परामर्श के बाद ठीक किया जा सकता है। परन्तु अगर उसके बाद भी मरीज पीना जारी रखे तो इसे ‘रीलैप्स’ (पुनरावर्तन) कहते हैं। उससे दारू के पाप का चक्र दुबारा शुरू हो जाता है। इसके लिए अस्पताल में दाखिल होना अनिवार्य होता है। ‘स्लिप’ के लिए तुरन्त अल्प-अवधि का उपचार करना होता है पर ‘रीलैप्स’ एक गम्भीर स्थिति होती है। महादेव कभी ‘स्लिप’ तक नहीं हुआ, ‘रीलैप्स’ की बात तो दूर रही। तमाम मुश्किलों के बावजूद महादेव ने हमेशा के लिए बोतल को त्याग दिया। उसके जीवन में कई समस्याएं आयीं, भयंकर मुश्किलें आयीं। वो दत्तवाडी स्थित झोपड़पट्टी में रहता था। एक दिन म्यूनिसिपल कॉरपोरेशन ने उसकी झोपड़ी तोड़कर उसका जीवन तबाह कर दिया। महादेव सड़क पर आ गया पर फिर भी उसने दारू नहीं छुई। दामाद की अकस्मात मृत्यु के बाद भी महादेव सही पथ से विचलित नहीं हुआ।

महादेव हमेशा वही कपड़े पहनता - कमीज, पजामा और सफेद टोपी। उसकी पत्नी माथे पर रोली का बड़ा टीका लगातीं और नौ-गज वाली परम्परागत ग्रामीण महाराष्ट्रियन साड़ी पहनती थीं। जब कभी मुक्तांगन में वैवाहिक जीवन में सद्भाव पर चर्चा होती, तो दोनों पति-पत्नी उसमें भाग लेते। जब मुक्तांगन ने 10 वर्ष पूरे किए तो हम में से कई लोगों ने एक बड़ा जलसा आयोजित करने की और उसमें किसी मंत्री या उद्योगपति को आमंत्रित करने की सोची। धन एकत्रित करने के लिए हमने एक स्मरणिका भी छापने की सोची। सुनंदा ने कहा, “कोई बड़ा तामझाम करने की जरूरत नहीं है। महादेव, समारोह का मुख्य-अतिथि होगा और पवित्र दीपक जलाएगा।” हमने उसके निर्देशों का पालन किया। दस वर्ष पूरे करने के बाद महादेव हमारे लिए सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति था। महादेव ने कोई भाषण तो नहीं दिया परन्तु उस मौके के लिए वो सबसे उपयुक्त व्यक्ति था।

पु. ल. और सुनीताबाई ने शुरू में हमें प्यार और दुलार का जो सुरक्षा कवच प्रदान किया था उसने लम्बे अर्से तक हमारा साथ दिया। उन्होंने हम पर प्रेम बरसाया और संस्था के भविष्य के चरणों का भी ध्यान रखा। जब हमने सरकार से संस्था की बागडोर सम्भालने और मासिक खर्च उठाने को कहा तो हमें कोई सहायता नहीं मिली। महाराष्ट्र सरकार के ‘जीरो-बजट’ की वजह से हमें सरकारी मदद मिलना मुश्किल थी। इसलिए सुनीताबाई, हर माह मुक्तांगन में काम करने वाले पंद्रह लोगों के चेक्स काटती रहीं। पु. ल. और सुनीताबाई दोनों उन चेक्स पर दस्तखत करते थे। उनके द्वारा उठाया गया बोझ हमें अच्छा नहीं लगता था। पर हम मजबूर थे।

पु. ल. द्वारा दिए गए एक लाख रुपए जल्द ही खत्म हो गए। अब खर्च कैसे चलेगा? यह हमें समझ नहीं आ रहा था। हमारा दिमाग चकराने लगा। पर तभी पु. ल. ने हमें ढाई-लाख रुपए और दिए। पु. ल. ने कहा, “तुम फिक्र मत करो और अपना काम जारी रखो। अंतिम सांस तक मैं तुम्हारे केंद्र को बंद नहीं होने दूंगा।” इन शब्दों से हमारी टीम बेहद आश्वस्त हुई। पर मैंने अन्य स्रोतों से धन लाने का अपना प्रयास जारी रखा और अंत में केंद्रीय सरकार का अनुदान लाने में सफल रहा। जब मैं पु. ल. को यह खुशखबरी सुनाने गया तो उन्होंने पूछा, “मैं कुछ और मदद करना चाहता हूं। बताओ क्या करूं?” सुनंदा ने कहा, “मैं खाली समय में लोगों में पढ़ने की रुचि जगाना चाहती हूं।” तब पु. ल. ने कहा, “मैं तुम्हारे पुस्तालय को अल्मारियां भेंट करना चाहूंगा।” नंदा नारलकर जो पु. ल. के पास बैठे थे उन्होंने पुस्तकें खरीदने के लिए तुरन्त 5000 रुपए दिए। अल्मारियों की कुल कीमत 35,000 रुपए आई जिसका बिल पु. ल. और सुनीताबाई से सहर्ष चुकाया।

उनका दिल हमेशा खुला रहा और उन्होंने कभी भी दान देना बंद नहीं किया। उससे हमारे रिश्ते और पुख्ता हुए।

पु. ल. हरेक 29 अगस्त को, हमारे स्थापन-दिवस पर मुक्तांगन जरूर आते और वहां प्यार से मरीजों और उनके परिवारजनों की बातें सुनते। एक मरीज की बेटी की बातें सुनकर उनकी आंखें छलक उठीं। घर लौटते हुए उन्होंने कहा, “इन बच्चों ने भला क्या पाप किया है? उन्हें ऐसे भयानक बचपन से क्यों गुजरना पड़ता है?”

एक मीटिंग में किसी मरीज के ससुर ने पु. ल. से कहा, “आपको सरकार ने पद्मश्री पुरस्कार से सम्मानित किया है। कृपा सुनंदा मैडम को वो पुरस्कार दिलवाने में मदद करें।” यह सुनकर पु. ल. ने कहा, “देखो, हजारों लोगों ने सुनंदा को अपनी मां बनाया है। उसके सामने पद्मश्री क्या है? क्या दुनिया में मां होने से बड़ा कोई पुरस्कार है?”

अध्याय - 2

एक-एक दिन करके जियीं

मानसिक चिकित्सालय के परिसर में मुक्तांगन की अच्छी शुरुआत हुई। सुनंदा पहले से ही अस्पताल का अभिन्न अंग थी। परन्तु अब उसका काम दुगुना हो गया था। वो सुबह मुख्य अस्पताल के वार्ड्स का दौरा करती और उसके बाद अपने दफ्तर का प्रशासनिक कार्य देखती थी। उसके बाद वो मुक्तांगन जाती और वहां काम समाप्त होने तक रुकती। अतिरिक्त कार्य से उसे घर आने में देर होती। जहां पहले वो दोपहर तीन बजे घर आती, अब उसे शाम के पांच बजते थे। आराम के बाद उसे नाना पेट स्थित, हमाल पंचायत के दवाखाने में जाना होता था। वहां से वापस आते-आते उसे रात के दस बज जाते। उसके बाद वो मेरे साथ यूनिवर्सिटी की सड़कों पर घूमने जाने का आग्रह करती थी। हम एक-एक गिलास दूध पीकर अपना दिन समाप्त करते थे। फिर सुबह 6 बजे, अगले दिन की दिनचर्या शुरू हो जाती।

दिन गुजरने के साथ-साथ सुनंदा का कार्यभार और तनाव बढ़ता गया। बेटियों को मां के पर्याप्त समय न मिल पाने की शिकायत थी। सुनंदा के लिए इतने सारे काम एक साथ सम्भालना सम्भव नहीं था। उसने अब मानसिक अस्पताल के काम की बजाए, मुक्तांगन के काम को चुना था। भाग्यवश, उसकी नौकरी में इस प्रकार की प्रतिनियुक्ति का प्रावधान भी था। हमें वरिष्ठ अधिकारियों ने बताया कि यह प्रतिनियुक्ति तभी संभव थी अगर वो किसी अन्य सरकारी विभाग जैसे म्यूनिसिपल कॉरपोरेशन में जाना चाहती थी। हमें यह बताया गया कि मुक्तांगन कोई अलग सरकारी विभाग नहीं था - वो तो मानसिक चिकित्सालय का ही एक स्वतंत्र प्रकल्प था। इससे हमें निराशा हुई।

इस बीच मेरी मुलाकात एक पुराने मित्र अरुण घाटे से हुई। वो राज्य सरकार के स्वास्थ्य विभाग में काम करते थे। उन्होंने एक अच्छा सुझाव दिया और बाद में लगातार हमारी मदद भी की। उनके अनुसार पूर्व में सरकारी अफसरों की निजी संस्थाओं में नियुक्ति हुई थी। उस तर्क से, सुनंदा को, मुक्तांगन में नियुक्त किया जा सकता था। अरुण ने हमें अपना केस योजनाबद्ध तरीके से दुबारा पेश करने को कहा। क्योंकि अरुण खुद स्वास्थ्य विभाग में सुप्रिनटेंडेंट थे, इसलिए विभाग की कार्यपद्धति का उन्हें

अंदरूनी ज्ञान था। उन्होंने सही कागजातों और तर्कों के साथ हमारे केस को दुबारा पेश किया। वैसे स्वास्थ्य निर्देशक के दफ्तर में एक ग्रुप सुनंदा की पोस्टिंग के खिलाफ था। परन्तु स्वास्थ्य सचिव श्री महाना ने उनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया। जल्द ही सुनंदा मानसिक चिकित्सालय से मुक्त हुई। अब वो अपनी समस्त ऊर्जा, मुक्तांगन पर खर्च कर सकती थी। हमारी बेटियों को भी मां के साथ अधिक समय बिताने का मौका मिला। मुक्तांगन के मरीज भी उससे लाभान्वित हुए।

स्वास्थ्य विभाग के सचिव श्री महाना के बारे में मैं कुछ बताना चाहूंगा। महाना, पुणे के मानसिक चिकित्सालय के निरीक्षण के लिए आए। उसके बाद वो मुक्तांगन भी आए। उनके साथ स्वास्थ्य निदेशालय के अफसरों की, पूरी पलटन थी। उन्होंने मुक्तांगन के मरीजों से बातचीत के बाद सुनंदा और मुझे से भी बात की। जब निर्देशक ने हमारी बातचीत में दखल डाली, तो महाना उन पर नाराज हुए। उन्होंने निर्देशक से चुप रहने को कहा। महाना ने आपसी विरोध का सुंदर हल भी सुझाया। उन्होंने कहा, “आप चाहें तो मुक्तांगन के काम को, मानसिक चिकित्सालय से अलग कर सकते हैं।”

“स्वायत्ता? वो कैसे सम्भव होगी?” मैं इस सम्भावना से भयभीत हुआ। अब तक मानसिक चिकित्सालय, मुक्तांगन के बिजली, पानी और मरीजों के भोजन का खर्चा उठा रहा था। मुक्तांगन की स्वायत्ता के बाद यह खर्चा कौन उठाएगा? मुझे डर लगा। पर सचिव महाना ने आश्वासन दिया, “हम आपको मुक्तांगन के लिए जमीन का टुकड़ा, कम किराए और लम्बी लीस पर देंगे। साथ में हम वर्तमान सुविधा को भी कायम रखेंगे। क्या आपको यह उचित लगता है?”

महाना एक नेक इंसान थे। उन्होंने बहुत कम शब्द कहे परन्तु अपार दरियादिली दिखाई। अपने सहकर्मियों के विरोध के बावजूद उन्होंने इतनी दयालुता क्यों दिखाई? हमारी बहुत सहायता करने पर भी, उसका श्रेय उन्होंने कभी नहीं लिया। और फिर वो वहां से लुप्त हो गए! स्वास्थ्य निदेशक के कार्यालय में महाना के सहकर्मी उनके बिल्कुल विपरीत थे। रोचक बात यह है कि उनमें से कई कॉलेज में मुझे से 4-5 साल जूनियर थे। इन पिछड़ी जातियों के अफसरों से मैंने मित्रता बढ़ाना का प्रयास किया। हम लोग प्रेम से मिलते, और एक-दूसरे को पहले नाम से बुलाते थे।

उनमें एक मित्र सरकारी नौकरी में तरक्की के बाद, बिल्कुल बदल गया। वो सत्ता के गलियारों में मंत्रियों, विधायकों और संसद सदस्यों के साथ सांठ-गांठ करने लगा। उसे वास्तव में राजनेता होना चाहिए था। जब मैं उससे कॉलेज में मिला तो मैंने उसे सुझाव दिया, “अपना आत्म-सम्मान मत बेंचो। तुम एक डॉक्टर हो न? तुम मंत्रियों के पीछे-पीछे क्यों भागते हो?” तब मुझे पता नहीं था कि मेरी उसी इंसान से दुबारा मुलाकात स्वास्थ्य विभाग में होगी। उनका नाम? हम उन्हें श्री भांबरे बुलाएंगे।

एक दिन हमें सुनंदा के ट्रांसफर का आदेश मिला। इससे मुझे बड़ा धक्का लगा। ऐसा लगा जैसे मेरे पैरों तले से जमीन खिसक गई हो। अब मुक्तांगन का क्या होगा? हमाल पंचायत के शाम के क्लोनिन का क्या होगा? मुझे लगा भांबरे उसमें मेरी कुछ मदद कर पाएगा। इस विचार से मुझे कुछ सांत्वना मिली, और मैं मुम्बई में भांबरे से मिलने गया। जैसे-जैसे मैंने उसे अपनी कहानी सुनाई, उसने मुझे फाईलों का एक ऊंचा पुलिंदा दिखाया, “मैं कुछ नहीं कर सकता। मुख्यमंत्री ने निर्णय न बदलने के कड़े आदेश दिए हैं। इस आदेश को अब वो ही बदल सकते हैं।” मैं निराश होकर वापस लौटा। मुझे कोई आशा नजर नहीं आई, क्योंकि उस समय के मुख्यमंत्री से कोई काम करवाना आसान न था।

मंत्रालय की बिल्डिंग से निकलकर मैं एक्सप्रेस टावर्स गया। मैं वहां मराठी दैनिक अखबार के सम्पादक श्री माधव गडकरी से मिलने गया। उन्होंने मुझे देखकर पूछा, “तुम इतने उदास क्यों लग रहे हो?” फिर मैंने उन्हें पूरी कहानी सुनाई। वो तुरन्त उठ खड़े हुए और बोले चलो, “हम भाई सावंत के पास जाएंगे।” मैं उनको बताना नहीं चाहता था कि भाई सावंत स्वास्थ्य मंत्री हैं, पर फाइले मुख्यमंत्री के पास हैं। पर अब मुझ में कुछ भी कहने की ऊर्जा नहीं बची थी। इसलिए मैं उनके साथ-साथ चला। हम विधान सभा पहुंचे और उनके दफ्तर में जाकर बैठे, क्योंकि तब श्री सावंत विधान सभा के सत्र में थे। जब श्री सावंत बाहर आए तो गडकरी उनपर जोर से बरसे। “एक पत्रकार की पत्नी (सुनंदा) को आज महाराष्ट्र की सरकार क्यों परेशान कर रही है... ऐसा क्यों हो रहा है?” गडकरी की टिप्पणी भी उनके तेज-तर्रार सम्पादकीय लेखों जैसी ही थी। सावंत ने उन्हें शांत किया। केस की जानकारी हासिल करने के बाद उन्होंने अपने सचिव को आदेश दिए। उन्होंने हमें आश्वस्त किया। “फिक्र नहीं करें। आपका काम हो जाएगा। आप जाकर श्री भांबरे को मिलें।”

फिर मैं खुशी-खुशी भांबरे के पास गया। पर मुझे अब उसका रवैया और भी परेशानी में डालने वाला लगा।

“आपको उच्च अधिकारियों तक जाने की क्या जरूरत थी? मैंने आपका काम लगभग पूरा कर दिया था।” मुझे समझ में नहीं आ रहा था कि मैं उसके सामने क्या कहूं? क्या वो वही व्यक्ति था, जिससे मैं कुछ घंटों पहले मिला था? उसने इतनी जल्दी अपना रुख क्यों बदला?

भांबरे के गिरगिट जैसे रंग बदलने से बिल्कुल उल्टा बर्ताव गडकरी का था। वो अपना सब काम छोड़कर मेरी समस्या सुलझाने, विधान सभा दौड़कर गए। कितना अलग-अलग रवैया था!

वो काल हम सभी के लिए एक मुश्किल था। सुनंदा का ट्रांसफर आर्डर रद्द नहीं हुआ। सच तो यह है कि उसे तीन नोटिस मिले। उस बीच मंत्री भाई सावंत का निधन हो गया था। इस वजह से हमें कई बार मुख्यमंत्री से मिलना पड़ा। राज्य में राजनैतिक सत्ता बदलने के बाद ही सुनंदा का ट्रांसफर आर्डर रद्द हुआ।

हमने ट्रांसफर आर्डर का विरोध किसी व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण नहीं किया था। हम चाहते थे कि मुक्तांगन का नया अंकुर बेमौत न मरे। वरिष्ठ संसद सदस्य (लोकमान्य तिलक के पोते) श्री जयंतराव तिलक ने भी हमारे पक्ष में हस्ताक्षर किया। परन्तु फिर भी मुख्यमंत्री का रुख नहीं बदला। उन्होंने ताने मारते हुए कहा, “उस महिला (सुनंदा) का मुक्तांगन में होना क्यों जरूरी है? वो नागपुर में भी उसी प्रकार का काम कर सकती है।” पर इसमें सचाई नहीं थी। सुनंदा, पुणे शहर को अच्छी तरह जानती थी। हमारे सभी मित्र, सम्बंधी पुणे में थे। यहां हम इलाज हुए मरीजों का पुनर्वसन कर सकते थे। हम उनके लिए छोटी-मोटी नौकरियां ढूंढ सकते थे। अपरिचित शहर नागपुर में हम भला, यह सब कैसे कर पाते?

इससे मैं काफी व्याकुल हुआ। मुख्यमंत्री का व्यक्तव्य सुनकर मुझे बहुत बुरा लगा। मैं तब मुम्बई के फोर्ट इलाके में फ्लोरा फाऊंटेन चौक के सूखे फव्वारे के पास गया। मैंने खुद से पूछा, “यह सब मैं क्यों कर रहा हूँ?” मैं खुद को इतनी बेइज्जती का निशाना क्यों बना रहा हूँ? इस तनाव और बोझ से क्या फायदा? सब छोड़कर हम वहीं चले जाएं जहां सुनंदा का तबादला हुआ था? हम क्यों न एक साधारण नौकरीपेशा की जिंदगी जिएं?

एक ओर यह निराशाजनक विचार मेरे दिमाग में कौंध रहे थे, दूसरी ओर मैं सुनंदा के अथक श्रम को याद कर रहा था। मुझे उसके मरीजों के चेहरे याद आ रहे थे। उनके रिश्तेदारों के चेहरे याद आ रहे थे, जो मरीजों से हर गुरुवार, मिलने आते थे। उनके कारण मेरी निराशा तुरन्त रफूचक्कर हो गई। मैंने खुद से कहा - और मैं अक्सर आपातकालीन स्थिति में इसे दोहराता हूँ। “अगर मैं सामाजिक कार्य में लगा हूँ तो मुझे यह पता होना चाहिए, कि यह मुश्किलों से भरा काम है। अपने मूल्यों में विश्वास से कारण मुझे इन कठिनाईयों को झेलना ही होगा। उसकी कीमत मुझे चुकानी ही होगी। मैं इतनी जल्दी हताश कैसे हो सकता हूँ? क्या मेरी आंतरिक शक्ति बिल्कुल खत्म हो गई है?”

मैंने खुद से कहा कि जिस प्रकार महात्मा गांधी ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ लड़े और सत्याग्रह किया, उसी प्रकार मैं भी इस कठिन व्यवस्था के खिलाफ जंग छेड़ूंगा। पूरे भारत ने, गांधीजी के सत्याग्रह में भाग लिया था। पर यहां मैं बिल्कुल अकेला था।

गांधीजी एक राजनैतिक शासन के खिलाफ लड़े और उससे अंग्रेजों को भारत छोड़ना पड़ा। मैं उतना खुशनसीब नहीं था। मेरा काम होने के बाद भी यह व्यवस्था वैसी की वैसी बनी रहती, उस पर कोई आंच नहीं आती। वर्तमान भारत में, हरेक सामाजिक कार्यकर्ता को, यही सजा भुगतनी ही पड़ेगी।

एक ओर हालात गम्भीर थे, पर कुछ अच्छा भी था। इस व्यवस्था में कुछ अच्छे लोग भी थे, जो नेक काम करते थे। एक भ्रष्ट व्यवस्था में काम करने के बावजूद वो अपनी अच्छाई और इंसानियत को बरकरार रखते थे। हमें इस व्यवस्था में अक्सर ऐसे नेक लोग मिले, और साथ में भ्रष्ट और निकम्मे लोग भी। क्योंकि हमने इन भ्रष्ट अफसरों को घूस नहीं दी इसलिए उन्होंने हमें “सख्त और कड़ा” करार दिया।

अक्सर अच्छे काम में, निचले स्तर के अफसर और क्लर्क भी अड़ंगा लगा सकते थे। कई बार वरिष्ठ आई. ए. एस. (भारतीय प्रशासनिक सेवा) के अफसरों ने मुक्तांगन प्रकल्प पर बहुत सकारात्मक रुख अपनाया। परन्तु जूनियर लोगों ने तमाम बेफालतू की धाराओं का हवाला देकर हमारे प्रकल्प की धज्जियां उड़ाईं। मुसीबत खड़ी करने वाले अफसरों ने बेकार के मुद्दे उठाए। जब सीनियर अफसरों ने क्लर्कों को सही नियम सुझाए फिर भी उन पर कोई असर नहीं पड़ा। मिसाल के लिए मुक्तांगन की बिल्डिंग का सही किराया चुकाने के बावजूद भी पीडब्लूडी ने हमें 27 लाख रुपए की बकाया राशि का नोटिस दिया। किस नियम के अंतर्गत यह मूल्यांकन किया था? यह हमें समझ में नहीं आया। अगले कुछ दिनों मेहनत करके हमने उस नोटिस को रद्द कराया। इसके लिए पु. ल. देशपांडे को वरिष्ठ राजनैतिक हस्ती श्री शरद पवार को एक पत्र लिखना पड़ा। जब श्री पवार ने नोटिस को रद्द करने का आदेश दिया तो उनके चेहरे पर एक मुस्कान थी। हम लोगों को चैन और राहत की सांस मिली। उस क्षण हम लोग खुश थे! पर व्यवस्था पर इससे कुछ फर्क नहीं पड़ा और वो शरारत भरी निगाहों से मुझे लगातार देखती रही।

सुनंदा ने मुक्तांगन में एक अच्छी प्रणाली शुरू की। आनंद वहां अक्सर आते और वहां की उर्वर भूमि में नए-नए विचार बो कर जाते। कुछ नई पहलें सुनंदा और मरीजों के बीच संवाद से उभर कर आतीं। काम शुरू होने के बाद, सुनंदा के सृजनात्मक प्रयासों से मैं बहुत प्रभावित हुआ। मैं सुनंदा को कॉलेज के दिनों से जानता था। इस मायने में हम एक-दूसरे को बड़े लम्बे अर्से से जानते थे। पर मुझे यह नहीं पता था कि उसके दिमाग में इतने नवाचार भरे होंगे। यह सब कहां छिपा था? मुझे उसके समर्पण का भी कोई अंदाज नहीं था। मानसिक चिकित्सालय और हमाल पंचायत के दवाखाने में काम करते समय मैंने उसके कुछ अच्छे पक्ष देखे। वो एक अत्यंत मानवीय

डॉक्टर थी। परन्तु मुक्तांगन में मेरे सामने एक नई सुनंदा उभर कर आई। वो एक अच्छी डॉक्टर के साथ-साथ एक कुशल प्रशासक भी थी। मानसिक चिकित्सालय को उसने एक छोटे अफसर के रूप में काम कर, अपनी कुशलता से बेहतर बनाया था। वहां पर वो, एक सुचारू, चलती व्यवस्था में अपना योगदान दे रही थी। पर मुक्तांगन में उसने बिल्कुल नए सिरे से काम शुरू किया। मुक्तांगन को अलग ढंग से गढ़ा। अपने पिछले अनुभवों - अन्य अस्पतालों, विशेष बच्चों के स्कूलों और वृद्धाश्रमों के अनुभवों के कारण ही सुनंदा मुक्तांगन की आवश्यकताओं को पूरा कर पाई थी।

मुझे सुनंदा की कुशलताओं की लम्बी सूची पर आश्चर्य होता। एक ओर वो व्यवस्थित और संगठित थी, दूसरी ओर वो मरीजों के साथ बहुत शांत और लचीली भी थी। वो मरीजों के रिश्तेदारों को स्वीकार करती और उनके लाचार बच्चों, पालकों और पत्नियों के लिए नियम-कानून ताक पर रख देती। प्रशासनिक कार्यों में उसे कोई रुचि नहीं थी, नहीं तो सीनियर सायकियैट्रिस्ट की हैसियत से वो बहुत आगे जाती। वो आसानी से अस्पताल की सुपरिंटेंडेंट बन जाती। उसे अपनी डिग्री और वरिष्ठता का कोई अभिमान न था। उसका विश्वास सीधे मरीजों से बातचीत करने में था। उसका सिद्धांत: 'मरीजों से सीखो' आज भी हमारा आदर्श है। उसी के कारण हम अभी तक न तो थके हैं और न ही उदास हुए हैं।

वो अक्सर एडिक्ट्स से यह प्रश्न पूछती थी: "शराब छोड़ने में तुम्हें क्या मदद चाहिए?" मरीजों को आदर और सम्मान दिए जाने की आदत नहीं होती है। उल्टे उन्हें डांटा और दुत्कारा जाता है। "अरे वो मंदू (शराबी)! उसे क्या आता है?" "उसने अपने परिवार की नाक कटवा दी। शराब के कारण बीबी, बच्चों के साथ घर छोड़कर चली गई। वो निकम्मा, किसी काम का नहीं है!" एडिक्ट्स को अक्सर ऐसे ताने सुनने पड़ते थे पर अपनी हरकतों के कारण वे उनका विरोध भी नहीं कर सकते थे। इन एडिक्ट्स को सुनंदा का व्यवहार बहुत पसंद आता था। वह हमसे कहती, "हो सकता है, उन्हें सच का पता न हो। पर कम-से-कम, हम उनकी बातें तो सुनें। अगर उन्हें सब उत्तर पता होते तो वो इस समस्या में फंसते ही क्यों? हमें एडिक्ट्स से जरूर बातें करनी चाहिए।" सुनंदा को लगता था - मरीज की राय से ही इलाज की शुरुआत होनी चाहिए। मरीजों को यह रवैया बहुत पसंद आता था। सुनंदा सबसे कठिन और गए-गुजरे मरीजों (जिनको दुनिया ने नकार दिया था) पर भी यकीन करती थी। विश्वास के बल पर उसने मरीजों का आत्मविश्वास जीता था। उसका सीधा-सरल तर्क था, "विश्वास करो, तभी विश्वास मिलेगा।"

मुझे एक केस याद है। एक मरीज (यहां उसे काल्पनिक नाम संदीप चित्रे कह कर बुलाएंगे) बैंगलोर के एक धनी एक्सपोर्टर का बेटा था। पिता की कई फैक्ट्रियां थीं। संदीप उनमें पार्टनर था और कम्पनियों के निर्देशकों के बोर्ड में भी था। संदीप को ड्रग्स और शराब की लत थी। उसे भारत और विदेश के कई व्यसन मुक्ति केंद्रों में ले जाया गया था। पर उसमें कोई सुधार नहीं हुआ। जब कहीं कुछ नहीं बना, तो उसे मुक्तांगन लाया गया। मुक्तांगन उसके स्तर से बहुत नीचे था - न वहां विशेष कमरे थे, और न ही बढ़िया सुविधाएं थीं। भोजन एकदम सादा था। संदीप के लिए इस प्रकार की बुनियादी सुविधाओं में निर्वाह कर पाना बहुत मुश्किल था। उसके बाल बढ़े थे, कपड़े गंदे थे - किसी विदेशी हिप्पी जैसे।

तमाम अन्य स्थानों पर इलाज के बाद संदीप को, सुनंदा से मिलने लाया गया। संदीप के पिता, निचले स्तर से, संघर्ष कर, बड़े उद्योगपति बने थे। उनकी आवाज में दम था। वो सुनंदा को बताने लगे, “मैं आपको इस लड़के के बारे में बताता हूं। आप उसे फलां-फलां बातें बताएं...।” सुनंदा ने उन्हें बीच में टोका और कहा, “जो भी जरूरी होगा वो मैं उसे बताऊंगी। मैं जब आपसे कुछ पूछूं आप तभी उत्तर दें?” इससे संदीप के पिता को 1000-वोल्ट का झटका लगा। उन्होंने तुरन्त बोलना बंद किया। संदीप को यह बहुत अच्छा लगा - किसी ने तो उसके पिता की बोलती बंद की! उसमें सुनंदा के प्रति गहरा विश्वास जागा। यह यकीन हमेशा कायम रहा। जल्द ही संदीप, मुक्तांगन परिवार का सदस्य बन गया। एक धनी परिवार से आने के बावजूद वो, मरीजों के लिए निर्धारित सभी काम करने लगा। वो सुनंदा का प्रिय मरीज भी बना।

इलाज खत्म होने के बाद संदीप बैंगलोर वापस गया। पर वहां उसकी अपने हिंसक पिता के साथ नहीं बनी। उनमें बार-बार लड़ाई होने लगी। संदीप ने सुनंदा से सम्पर्क करके अपनी सारी आपबीती बताई। उसने कहा, “मैडम, यहां ज़िंदगी बहुत मुश्किल है। क्या मैं आपके यहां वापस आ सकता हूँ? वहां मैं कुछ भी काम करूंगा - चाहें वो काम सफाई का क्यों न हो। यहां मां-बाप से मेरी, बिल्कुल नहीं बनती है। अगर यहां से नहीं निकला तो मैं फिर से, ड्रग्स शुरू कर दूंगा।” सुनंदा ने उसे तुरन्त मुक्तांगन बुलाया। फिर संदीप ने मुक्तांगन में काम करना शुरू किया।

एक बार जब मैं मुक्तांगन गया तो मैंने संदीप के एक हाथ में बाल्टी और दूसरे हाथ में झाड़ू देखी। उसके लम्बे बाल हेयर-बैंड से पीछे की ओर बंधे थे। सुनंदा के सामने खड़े होकर उसने सुनंदा से पूछा, “मैडम मैं कैसा लग रहा हूँ?” सुनंदा ने अपनी प्रशंसा जाहिर की। संदीप स्वेच्छा से सफाई अभियान में शामिल हुआ। उसने शौचालयों और ट्रेनेज लाईंस की सफाई के लिए कुछ और लोगों को भी संगठित किया। मानसिक

अस्पताल में खराब क्वालिटी के निर्माण के कारण, इस प्रकार के सफाई मुहिम की बेहद जरूरत थी। संदीप की 'मेनटेनेंस टीम' ने इस काम को अपने हाथों में लिया। सिर पर रुमाल बांधे और हाथों में बाल्टियां और झाड़ू लिए इस टीम ने बंद ड्रेन्स को साफ किया। शौचालय साफ करना, संदीप के लिए अपनी स्थिति से समझौता करने का एक तरीका था। उसने एक बार मुझसे कहा, "जब कभी मेरा दिमाग विचलित होता है, तब मैं कुछ शौचालय साफ करता हूं। उसके बाद मैं मेरा मन शांत हो जाता है।"

संदीप एक अच्छा लेखक था। वो कविताएं भी लिखता था। उसकी अंग्रेजी बहुत अच्छी थी। जल्द ही पुणे के अखबारों में उसकी कविताएं छपने लगीं। वो कम बोलता था परन्तु उसकी परिपक्वता जाहिर थी। जब मैं उसकी 'मेनटेनेंस टीम' को मुक्तांगन के एक सिरे से दूसरी ओर जाते देखता तो मुझे लगता कि देश के राष्ट्रपिता - महात्मा गांधी (जिन्होंने सार्वजनिक स्थलों की सफाई के लिए मुहिम छेड़ा था) ने जरूर प्रशंसा से संदीप की पीठ ठोकी होती।

संदीप के पिता इससे काफी नाखुश थे। इन छोटे कामों से मिली खुशी का उन्हें कोई अंदाज नहीं था। जब उन्हें मालूम पड़ा कि संदीप शौचालय साफ कर रहा था तो उन्होंने तुरन्त संदीप को वापस लाने के लिए कम्पनी के मैनेजर को मुक्तांगन भेजा। वापस न आने पर उन्होंने संदीप को कम्पनी के निर्देशक पद और मिलकियत के हकों से वंचित करने की धमकी दी। पर संदीप इससे विचलित नहीं हुआ। उसने पिता की कम्पनी में अपने सारे अधिकारों को तिलांजली दे दी। उसने मैनेजर द्वारा लाए सभी कागजों पर हस्ताक्षर किए और कहा, "अब मैं खुद अपने पैरों पर खड़ा हूं।" संदीप जल्द ही स्वस्थ्य हुआ। उसने शादी की और उसका बेटा हुआ। काफी बाद में उसकी अपने माता-पिता के साथ सुलह भी हुई।

मुझे एक और घटना याद है, जहां संदीप के पिता जैसे ही, एक मां ने मुक्तांगन में आकर एक अच्छा सबक सीखा। वो महिला संसद सदस्य थीं और उन्होंने अपने लड़के के बारे में सुनंदा से सम्पर्क किया था। पुणे के कलेक्टर के साथ वो हमसे मिलने आयीं। महिला स्थूलकाय थी और उनका सिर साड़ी के पल्लू से ढंका था। वो काफी दमदार लग रही थीं। उनके आते ही मुक्तांगन का पूरा स्टॉफ सर्तक हो गया। वे दौड़ते हुए एमपी साहिबा के आगमन के बारे में हमें बताने आए। सुनंदा ने महिला को अन्य लोगों जैसे ही बैठने और बारी का इंतजार करने को कहा। बाकी मरीजों को देखने के बाद सुनंदा ने महिला और कलेक्टर से बात की। संसद सदस्य ने अपने लड़के के बारे में बताना शुरू किया। उन्होंने वही बात, कई बार दोहराई। सुनंदा ने उन्हें बीच में टोककर कहा, "मैंने आपकी बात सुन ली है। क्या आपको कुछ नया जोड़ना है?"

महिला को इससे धक्का लगा। उन्होंने कलेक्टर की ओर मुड़ते हुए कहा, “हम राजनेता हैं। हमें बोलना अच्छा लगता है और हमें कोई भी इस तरह नहीं रोकता है। यह पहली इंसान हैं जिन्होंने मुझे बोलने से रोका है।”

उनका बेटा पूरी तरह एडिक्ट नहीं था। महिला के राजनैतिक विरोधी उसके बेटे को अक्सर शराब पिलाकर धुत्त करते थे। नशे में लड़का कुछ गलत काम करता - वो अपने घर के सामने तमाशा खड़ा करता था। ऐसी स्थितियों में वो महिला, सुनंदा की सहायता मांगती थीं। ऐसी कुछ वारदातों के बाद सुनंदा ने महिला से बेटे को कहीं और भेजने को कहा। इससे महिला को बहुत गुस्सा आया। “वो कहीं और कैसे जा सकता है। वो मेरा राजनैतिक वारिस है। हमें यहीं पर साथ रहना होगा। मैं यहीं से अपना राजनैतिक कार्य करूंगी।” सुनंदा ने उनसे पूछा, “आपको खुद के राजनैतिक करियर के लिए एक वारिस चाहिए, या अपना बेटा चाहिए?” इससे बेटे की जिंदगी सुधरी। बेटे ने अपनी आदतें सुधारीं और खुद के पैरों पर खड़ा होना सीखा। अब वो मुम्बई में अपना छोटा धंधा चलाता है। उसे जो विरासत में मिलता, उसकी तुलना में उसकी हस्ती बहुत कम है। परन्तु अब वो खुश है और दारू नहीं पीता है। उसकी शादी हुई और बच्चे हैं। अब उसकी मां उसके मिलने आती है और नाती-पोतों को भी बहुत लाड़-प्यार करती है। व्यस्त राजनैतिक जीवन के बावजूद वो नाती-पोतों के लिए समय निकालती हैं। क्या पता, शायद उन्हें नाती-पोतों में उन्हें अपना भावी राजनैतिक वारिस मिले?

सुनंदा को मरीजों का साथ अच्छा लगता, परन्तु उनके चिड़चिड़े माता-पिता को झेलना मुश्किल होता था। उसे मरीजों से बहुत प्यार था। उसमें कोई शक्ति थी जिससे शोर मचाने वाले, शरारती और बदमाश मरीज भी तुरन्त शांत हो जाते थे। नाना पेट क्लीनिक में, उसका वास्ता अक्सर ऐसे मुश्किल मरीजों से पड़ता था। एक बार बाहर सड़क पर बहुत हंगामा मच रहा था। पांच लोग एक मरीज को पकड़कर जबरदस्ती सुनंदा के क्लीनिक में ला रहे थे। मरीज नियंत्रण से बाहर था। जब मरीज को क्लीनिक में लाया गया तो सुनंदा ने कहा, “आप लोग जायें। मैं मरीज से अकेले बात करूंगी।” कोई भी जाने को तैयार नहीं हुआ। उन्हें डर था कि नियंत्रण से बाहर मरीज, कुछ गलत न कर बैठे। उन लोगों के जाने के कुछ देर बाद सुनंदा ने मरीज से अकेले बातचीत की। पांच मिनट बाद सुनंदा ने पांचों आदमियों को अंदर बुलाया। “अब आप इन्हें ले जा सकते हैं। वो मुक्तांगन में भर्ती होने को राजी है। उसे कल लेकर आएँ।” यह सुन उन लोगों को बहुत आश्चर्य हुआ।

क्या सुनंदा में कोई रहस्यमयी शक्ति थी? मुझे नहीं लगता। गुस्सैल और बुरे व्यवहार करने वाले मरीजों के प्रति उसका रवैया बहुत ही अच्छा और मानवीय था। उसका दिमाग पूर्वाग्रहों और पक्षपात की भावना से मुक्त था। वो लोगों की जन्मजात अच्छाई में विश्वास रखती थी। उसे शराबियों, मानसिक रोगियों और बिल्कुल पागल लोगों में भी कुछ अच्छाई नजर आती थी। सुनंदा की आंखों में सहानुभूति छलकती थी और वो मरीजों का दिल जीतती थी। वो नैतिकता के आधार पर कभी भी मरीजों का मूल्यांकन नहीं करती थी। लोगों का अतीत कैसा था? उन्होंने कितने गलत काम किए थे? कितने लोगों को तकलीफ दी थी? इन मापदंडों पर भी वो मरीजों को नहीं आंकती थी। मरीजों के प्रति उसे अथाह प्रेम था। “अच्छा व्यवहार करो”, का वो कभी उपदेश भी नहीं देती थी। उसने कभी मरीजों से यह नहीं कहा, “अब दारू छोड़ दो।” उसे लगता कि यह बातें मरीजों के दिमाग में रिश्तेदारों ने ठूस-ठूस कर पहले ही भरी होंगी। मरीजों को बहुत सलाह देना उसे निरर्थक लगता था।

मुक्तांगन में दाखिल हुआ एक नया मरीज बहुत परेशान था। उसकी मां गुरुवार को मिलने आने वाली थी, पर वो नहीं आयीं। वो गुस्से में इधर-उधर सामान फेंकने लगा। “मैं अवचट मैडम को देख लूंगा! मैं उन्हें यहां से निकलवा दूंगा। देखता हूं कि मुझे कौन रोकता है!”

एक ओर मरीज हंगामा खड़ा कर रहा था, तभी दूसरी ओर से सुनंदा की कार मुक्तांगन पहुंची। मुक्तांगन जाने से पहले सुनंदा बाग में गिरे हुए फूलों को इकट्ठा कर अपने साथ ले जाती थी। कार से उतरते ही, गुस्सैल मरीज सुनंदा के पास पहुंचा। सुनंदा उसकी ओर मुस्कुराई और उसने उसे वो फूल भेंट किए। उससे मरीज का गुस्सा एकदम रफूचक्कर हो गया। उसने कुछ बाद में लोगों से कहा, “क्या हुआ अगर मेरी मां नहीं आई। मुझे यहां एक दूसरी मां मिल गई है।” इस घटना के बाद से उस मरीज में भारी परिवर्तन आया। उसने सभी उपचारों में खुशी से भाग लिया। जब उसके रिश्तेदार उससे मुक्तांगन में मिलने आए तो उन्हें लगा जैसे वो बिल्कुल अलग इंसान से मिल रहे हों।

मुक्तांगन में ऐसे चमत्कार हमेशा होते रहते थे। मैं कहता था, “यहां रोजाना ही चमत्कार होते हैं।” जब लोग सवाल पूछते, “अगर ऐसी बातें रोज होती हैं, तो फिर वो चमत्कार कैसे हो सकते हैं? रोज होने से उनकी नवीनता खत्म हो जाएगी।” इस पर मेरा उत्तर था, “मरीज के परिवार के लिए यह वाकई में अचम्भा था, क्योंकि उस प्रकार के परिवर्तन की उन्हें कोई उम्मीद नहीं थी।”

जब सम्भव होता तब हम, एल्कोहलिक्स एनॉनिमस (एए) की बैठकों में शामिल होते। एए इस प्रकार की मीटिंग्स, पूरी दुनिया में आयोजित करता है। एए के सदस्य अक्सर कहते, “हम इन मीटिंग्स में जान डालते हैं।” पहले मुझे उनकी बात कुछ समझ में नहीं आई, पर बाद में मुझे ‘जान डालने’ का मतलब समझ में आया। एक मिथक के अनुसार, बॉब और बिल दो अमरीकी शराबी थे। उनमें से एक, हाल में दारू के चक्र से मुक्त हुआ था। वो आपस में एक-दूसरे को अपने अनुभव सुना रहे थे। बातचीत जारी रही और शाम ढल गई - बिना दारू की एक बूंद पिए। बहुत असें बाद उन्होंने बिना दारू पिए समय बिताया था। अब वे हर शाम इसी प्रकार मिलते, और अपना समय बिताते। इस प्रकार एल्कोहलिक्स एनॉनिमस का जन्म हुआ।

एए के सदस्यों के पास कुछ प्रेरक कहावतें हैं। उनमें से एक मुझे बेहद पसंद है - “एक-एक दिन करके जियो।” यह शराब और ड्रग्स की दुनिया के लिए बहुत उपयुक्त है। इससे तमाम एडिक्ट्स को, अपनी दुखदाई जिंदगी झेल पाने में मदद मिली है। पूरी तरह उम्मीद खो चुके लोगों की जिंदगी में, उससे एक रोशनी की एक किरण आई है। “एक-एक दिन करके जियो,” का संदेश सरल है। पिछला कल अब बीत चुका है, और अब उसे बदला नहीं जा सकता। आने वाला कल हमारे हाथ में नहीं है। हमारे पास जो बचा है वो सिर्फ “आज” है, यानि वर्तमान में, अभी का पल है! “एक-एक दिन करके जियो,” के संदेश को मुक्तांगन ने पूरी तरह आत्मसात किया है। हम अब भी “सिर्फ आज का दिन,” संदेश का खूब उपयोग करते हैं।

जब मरीज अपने बीते अतीत के बारे में सोचते हैं तो उन्हें दुख और तकलीफ होती है। दुखी दिमाग खोई सम्भावनाओं और असफलताओं से हमेशा विचलित होता है। ऐसा दिमाग अक्सर ड्रग्स और शराब की ओर आकर्षित होता है। इसलिए यह बेहद जरूरी है कि एडिक्ट्स अपने गुजरे दिनों को भूलें। उनके दिमाग में अतीत के बोझ के साथ-साथ, भविष्य की अनिश्चितता का बोझ भी होता है। मरीज खुद से पूछता है, “क्या मैं बाकी जिंदगी शराब के बगैर जी सकूंगा?” पहले की गलतियों का उसके भविष्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा? इस बारे में वो सोचता है। क्या वो अपना कर्ज उतार पाएगा? क्या उसकी पत्नी दुबारा उसके साथ रहने आएगी? कोर्ट-कचहरी में उसके खिलाफ चल रहे केसों का क्या होगा? ऐसे प्रश्न, परेशान दिमाग को, अपने नियंत्रण में लेते हैं और शराब फिर उनसे निजात पाने का एकमात्र रास्ता नजर आती है।

“एक-एक दिन करके जियो,” वाले वाक्य जैसी ही, संस्कृत में भी एक कहावत है, “सहाना भवतु” (सबका भला हो, सबका अच्छा हो)। यह कहावत भी भारतीय संस्कृति का अभिन्न हिस्सा है। जिन्दगी जैसे आए उसे जियो, हर क्षण, हर पल को

जीना, उसका आलिंगन करना बहुत समझदारी और विवेक का काम है। यह सात्वता देने वाला, एक दोस्ताना संदेश है। ज्यादा फिक्र मत करो और वर्तमान में अभी के पल पर केंद्रित रहो।

सुनंदा और मैं दोनों ही “एक-एक दिन करके जिओ,” वाले संदेश से बहुत प्रभावित और प्रेरित थे। मैंने मुक्तांगन के लिए जो कविताएं और गाने लिखे थे उनमें इस संदेश को बहुत अहम रूप से पिरोया था - मरीज के जीवन में, वर्तमान दिन सबसे महत्वपूर्ण होता है।

हमारी बेटी यशोदा को मिर्गी के दौर आते थे। कभी दौरे रोज आते, कभी कुछ दिनों बाद आते। उसने कहा, “दौरे कब आएंगे उस पर तो मेरा कोई नियंत्रण नहीं है। दौरों की तकलीफ तो सहनी ही पड़ेगी। परन्तु दो दौरों के बीच का समय तो मेरा है। मैं उसका सदुपयोग कर सकती हूँ।” यशोदा उस समय बहुत छोटी थी। उसकी समझ, उसकी आयु से कहीं अधिक परिपक्व थी। उसने जीवन के मूल्य को समझा था। उसी प्रकार कैंसर से पीड़ित होने के बावजूद सुनंदा ने भी अपने जीवन का हर दिन भरपूर जिया। उसने कहा, “मैं एक-एक दिन करके जिओ, वाले संदेश को वाकई में जी रही हूँ।” डॉक्टर ने उसे सलाह दी, “तुम काम के बोझ को कम क्यों नहीं करती? छुट्टी लेकर विदेश, सैर पर जाओ। या फिर मुक्तांगन को बंद कर दो।” पर सुनंदा ने कहा, “मैं लम्बे असें तक जीवित रहूंगी और बहुत मेहनत से काम करूंगी।” उसने अपने सपनों को साकार करने के लिए काम किया और वो सफल भी हुई। वो मुझसे कहती थी, “यह क्षण हमारा है और हम उसका जी-भरके आनंद ले सकते हैं। हम काम करें और उसका मजा भी लें।”

“एक-एक दिन करके जिओ,” वाला संदेश संस्कृत के शब्द ‘स्थितप्रज्ञ’ जैसा ही है। पवित्र पुस्तक गीता के अनुसार इसका मतलब है - शांत और दृढ़ रहना साथ-साथ सुख-दुख दोनों स्थितियों में, अविचलित रहना। इससे मुझे ‘गीताई’ (भगवत गीता के मराठी अनुवाद) की कुछ पंक्तियां याद आती हैं। ‘गीताई’ को गांधीजी के अनुयायी विनोबा भावे ने, मराठी में अनुवाद किया था। ‘महाभारत’ में अर्जुन, भगवान कृष्ण से जीवन जीने का सबक जानना चाहता है। वो आदर्श जीवन का सूत्र जानने को इच्छुक है। भगवान कृष्ण ने अर्जुन को जीवन की दुविधाओं में अविचलित रहने का सबक सिखाया। मुझे लगता है कि “एक-एक दिन करके जिओ,” वाला संदेश भी वही सिखाता है।

मुझे एल्कोहलिक्स एनॉनिमस के सभी संदेश पसंद थे। इन आदर्श वाक्यों को अगर एडिक्ट अपने जीवन में अपनाता तो उससे उसे दारू छोड़ने में जरूर मदद मिलती।

मेरी सबसे प्रिय कहावत चीनी दार्शनिक कनफ्यूशियस की यह पंक्ति है, “यह वक्त भी टल जाएगा,” यह संदेश एए की बैठकों में बार-बार दोहराया जाता था। उन्होंने इसका हिन्दी में अनुवाद किया, परन्तु अंग्रेजी वाक्य (This too shall pass) हिन्दी से अधिक सटीक और सुनने में बेहतर था। उसे सुनकर मरीजों को सांत्वना और सहारा मिलता था। कष्ट में जी रहे लोगों को वो दुष्काल अब, अस्थाई लगने लगता था। बुरा वक्त भी बीत जाएगा, इससे एक नई उम्मीद जगती थी। इससे एक ओर दुखियों को कुछ राहत मिलती थी पर साथ में विलासिता का जीवन जीने वालों के लिए यह एक चेतावनी भी थी। स्थाईत्व में विश्वास करने वालों की मान्यताएं इससे ध्वस्त होती थीं।

मुझे एए का HALT प्रोग्राम भी पसंद है। HALT के मतलब था, H (हंगर यानि भूख), A (एंगर यानि गुस्सा), L (लोनलीनेस यानि अकेलापन) और T (टायर्डनेस यानि थकान)। यह वो चार कारण थे, जिनकी वजह से लोगों को ड्रग्स अथवा शराब की ओर बारबार जाते थे। मैंने अपनी कविताओं में इन शब्दों का भरपूर उपयोग किया। हम एए के अनुभवों का बहुत आदर करते थे। एए की सूची में हमने अपने अनुभवों से, कई अन्य ‘खतरे के संकेत’ भी जोड़े। हरेक एडिक्ट को उन्हें जरूर जानना चाहिए। हमारे अनुभव के अनुसार, जो एडिक्ट दारू या ड्रग्स छोड़ रहा हो, उसके पास ज्यादा पैसे नहीं होने चाहिए। यहां मुझे वो मरीज याद है – जो उपचार के बाद अपने घर लौटा। वो बेरोजगार था, और घर पर बिल्कुल अकेला था। अकेले व्यक्ति के दिमाग में खुराफात आना स्वाभाविक था। ऐसे ‘बार्डरलाइन’ लोगों के लिए मुक्तांगन ने एक डे-सेंटर शुरू किया। वहां वे छोटे-मोटे काम करके, अपना दिन सुचारू रूप से गुजार कर दारू से बच सकते थे।

एक अन्य उदाहरण से यह ज्यादा स्पष्ट होगा। एक मरीज को उसके पिता मुक्तांगन के डे-केयर सेंटर में अपने स्कूटर पर छोड़ने आए। उसे अंदर न छोड़कर उन्होंने उसे मेन गेट पर ही छोड़ दिया। उन्होंने मुक्तांगन के बकाया बिल चुकाने के लिए उसे 180 रुपए भी दिए। उस मरीज ने हमें पूरी तरह ठीक होने के बाद यह घटना सुनाई। वो जेब में 180 रुपए लिए मेन गेट पर काफी देर खड़ा रहा। “मैं बिल्कुल अकेला था, और मैं उन पैसों को दारू पर खर्च कर सकता था। मुझे क्या हो रहा था समझ में नहीं आया। क्या मैं दारू की तरफ बढ़ रहा था? तब मुझे तेज पसीना आने लगा,” मरीज ने अपना दुखड़ा सुनाया। तभी मुक्तांगन का एक मित्र उधर से गुजरा और वो तुरन्त मरीज की दुविधा को भांप गया। वो उसे चाय की दुकान पर ले गया, जहां दोनों ने चाय पी। उसके बाद मरीज को सुध आई और वो मुक्तांगन लौट कर आया। जब लोगों को उस मरीज की शराब की तलब पर विजय का पता चला तो उन्होंने उसे

बधाई दी। वैसे बाहर से देखें, तो उसने कोई महान कार्य नहीं किया था। परन्तु मरीज की कमजोर स्थिति में, वो कृत्य उसके लिए एक महान व्यक्तिगत जीत थी। अगर वो उस दिन दारू पीता, तो वो फिर से उसी दुश्चक्र में फंस जाता, जिसे उसने बहुत मुश्किलों के बाद छोड़ा था। उसके बाद शायद वो मुक्तांगन वापस भी नहीं आता। यह भी सम्भव है कि वो दारू पी-पीकर मर जाता। पर उसने उसका बिल्कुल उल्टा किया। इसलिए तो यह चमत्कार था।

एक और घटना मरीज के पास पैसे होने की मानसिकता को बयां करती है। मनोहर, मानिसक अस्पताल में सुनंदा का सहकर्मी था। उसे दारू की प्रचंड लत थी। बाद में उसने वो लत छोड़ी और एए का एक सक्रिय कार्यकर्ता बना। उसकी दारू की लत धीरे-धीरे बंद-से-बंदतर होती गई। वो दिन-रात पीता रहता। बेटी के जन्मदिन पर, पत्नी ने उससे दारू नहीं पीने की विनती की। उस दिन वो लेट सोकर उठा। पत्नी ने जन्मदिन के लिए कुछ चीजें लाने की सूची और पैसे देकर उसे बाजार भेजा। जन्मदिन की पार्टी में बेटी के कई मित्र आने वाले थे। मनोहर, बंड गार्डन तक तो सही-सलामत रहा पर वहां पहुंचते ही उसके मन में अनेकों विचार आने लगे। क्यों न थोड़ी सी दारू पी लूं? फिर पत्नी को दिए वायदे का क्या होगा? स्टेशन तक साइकिल पर पहुंचते हुए उसने खुद से तर्क किया, “मैं आज दारू पी सकता हूं क्योंकि दारू न पीने का मेरा वादा कल का है। और कल आने में अभी कुछ घंटे बाकी हैं।” इससे पहले कि वो कुछ और करता उसने खुद को सम्राट बार के अंदर पाया। वो अगले दिन सुबह ही घर वापस पहुंचा। मनोहर ने हमें बाद में बताया, “उस शाम को जन्मदिन पार्टी का क्या हुआ? पत्नी से यह प्रश्न पूछने की हिम्मत, मैं आज तक नहीं जुटा पाया हूं।”

दारू की भीषण ललक को आम लोग, आसानी से समझ नहीं सकते। दारू के मुक्त भोगी ही, उसे जान सकते हैं। यह ललक दबे पांव व्यक्ति के दिमाग में प्रवेश कर, फिर उसपर पूरी तरह अपनी गिरफ्त जमा लेती है। एक दिन मेरा मित्र प्रसाद हमारे घर आया। पहले उसे दारू की लत थी परन्तु अब वो उससे मुक्त हो चुका था। उसने बाद में मुक्तांगन में काम किया। हम दोनों छत पर खड़े होकर बादलों से भरे आसमान को निहार रहे थे। कहीं दूर बारिश हुई थी क्योंकि मिट्टी की सोंधी महक हमें बहुत अच्छी लग रही थी। तेज हवा का आनंद लेते हुए मैंने कहा, “कितना अच्छा मौसम है! बहुत प्यारी तेज हवा चल रही है।” परन्तु प्रसाद की प्रतिक्रिया बिल्कुल अलग थी, “बाबा, यह मौसम मेरे दिमाग में एक तूफान पैदा कर रहा है। मेरा दिमाग इधर-उधर डोल रहा है क्योंकि ऐसी ही मौसम में हम लोग शराब का लुत्फ उठाते थे।”

यह सुनकर मुझे आश्चर्य भी हुआ, और दुख भी। जो चीज हमारे लिए बिल्कुल प्राकृतिक और सामान्य होती है, वो अन्य लोगों के लिए खतरनाक भी हो सकती है। मेरा एक मित्र ट्रेन से नासिक जा रहा था। वो पूरे सफर भर सामान्य रहा, परन्तु इगतपुरी स्टेशन पर ट्रेन रुकते ही वो विचलित होने लगा। क्योंकि उसने पहले इगतपुरी में बहुत बीयर पी थी। उसका मन पुरानी बातों को नकारने लगा। उसका शरीर उसे गलत दिशा में खींचने लगा। वो अपनी सीट को पकड़कर बैठा रहा, बिल्कुल हिला-डुला नहीं। तभी गाड़ी आगे बढ़ी, और मित्र बच गया। उसका पड़ोसी अपने सह-मुसाफिर के दिमाग में हो रही कशमकश से बिल्कुल बेखबर था।

इन सभी उदाहरणों से हमें कुछ सीखना चाहिए। मुक्तांगन में सलाहकार जैसे काम करते हुए हमें पहली बार, दारू की प्रबल ललक समझ में आयी। उससे पहले हम समझ नहीं पर रहे थे, कि जो चीज मरीज की जिंदगी बरबाद करती है, उससे वो इतना चिपका क्यों रहता है। हम और मरीजों के रिश्तदार यह समझ पाने में असमर्थ थे - क्यों कोई शराबी, हजारों कसमें खाने के बाद फिर से दारू पीता है? तब हम नहीं जानते थे कि यह प्रबल ललक वास्तव में एक बीमारी थी और वो इलाज से ही ठीक हो सकती थी। दारू की प्रबल ललक को प्रत्यक्ष देखने के बाद ही, हमारा नजरिया बदला। दारू दुबारा शुरू करने पर जब मरीजों को मुक्तांगन में दुबारा भर्ती किया जाता था तब हमें गुस्सा आता और हम थकान महसूस करते। पर अब स्थिति बिल्कुल बदल गई है। हम दारू के चक्र में फंसे मरीजों को सहानभूति से देखते हैं। मरीजों के रिश्तेदारों को दारू की तलब और उसका जनून समझा पाना कठिन था। निराश और टूटे परिवार वालों को दारू की लत वाले के व्यवहार को समझ पाना कठिन था। वो उसे बीमारी नहीं मानते थे। “वो बीमार कहां है? वो अच्छा भला है। अच्छी तरह खाता-पीता है, बीबी को पीटता है, और मां-बाप को गालियां देता है। वो बिल्कुल ठीक है। बीमार तो हम लोग हैं!” मां-बाप की अक्सर यह प्रतिक्रिया होती है।

यह सच है कि ड्रग्स अथवा दारू की लत वाले के परिवार को बहुत कष्ट होता है। परिवारजनों को बहुत सलाह-मशविरे की जरूरत होती है। इसीलिए हमने मुक्तांगन में फैमिली-काउंसिलिंग शुरू की। परिवार को मरीज के इलाज में, पूरी तरह शामिल किया जाता है। एडिक्शन न केवल मरीज को बरबाद करता है वो पूरे परिवार को तबाह करता है।

हमने एए के HALT प्रोग्राम को आगे विकसित किया। उदाहरण के लिए हमने मरीजों को सचेतन रूप से, पैसों से दूर रखने की बात को दोहराया। पैसे पास होने से, मरीज में दारू पीने की इच्छा तेज होती है। मुझे एक मरीज श्री शिरिष कोलगांवकर

की याद है। वो सामान्य कद के थे, उनका व्यक्तित्व अच्छा था और वो सुनहरे फ्रेम का चश्मा पहनते थे। जब वो मुक्तांगन आए तो पहले मुझे लगा जैसे वो अपने बेटे को दाखिल करना आए हों। पर उन्हें ही मरीज पाकर मुझे काफी आश्चर्य हुआ। वो एक ऊंचे अफसर थे और बहुत से लोग उनके नीचे काम करते थे। उनका केस बहुत रोचक था। शिरिष की पत्नी हरेक 'रीलैप्स' के बाद उन्हें मुक्तांगन में लाती थीं। कुछ समय बाद वो खुश, हंसमुख हो जाते और अपना सहयोग देते। परन्तु दाखिले के समय उनका चेहरा उदास और लटका हुआ होता और वो उसे दुनिया से छिपाते थे। वो काफी सौम्य व्यवहार के थे। पर बाहरी दुनिया में जाकर उन्हें क्या होता था इसका हमें कुछ अंदाज नहीं था। सुनंदा ने कोशिश की कि उनका तबादला कम्पनी के पुणे स्थित दफ्तर में हो जाए। हम उनके वरिष्ठ अधिकारियों से मिले। अधिकारी उन्हें चाहते थे इसलिए दारू छुड़वाने के लिए उन्होंने उनका तबादला पुणे कर दिया। हमने उन्हें अपने केंद्र में रखा, जहां से वो रोजाना बस द्वारा अपने दफ्तर आते-जाते। यह निर्णय इसलिए लिया गया क्योंकि स्कूटर चलाते समय उनकी पहले एक बार दुर्घटना हो चुकी थी। सुनंदा ने उनके इलाज पर कुछ पाबंदियां लगायीं। उन्हें मुक्तांगन का खजांची रोजाना दस रुपए देता। उनमें से 8 रुपए बस किराए के लिए, और बाकी पैसे चाय के लिए थे। उन्हें पैसे तभी मिलते थे जब वो दोनों ओर के बस टिकट दिखाते। इस बात पर यकीन करना मुश्किल था, कि इतनी ऊंची तनख्वाह पाने वाले व्यक्ति को, इन चिल्लर पैसों का रोजाना हिसाब देना पड़ता था। एक दिन सुनंदा ने उन्हें नकली टिकट देते हुए पकड़ लिया। शिरिष ने एक साल तक ड्रग्स का सेवन नहीं किया। उनकी पत्नी उन्हें घर वापस ले जाने के लिए आयीं। विवाह के बाद यह शिरिष के 'सोबर' रहने का यह सबसे लम्बा काल था।

मुझे एए की शांति प्रार्थना भी अच्छी लगती थी। वो किसी धर्मगुरु ने मूलरूप से अंग्रेजी में लिखी थी। सतारा के श्री देवदत्त दाभोलकर ने उसका हमारे लिए सुंदर मराठी अनुवाद किया। मैंने उसका हिंदी अनुवाद किया:

नहीं कर सकता, आज कभी जो
सहने की दे ताकत रे।
कर सकता हूं मुमकिन जो है
करने की दे ताकत रे।
कर क्या सकता, नामुमकिन क्या
कैसे सुलझे उलझन रे।

फर्क मुझे जो नहीं समझता,
कर दे मुझे सयाना रे।

इस प्रार्थना को मुक्तांगन में रोजाना गाया जाता है। प्रार्थना, मरीजों से खुद को अंदर से पक्का बनाने का अनुरोध करती है। “भगवान मुझे ताकत दो उन चीजों को स्वीकारने की, जिन्हें मैं बदल नहीं सकता हूं। जिन चीजों को मैं बदल सकता हूं उन्हें बदलने की हिम्मत दो। और इन दोनों के बीच के अंतर को समझने का विवेक दो।” प्रार्थना, मरीजों से पक्का निर्णय करने और विवेक का समुचित उपयोग करने की अपील करती है। दाभोलकर द्वारा उसमें भगवान की अवधारणा को पिरोना और उसका भारतीयकरण करने की बात मुझे विशेषकर पसंद आयी। मैंने हिन्दी भाषियों के लिए इस प्रार्थना का हिन्दी में अनुवाद किया है। आज मुक्तांगन में अनेक राज्यों के, हिन्दी भाषी मरीज भी हैं।

मुझे भगवान में विश्वास नहीं है। क्या प्रार्थना में भगवान का उल्लेख होना चाहिए या नहीं? यह प्रश्न मेरे दिमाग में आया था। पर एए ने इस समस्या का निदान कर दिया। अगर मरीज को भगवान में विश्वास न हो, तो वो अपने विश्वास के अनुसार किसी भी अन्य ‘उच्च शक्ति’ में सात्वना और धीरज खोज सकता था।

‘उच्च शक्ति’ क्या है? मैंने उसके बारे में सोचा। क्या वो सामूहिक विवेक हो सकती थी? क्यों न प्रार्थना में आस्था का समावेश हो? हो सकता है उससे बहुत मरीजों को लाभ मिले। जिंदगी का मतलब चीजों को स्वीकार करना है। सुनंदा ने अपने कैंसर को स्वीकारा। यशो ने मिर्गी के दौरों को स्वीकारा। नसीमा हुज़रू ने अपनी अपंगता को स्वीकारा और मेरे ऑरिगैमी के गुरु – साबूरो कासे ने, अपनी नेत्रहीनता को स्वीकारा। जो अनिवार्य है, जिसे बदलना सम्भव नहीं है, वो लोगों को स्वीकारना ही चाहिए। और जिसे बदलना सम्भव है उसे पूरी शक्ति के साथ बदलने की कोशिश करनी चाहिए। पर सम्भव और असम्भव में फर्क, कैसे पता चले? इसके लिए लोग, भगवान या किसी अन्य शक्ति, या सामूहिक विवेक पर विश्वास करें। एक नास्तिक की हैसियत से, मैं कहां विवेक खोजूँ? उस उत्तर को मुझे अपनी चेतना और आंतरिक आत्मा में खोजना होगा। मेरा मार्गदर्शन मेरी आंतरिक शक्ति करेगी।

सुनंदा की मृत्यु के बाद मेरी आंतरिक शक्ति ने मुझे सहारा दिया। चार दिनों तक मैं लगातार रोता रहा। फिर मुझे अंदर से एक आवाज सुनाई दी। मैं मुक्तांगन में सुनंदा की मेज के पास बैठा। मुझे लगा कि मुक्तांगन को सुचारू रूप से चलाकर ही मैं सुनंदा के प्रति अपने सच्चे प्रेम को व्यक्त कर सकता था। उस निर्णय के बाद मेरा व्याकुल मन शांत हो गया। फिर मैं तेजी से काम में लग गया।

बस लोग एक काम करें - लगातार व्यस्त रहें। तब असम्भव लगने वाली चीजें भी, सम्भव हो जाएंगी। सम्भव और असम्भव जैसे समूह भी परस्पर बदलते रहते हैं। कोई भी समूह सीलबंद बक्से में कैद नहीं होता है।

मुझे लगा जैसे अब मुझे वस्तुस्थिति समझ में आ गई हो। मैं अब कुछ भी करने को तैयार था। पर सुनंदा की मृत्यु से साथ समझौता करने के बाद एक देर रात मैंने खुद को बहुत विचलित पाया। विचारों के जाल ने मुझे आ घेरा। मैंने खुद को अकेला और अपनी प्रिय पत्नी, मित्र और जीवनसाथी से बिछुड़ा हुआ पाया। मैं अब कैसे जीवित रहूंगा? जब यह गलत विचार मेरे दिमाग को घेरने लगे तब मेरी अंदर की आवाज मेरी सहायक बनी। मैं उठकर दूसरे कमरे में गया। मैंने अपने जीवन के सबसे प्रिय साथियों, मित्रों के बारे में सोचा। मैंने खुद को समझाया कि मैं दुनिया में अकेला नहीं हूं क्योंकि मेरे साथ बहुत से प्रिय मित्र हैं। इस सकारात्मक सोच से मैं खुद को पुनर्जीवित पाया।

मैंने इस घटना को मुक्तांगन में कई साथियों को सुनाया। कभी भी नकारात्मक भावना को दबाओ नहीं, उल्टे सकारात्मक भावनाओं की मदद से उनका डटकर मुकाबला करो। नकारात्मकता को जड़ से उखाड़ फेंको क्योंकि वो तुमको कमजोर बना देगी। इसलिए नकारात्मकता पर जोरदार प्रहार करो। अगर तुम्हें दारू की तलब लगे तो उसे साथ दृढ़ता से निबटो। उससे कहो, “देखो मित्र दारू, मैंने अभी तक तुम्हारा अच्छा साथ निभाया है। इससे मेरी हालत बहुत खराब हुई है। मुझे उसकी मंहगी कीमत चुकानी पड़ी है। (आप यहां कितना नुकसान हुआ, उसका संख्यात्मक हिसाब भी दें)। अब मैं तुम्हारे पीछे नहीं भागूंगा। तुम यहां से कट लो, भाग जाओ।” यह तरीका है दारू से निजात पाने का।

मेरे मित्रों को यह कहानी पसंद आई। अब तक वो अपनी नकारात्मक भावनाओं को दबा रहे थे। इस प्रकार के सोच से, वो खुद को दोषी महसूस करने लगे थे। उन विचारों से, व्यवस्थित रूप से निबटने की मैंने उन्हें सलाह दी। उन्हें दबाओ मत, उनका सामना करो। ऐसे किस्सों, घटनाओं, मंत्रों को हम मुक्तांगन के मित्रों को लगातार सुनाते हैं।

एए के किस्से-कहानियों और अनुभवों से हमारे काम को बहुत बल मिला। परन्तु मुक्तांगन एए की नकल नहीं है। हमने उसमें अन्य लोगों के सुझावों को भी जोड़ा है। आनंद नाडकर्णी ने REBT (Rational Emotive Behavior Therapy) की शुरुआत की। यह अमरीकी मनोवैज्ञानिक एल्बर्ट इलिस के दिमाग की उपज थी। 1955 में विकसित, REBT के अनुसार, कोई व्यक्ति झगड़े के बाद बेहद गुस्सा होकर उस

कारण से दारू पीना शुरू कर सकता था। इस प्रकार वो 'झगड़ा' दारू पीने का एक वैध 'कारण' बन जाता था। झगड़े के कारण दारू की ओर जाने के परिणाम के बीच हम हैं। हम उस परिणाम को बदल सकते हैं और अपनी 'स्लिप' टाल सकते हैं।

परन्तु REBT के अनुसार, मरीज को इस सम्बंध की पूर्वकल्पना नहीं करनी चाहिए। इसकी बजाए मरीज को, स्थिति का आकलन करना चाहिए। उसे गुस्सा क्यों आया? इसका कारण खोजना चाहिए। बाद में उसे खुद को सशक्त करके एक खुशहाल और पूर्ण जिंदगी जीने की कोशिश करनी चाहिए। इस इलाज में मरीज को खुद से सुलह करने का, मार्गदर्शन दिया जाता है। मरीज खुद को रोकने के लिए, किसी अन्य व्यक्ति की मदद ले सकता है, सोच सकता है और टकराव को टाल सकता है। REBT के यह बिंदु मुझे समझ में आए और उन्हें मैंने मुक्तांगन के काम में उपयोग किया। इसी प्रकार मैंने भारत में संतों के विवेक और उनकी स्वस्थ परम्परा का भी इस्तेमाल किया।

मुक्तांगन आदान-प्रदान में विश्वास रखती है। हम अन्य विचारों, अनुभवों का स्वागत करते हैं और उनसे खुद के काम को समृद्ध करते हैं। शायद इसी कारणवश, किसी भी अन्य समूह के साथ हमारी कोई अनबन नहीं है। हमारा काम सबसे उत्तम है, ऐसा हमारा कोई दावा नहीं है। हम दारू और ड्रग्स की पुरजोर खिलाफत करते हैं। हम सबसे व्यसन-मुक्ति की अपील करते हैं। साथ-साथ हम अपने मरीजों की जिंदगी के अनुभवों को हरेक के साथ बांटने को सदैव तत्पर रहते हैं।

अध्याय - 3

जिंदगी की भट्ठी में पक्के बर्तन

इस कहानी को सुनाते समय मैंने अपनी जिंदगी के तमाम संस्मरणों का उल्लेख किया है। क्या यह प्राकृतिक नहीं है? जिंदगी के व्यक्तिगत प्रयोग और अनुभव अक्सर पेशेवर जीवन में भी काम आते हैं। इसी प्रकार पेशेवर जिंदगी, निजी जीवन पर असर डालती है। इनमें सबसे अधिक महत्व अनुभवों का होता है। किसी भी स्थिति में उन्हें उपयोग किया जा सकता है।

इस प्रकार कहानी आगे बढ़ती है। हमारा खुद का जीवन और बेटियों की जिंदगी भी पूरी तरह से मुक्तांगन के साथ बंध गई थी। हमारे सामने सैकड़ों लोगों की जीवन कहानियां खुल रही थीं। हम अनेक लोगों के सम्पर्क में आ रहे थे। ऐसे माहौल में भावनाओं से वंचित रहना असम्भव था। हम भी माहौल के साथ बदल रहे थे। जीवन के हरेक पहलू को अनुभव करने के बाद भला कौन परिवर्तन से अछूता रह सकता है? हमने जीवन के काफी भयावय पक्ष भी देखे थे। साथ में हमें जीवन के सबसे उत्कर्ष पहलू भी देखने का अवसर मिला था। टूटे घरों, बिखरे घरों को देख हमें परेशानी होती। परन्तु इन विषम परिस्थितियों में भी कुछ महिलाएं घर को बांधे रखने में सफल रहीं। हमने सदैव एक-दूसरे से सीखा, और अब भी सीख रहे हैं। कोई ऐसा दिन नहीं होता जब हमें कुछ नया सीखने को नहीं मिलता। जिन मरीजों ने उम्मीद छोड़ दी थी हमने उनसे भी सीखा। साथ में उन रिश्तेदारों से भी सीखा जिन्होंने मरीजों की बहुत खराब हालत के बाद भी हार नहीं मानी। हमने लोगों में क्रांतिकारी बदलाव आते देखा। लोग कहते हैं कि मानव प्रकृति जटिल होती है और उसमें कोई बहुत बड़ा परिवर्तन नहीं होता है। पर मुक्तांगन में कई मरीजों ने इस धारणा को गलत साबित किया। उन्होंने असम्भव लगने वाले लक्ष्य हासिल किए और हमें आश्चर्य में डाला। उनमें एक कहानी दत्ता श्रीखंडे की है, जो अपने जीवन में पूर्ण परिवर्तन लाया। उनकी कहानी बहुत लोकप्रिय है। दत्ता ने अपने अनुभवों को सकाल मराठी दैनिक में लिखा। वो टेलीविजन पर भी आए। उनका जीवन वाकई में अनूठा और प्रेरक है।

दत्ता अम्बरनाथ में रिक्शा चलाते थे। अम्बरनाथ, दूरस्थित मुम्बई की एक उपनगरी है। उसे ब्राउन-शुगर की लत थी। लत बहुत मंहगी पड़ी। उसने दत्ता को आर्थिक और भौतिक रूप से बरबाद कर दिया। अम्बरनाथ में युवाओं का एक गिरोह जेबकतरी में माहिर था। वो इस कला के उस्ताद थे और लोकल ट्रेन्स में जेबकतरी करते थे। उन्होंने दत्ता को गिरोह का सदस्य बनने का निमंत्रण दिया। “तुम्हें कुछ खास करना नहीं होगा। बस हमारे साथ रहना। हम तुम्हें एक जगह पर खड़े रहने को कहेंगे। उसके बाद तुम्हें तुम्हारा हिस्सा मिलेगा,” गिरोह के एक सदस्य ने दत्ता को आश्वस्त किया। दत्ता ने हामी भरी और नए धंधे को लगन से सीखने लगा। उसे जो कुछ मिलता उससे ब्राउन-शुगर का खर्च निकल आता। दत्ता खुश था। पर धीरे-धीरे ब्राउन-शुगर के नशे की मात्रा बढ़ती गई। जेबकतरी के धंधे से मिला पैसा अब उसके लिए पर्याप्त नहीं होता था। पर तब तक दत्ता जेबकतरी में खुद उस्ताद बन चुका था। वो इस धंधे के तमाम हथकंडे सीख चुका था। “मैं खुद जेबकतरी का धंधा क्यों न शुरू करूं? मैं गिरोह के साथ काम क्यों करूं? उससे मुझे ब्राउन-शुगर खरीदने के लिए ज्यादा पैसे मिलेंगे,” उसने सोचा। उसके बाद उसने खुद से जेबकतरी शुरू की। पुलिस ने उसे कई बार पकड़ा। उसके ऊपर केस हुए। जल्द ही वो शहर से फरार हो गया। अक्सर रेल्वे स्टेशनों पर उन चोर-उच्चकों के फोटो चिपके होते हैं, जिन्हें पुलिस तलाश रही होती है। दत्ता के फोटो भी उसी तरह स्टेशनों पर चिपके। अब दत्ता घर छोड़कर सड़क का वाशिंदा बन चुका था। उसे कई बार जेल जाना पड़ा। महाराष्ट्र का शायद ही कोई ऐसा जेल बचा हो जिसकी हवा दत्ता ने न खाई हो।

जब वो पुणे के येरवडा जेल में था तब उसने अखबार में मुक्तांगन के बारे में पढ़ा। उसने सुनंदा को लिखा कि वो एक आपराधिक मुजरिम था और वो अपने व्यसन को छोड़ना चाहता था। पर वो कैसे छोड़े? यह उसे समझ नहीं आ रहा था। सुनंदा ने रिहाई के बाद उससे तुरन्त मुक्तांगन आने को कहा। वो मुक्तांगन आया और वहां रहा। ठीक होने के बाद सुनंदा ने उसे वापस अम्बरनाथ भेजा। पर जैसे वो स्टेशन पर उतरा वहां एक पुलिस वाले ने उसे रोका।

“अरे! क्या तुमने अब अपना धंधा छोड़ दिया है?”

“नहीं सर, अब मैं पूरी तरह सुधर गया हूं। मैंने धंधा छोड़ दिया है।”

“अच्छा, तो तुम अब सुधर गए हो? अगर तुम लोगों ने धंधा छोड़ दिया तो फिर हम जैसे लोग जिंदा कैसे रहेंगे? चुप कर गधे! दुबारा धंधा कर और मेरा हिस्सा मुझे दे। नहीं तो मैं तुझे दुबारा जेल भेज दूंगा,” पुलिसमैन गुर्गया।

भाग्यवश दत्ता के पास सुनंदा की चिट्ठी थी और वो सुरक्षित मुक्तांगन वापस आया। वो अब अधिक जोखिम मोल लेना नहीं चाहता था। सुनंदा ने उससे कहा, “ठीक है यहीं रहो और किचिन में काम करो।”

दत्ता की कहानी शायद यहीं पर खत्म हो जाती। पर दरअसल उसकी असली कहानी यहां से शुरू होती है। सुनंदा ने उसे पुस्तकें पढ़ने को प्रेरित किया। उसने जो पहली किताब पढ़ी वो मेरी लिखी हुई थी। उसके बाद उसने बड़ी लगन से मेरी बाकी पुस्तकें भी पढ़ीं। किचिन में भोजन पकाने में मदद करते-करते उसने खाना बनाना भी सीखा। जल्द ही वो एक टीम मेम्बर बन गया। एक साल बाद सुनंदा ने उससे मुक्तांगन छोड़कर अलग रहने को कहा। इलाज के बाद हमारे बहुत से मरीज विश्रांतवाडी में किराए के घरों में रहते थे। जब एक मरीज अच्छा होकर घर जाने को था तब उसका कमरा दत्ता को किराए पर मिल गया। वो वहां बहुत समय रहा और उसने ड्रग्स पूरी तरह त्याग दीं।

तीन बरस बाद सुनंदा ने दत्ता की शादी के बारे में सोचा। हम लोग उसके लिए योग्य वधू खोजने लगे। किसी अपराधी से भला कौन अपनी लड़की की शादी करेगा? सुनंदा अक्सर कर्वे रोड पर स्थित निराश्रय आश्रम में जाती थी। उसे वहां एक लड़की मिली। उसका नाम था राधा। राधा का रंग सांवला और कद छोटा था, उसका स्वभाव बहुत सकारात्मक था। राधा को दत्ता की पूरी पृष्ठभूमि बताई गई।

राधा के मां-बाप नहीं थे, पर दादी उसके गांव में रहती थीं। हमने दादी की अनुमति के बाद राधा का विवाह मुक्तांगन में आयोजित किया। इससे पहले भी हमारे परिसर में शादियां हुई थीं। उन मौकों पर फूलों की सजावट का काम - एक ड्रग-मुक्त मित्र करता था। वो मुक्तांगन आकर सजावट के लिए लोगों को तमाम सम्भावनाओं में से चुनने को कहता। हमारा एक पुराना मरीज पुरोहित था। प्यार से लोग उन्हें गुरुजी बुलाते थे। गोल-मटोल गुरुजी मुम्बई से आते थे। शादी में वो हमारे अधिकृत पुरोहित थे। उन्हें पुरोहित की परम्परागत पोशाक में देखकर सबको बहुत मजा आता था। हमें मुक्तांगन में उनकी पुरानी याद है जब गुरुजी अपनी मोटी तोंद के साथ नाचे थे। शादी में खाना बहुत अच्छा बनता था और मेहमानों की कई पंगतें एक-साथ अच्छे भोजन का लुत्फ उठाती थीं। उस दिन के भोजन की जिम्मेदारी हमारे एक कैंटरिंग का काम करने वाले मरीज की थी। वो शादी के लिए जरूर कुछ विशेष भोजन बनाता था।

दत्ता की शादी मुक्तांगन परिवार के लिए एक बड़ा जश्न था। धार्मिक अनुष्ठान के समय मैंने और सुनंदा ने, राधा के माता-पिता का रोल निभाया। दत्ता के रिश्तेदार भी विवाह में सहभागी हुए। वो सबके उत्साह को देखकर दंग रह गए।

दत्ता और राधा के दो बच्चे हुए। बच्चों के नामकरण भी मुक्तांगन में हुए। दोनों बच्चों को सुंदर-सजे पालनों में रखा गया। उस अवसर पर मरीजों की पत्नियों ने परम्परागत गीत गाए। पहले बेटे का नाम सुनंदा ने रखा। पर दूसरे बच्चे के आने तक क्योंकि सुनंदा नहीं रही, इसलिए उसे मैंने अपनी पसंद का नाम दिया।

दत्ता का खुद का घर नहीं था। उसके कमरे का मालिक लगातार किराया बढ़ाता और उसे घर से निकालने की धमकी देता था। अंत में बैंक से लोन लेकर, एयरपोर्ट के पास दत्ता ने एक छोटा घर खरीदा। मेरे मित्र विदुर और मैंने बैंक कर्ज की गारंटी ली।

राधा और दत्ता दोनों बहुत मेहनती हैं। शाम के वक्त दत्ता विश्रांतवाडी में बच्चों के कपड़े बेंचता है, और राधा सब्जी बेंचती है। अक्सर दोनों खानपान के ठेके लेते हैं। सच तो यह है कि वो दोनों बहुत अच्छी तरह से जी रहे हैं। शायद उन्हें इतनी मेहनत करने की जरूरत नहीं है। वास्तव में दत्ता एक बहुत ही मेहनतकश इंसान है। उसका शुरू का जीवन अपराधों से भरा था परन्तु आज उस जैसा ईमानदार व्यक्ति मिलना मुश्किल है। मुक्तांगन में मेरे सभी साथी अच्छे और ईमानदार हैं, पर दत्ता उनमें सबसे उत्तम और श्रेष्ठ है। दत्ता का अंदाज ही कुछ अलग है। हमारे आसपास अनेकों ऐसा दत्ता हैं जो अपराधों में फंसकर अपना सारा जीवन जेलों में बिताएंगे। काश कुछ मददगार हाथ उन्हें उन परिस्थितियों से निकालकर उन्हें एक उत्पादक जीवन जीने में मदद करते।

मुक्तांगन में ऐसे कई मरीज हैं जो आपराधिक पृष्ठभूमि के हैं। वो लोगों पर जल्दी विश्वास नहीं करते हैं। वैसे मुक्तांगन में किसी पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है फिर भी उन्हें अपनी शंकाओं और गलतफहमियों पर काबू पाना मुश्किल होता है। सिद्धू शुरू से ही एक संदेहस्पद व्यक्ति था। वो ड्रग एडिक्ट और जेबकतरा था। उसने मुझे जेब काटने की कला सिखाई जिसका मैंने कभी उपयोग नहीं किया। सिद्धू की किसी से नहीं बनी। परन्तु वो सुनंदा मैडम का भक्त था। एक बार सुनंदा के जन्मदिन पर वो मुम्बई में था और ड्रग्स के नशे में एकदम धुत्त था। उसे 2 दिसम्बर - सुनंदा का जन्मदिन याद रहा और वो उसे बधाई देने मुक्तांगन आया। जन्मदिन के लिए मरीजों ने मुख्य हॉल में एक छोटा समारोह आयोजित किया था। जैसे ही हम हॉल में पहुंचे हमें एक गंदे कपड़ों में भिखारी आता हुआ दिखा। वो सुनंदा को भेंट करने एक थर्मस फ्लास्क लाया था। मैं उसे पहचान नहीं पाया, परन्तु सुनंदा ने तुरन्त कहा, “सिद्धू तुम्हें देखकर बहुत अच्छा लगा। अच्छा हो अगर तुम मुक्तांगन में फिर से दाखिल हो जाओ?” सिद्धू रहने के लिए नहीं आया था। परन्तु वो दुबारा दाखिले के लिए तुरन्त तैयार हो गया। सुनंदा हॉल में सिद्धू के साथ आयी। वहां लोगों ने सुनंदा

को बधाई दीं और विशेष अभिनंदन पत्र और नए वर्ष के प्रस्ताव दिए। सुनंदा ने सभी भेंटों की सराहना की और फिर कहा, “तुम्हें पता है कि आज कौन सी भेंट मुझे सबसे पसंद आयी?” सब लोग उसके बारे में सोचने लगे।

“मेरा सिद्धू आज वापस लौटा है। यह मेरे लिए आजकी सबसे विशेष भेंट है।”

सिद्धू के दिल को यह बात गहराई से छू गई। उसने बहुत लगन और मेहनत से व्यसन-मुक्ति का सम्पूर्ण कोर्स पूरा किया। उसने अन्य लोगों से कहा, “मैं अब अपना ख्याल रखूंगा क्योंकि मैं मैडम का ‘गिफ्ट’ हूं। मैं उनके ‘गिफ्ट’ को कैसे खराब कर सकता हूं?” बाद में सिद्धू मुम्बई चला गया। उसने लम्बे अर्से तक ड्रग्स नहीं लीं। पर बाद में ड्रग्स से उसका देहान्त हो गया। उसके देहान्त के समय सुनंदा इस दुनिया में नहीं रही थीं। यही एक सात्वना थी।

दत्ता और सिद्धू दिल के अच्छे लोग थे। ड्रग्स की आदत की पूर्ति के लिए ही उन्होंने अपराध शुरू किए थे। ड्रग्स के बाद वो अन्य गलत आदतों में भी पड़े जिससे उन्होंने खुद का और अजनबियों का भी नुकसान किया। परन्तु ड्रग्स छोड़ देने के बाद वो अन्य आम लोगों जैसे अच्छे बन गए। ड्रग्स ने उनकी जिंदगी को प्रदूषित किया था। दत्ता ड्रग्स व्यसन से पूरी तरह मुक्त हो पाया। परन्तु सिद्धू की आंतरिक शांति ड्रग्स के कारण अक्सर विचलित हो जाती - जैसे कभी-कभी शांत पानी में कोई उग आती थी। और उसे इस काई को हटाने में बहुत समय लगा।

जहां एक ओर दत्ता और सिद्धू अपनी परिस्थितियों के कारण अपराधी बने वहीं नायर नाम के मरीज का दिमाग ही आपराधिक था। मुक्तांगन में उसके भर्ती होने के बाद मैं तुरन्त सावधान हो गया। मुझे समझ में नहीं आया कि क्या हम उस जैसे व्यक्ति को झेल पाएंगे। परन्तु सुनंदा आश्वस्त थी।

नायर से मेरी मुलाकात नारकौटिक्स सेल में हुई। वहां एक कांस्टेबिल ने मुझसे पूछा, “क्या आप एक दक्षिण भारत में केरल प्रान्त के एक अपराधी को भर्ती कर सकते हैं? वो अब ड्रग्स छोड़ना चाहता है।” सुनंदा ने इसकी हामी भरी और मुक्तांगन में माता-पिता की मंजूरी और दाखिले के समय उनकी उपस्थिति की शर्तों को भी नजरंदाज किया। नायर के माता-पिता केरल में थे। उसने 14 वर्ष पहले घर छोड़ा था। उसके माता-पिता जिंदा थे या नहीं, उसे यह भी पता नहीं था। नायर एक पक्का अपराधी था और अपराध जगत में ‘वस्तारा मलबारी’ के नाम से मशहूर था क्योंकि वो पैने ब्लेड को हथियार जैसे उपयोग कर लोगों को मारता था। वो कई जेलों में गया था और बहुत जगहों ने निकाला गया था। वो केरल में तमिल उग्रवादियों की टीम का अगुवा था। वो ड्रग्स को इधर-उधर ले जाने और उनके आदान-प्रदान में मदद करता था। उसका अतीत काफी भयाव्य था।

नायर ने मुक्तांगन में शुरू के 35 दिनों का उपचार पूरा किया। उसके बाद वो मुक्तांगन में रहकर छोटे-मोटे काम करने लगा। पहले दिन के धंसे गालों और दाढ़ी वाले उदास नायर के युवा चेहरे पर, अब चमक का गई थी। वो वार्ड में बहुत अच्छा काम करता था। जल्द ही वो सभी वार्ड का इंचार्ज बन गया और उसने अपनी देखरेख में एक अच्छी टीम तैयार की। टीम के सदस्य उसे 'बॉस' बुलाते थे। पर यह अच्छे लक्षण नहीं थे क्योंकि वो जेल की संस्कृति और सत्ता को मुक्तांगन में लाने की कोशिश कर रहा था। सुनंदा उसकी चाल को समझ गई और उसने नायर को अपने ऑफिस में सहायक बना लिया। क्योंकि उसकी अंग्रेजी बहुत अच्छी थी इसलिए ऑफिस के काम में उसने तेज प्रगति की। जल्द ही वो मराठी भी सीख गया।

सुनंदा मेरे गांव ओतूर में एक मासिक दवाखाना चलाती थी। नायर ने ओतूर में सुनंदा की बहुत मदद की। सुनंदा की दवाई कैसे लेनी है वो उसे अच्छी तरह मरीजों को समझाता। उसके बातचीत का कौशल इतना अच्छा था कि लोग उसे डॉक्टर समझते थे! वो सुनंदा की आदर्श परछाई था।

एक दिन सुपर कुशल नायर गायब हो गया। वो एक विडियो रिकार्डर और कुछ पैसे लेकर रफूचक्कर हो गया। वो किसी भी ताले को आसानी से तोड़ सकता था। इस हादसे से सारे मरीज, जिनमें से कुछ आपराधिक पृष्ठभूमि के भी थे बेहद नाराज हुए। “अगर उसे चोरी करनी ही थी तो कहीं और करता। उसने अपनी मां के पैसे क्यों चुराए? चोरों के भी कुछ उसूल और मूल्य होते हैं?” एक मरीज ने कहा। क्योंकि मुक्तांगन की सम्पत्ति चोरी हुई थी इसलिए हमने पुलिस रपट लिखवाई।

बाद में जब नायर ठाणे में आनंद के क्लीनिक गया तब वहां पुलिस ने उसे गिरफ्तार किया। वो ड्रग्स के नशे में था और उसने चोरी की सम्पत्ति को बेंच डाला था। पुलिस ने हमारी सम्पत्ति को दुबारा हासिल किया और वे नायर को पुणे वापस लाए। सुनंदा और उसके सहायक राजाराम को पुलिस ने बुलाया। उन्होंने उसकी जमानत ली और उसे वापस मुक्तांगन में लाए। उसके मित्रों ने बाल काटे और उसे नहलाया। एक हफ्ते बाद नायर सामान्य हुआ और वो फिर से अपने काम में रुचि लेने लगा। अब नायर का दबदबा खत्म हो चुका था। वो चुपचाप मेहनत से काम करता था।

मुक्तांगन को उन दिनों किसी ने एक कम्प्यूटर भेंट दिया, जब कम्प्यूटर काफी दुर्लभ थे। सुनंदा ने नायर की कम्प्यूटर ट्रेनिंग की व्यवस्था की। नायर बहुत तेजी से सीखा। वो हमारी पूरी चिट्ठी-पत्रा का काम देखता। उसने यह कुशलताएं सरकारी समाज कल्याण विभाग के लोगों को भी सिखायीं, जिसमें विभाग के निर्देशक तक शामिल थे।

नायर ने बाद में हमें अपने अनुभव सुनाए, “किसी भी अच्छे व्यवहार से आपराधिक दुनिया में लोग शक करने लगते हैं। उसने मुझसे इतना अच्छा व्यवहार क्यों किया? क्या उसके पीछे कोई छिपा मकसद था? जब मैं मुक्तांगन आया तो लोगों ने मेरे साथ अच्छा व्यवहार किया। तभी मुझ में शक उभरने लगा। मैं उनके इरादों का विश्लेषण करने लगा। पर मैं तब आश्वस्त हुआ जब लोगों को कई बार धोका देने के बाद भी उनका व्यवहार अच्छा रहा। उसके बाद मैं बदला। मैं लोगों की सच्ची अच्छाई को देखने के बाद बदला।”

वो मजाक में कहता, “मैंने विडियो रिकार्डर (वीसीआर) चोरी किया था पर अब मैडम ने मुझे सजा के रूप में उससे भी मंहगा कम्प्यूटर दिया है!” मरीजों ने उसे ‘वीसीआर’ के नाम से बुलाना शुरू किया जो उसने स्वीकारा।

पर उसकी कहानी लम्बी है। नायर ड्रग्स से बहुत दिनों तक मुक्त रहा। उसने शादी की और फिर एक धंधा शुरू किया। धंधा शुरू करने से पहले हमने उसे बहुत सावधान किया पर उसने हमारी एक न सुनी। वो मुक्तांगन छोड़कर चला गया। पर वो धंधे में सफल नहीं हुआ और उसे बहुत नुकसान हुआ। उसके बाद वो अपनी पत्नी को भी छोड़कर चला गया, और कभी वापस नहीं लौटा। आज तक नायर का कोई पता नहीं है।

नायर के अनुभव से मुक्तांगन में हम लोगों को बहुत कुछ सीखने को मिला। पहला - शातिर अपराधी भी खुद को बदल सकते हैं। परन्तु यह बदल लगातार चलनी चाहिए। दूसरा - विश्वास ही, विश्वास को जगाता है। हमने आपराधिक मरीजों में विश्वास करने में कुछ संकोच किया था। अब हमें लगता है कि विश्वास का नतीजा एकदम जादुई निकला। हमें धोका दिया जा सकता है, हम इस सम्भावना को भी जानते थे। पर इस कारण से हमें मरीजों को शंका की निगाह से नहीं देखना चाहिए था।

बहुत से मरीज इलाज के बाद दुबारा हमारे पास आते। मैंने उनमें से कई के लिए सिफारिश के पत्र भी लिखे। कई बार मैंने उनके सम्भावित मालिकों को भी फोन किया। मरीजों ने इस सकारात्मक सहयोग की बहुत प्रशंसा की - एकदम तिरिस्कृत व्यक्ति पर इतना विश्वास करना। उन्हें आश्चर्य हुआ जब मैंने बैंक में उनके कर्ज की जिम्मेदारी उठाई। पर मैं यह गर्व से कह सकता हूँ कि किसी भी मरीज ने मेरे साथ आजतक विश्वासघात नहीं किया। वो अन्य लोगों से कहते, “देखो, बाबा ने हम पर कितना यकीन किया है। उन्होंने मेरी सिफारिश की है। मैं इस प्रतिष्ठा पर कभी कलंक नहीं लगने दूंगा।” मैं अक्सर उनसे मजाक में कहता था, “मैं तुम्हें धोखा देने और विश्वास को तोड़ने की चुनौती देता हूँ। भाई, ज्यादा से ज्यादा क्या होगा? हम दोनों जेल में होंगे। और फिर जेल में मैं तुम्हें औरगैमी सिखाऊंगा!”

उसके उत्तर में वे कहते, “बाबा, हम वो दिन आने ही नहीं देंगे।”

अपने मरीजों के लिए तो मैं कभी जेल नहीं गया, पर मुझे अपने बिगड़े हुए नवाबों के लिए अक्सर जेल जाना पड़ा। मुझे अपने मित्रों को छुड़ाने के लिए पुलिस स्टेशन और चौकियों के चक्कर काटने पड़े। इससे मुझे विजय सोनार की याद आती है। वो एक ज्वेलर के साथ काम करता था। उसके मित्रों ने उसे ड्रग्स और शराब की लत लगाई। जल्द ही वो एडिक्ट बन गया। उसके दोस्त खुलेआम चोरी और लूटपाट करते पर विजय की उसमें कोई रुचि नहीं थी। उसके मित्रों ने एक योजना बनाई। उन्होंने विजय से ज्वेलर की दुकान का रात को एक दरवाजा खुला रखने को कहा जिससे कि उन्हें दुकान लूटने में मदद मिले। उन्होंने विजय को उसका हिस्सा मिलने का भी भरोसा दिलाया। दुकान में लूट के बाद जल्द ही पुलिस ने चोरों को पकड़ लिया। क्योंकि विजय नया-नया था इसलिए उसे निशाना बनाकर पुलिस ने जेल भेज दिया, जबकि बाकी गैंग को छोड़ दिया। विजय ने जेल की सजा पूरी की। उसके छूटने और मुक्तांगन में पूरी तरह इलाज के बावजूद पुलिस उसे सताती रही। आसपास किसी भी दुकान में चोरी के बाद, पुलिस विजय को तुरन्त हाजिर होने को कहती। विजय के मध्यम वर्ग परिवार को पुलिस द्वारा घर की बेवक्त तलाशी और शोरशराबे से बहुत परेशानी हुई। पुलिस वाले विजय को अक्सर चौकी में ले जाकर पीटते भी थे।

“देखो, मैं वहां नहीं था।”

“बताओ, अगर तुम नहीं थे, तो फिर और कौन था?”

“मुझे कुछ पता नहीं,” विजय ने पिटाई के वक्त रोते हुए कहा।

एक और समस्या थी। जब कभी सीनियर पुलिस अफसर आसपास की पुलिस चौकियों का निरीक्षण करने आते तो आपराधिक रिकार्ड वाले लोगों को पूछताछ के लिए इकट्ठा किया जाता। विजय जैसे लोगों को आधी रात के समय घर से पकड़कर लॉकअप में रखते और अगले दिन 11 बजे की पूछताछ के लिए पुलिस स्टेशन ले जाते। हमने विजय को एक नौकरी दी परन्तु दिन में, बार-बार पुलिस द्वारा तलब किए जाने के कारण उसे वो नौकरी छोड़नी पड़ी।

मैं पुलिस के वरिष्ठ अधिकारियों से मिला और मैंने उनसे कुख्यात अपराधियों की सूची में से विजय के नाम को काटने की विनती की। मैं अधिकारियों से व्यक्तिगत रूप में मिला और मैंने उन्हें विजय के अच्छे चरित्र के बारे में बताया। पर मेरे प्रयासों का कोई असर नहीं पड़ा। अंत में मैंने विजय से कहा, “अगली बार जब तुम्हें पुलिस बुलाए तो मुझे बताना। मैं भी तुम्हारे साथ चलूंगा।”

कुछ दिनों बाद विजय को, सुबह आठ बजे फरासखाना पुलिस चौकी में बुलाया गया। वहां चिथड़े पहने कोई 20 लोग मुख्य सड़क के पास की पार्किंग में लाइन लगाकर खड़े थे। वे अपराधी थे। विजय भी उनके साथ खड़ा हो गया। मैं विजय के साथ खड़ा रहा। धीरे-धीरे वरिष्ठ पुलिस अफसर चौकी में आने लगे - कुछ मोटरसाइकिलों पर और कुछ लाल-बत्ती वाली गाड़ियों में। जिन अफसरों में मुझे पहले आदर के साथ व्यवहार किया था वो अपराधियों की संगत की वजह से मुझे पहचान तक नहीं रहे थे।

एक कांस्टेबिल ने मुझे पहचाना और फिर वो विजय को एक ओर ले गया। “तुम उन्हें यहां क्यों लाए? खुद को बहुत चालू समझते हो? तुम्हारी चाल काम नहीं करेगी। तुम्हें इसका नतीजा भुगतना ही पड़ेगा,” पुलिस वाले ने कहा। उसके बाद विजय ने हाथ जोड़कर मुझे वहां से चले जाने को कहा। अगर सीनियर अफसर मुझे मेरे जुर्म के बारे में पूछते तो मैंने उसका एक सटीक जवाब सोच रखा था: “मेरा जुर्म है कि मैंने इस लड़के का अपना बेटा माना है। और इस वजह से मैं यहां पर हूं।” पर पुलिस ने मुझे से कोई पूछताछ नहीं की। विजय के साथ जाने की मेरी रणनीति कामयाब रही क्योंकि उसके बाद से पुलिस ने विजय को दुबारा परेशान नहीं किया। उसका कारण मुझे आज भी अस्पष्ट है।

हमारे कुछ मित्र अपराधी जगत के सदस्य भी थे। वो ड्रग्स बेचते, बीबी को पीटते, वे जेबकतरे थे और उनकी कारनामे बाकायदा अखबार में छपे भी थे। जब सुनंदा और मैं उनकी गिरफ्तारी के बारे में पढ़ते तो हमें अक्सर झटका लगता। मैं अक्सर दुखी होकर कहता, “हमारे आसपास किस तरह का समुदाय है? हमारे मित्र कभी पुरस्कार पाते या फिर किसी अन्य सकारात्मक काम करते क्यों नहीं दिखाई देते।” सुनंदा ने मुझे समझाया, “हम लोग ऐसे ही समुदाय के लिए बने हैं। बाकी लोग सफल लोगों की सराहना करते हैं। पर हम तो इन्हीं लोगों के लिए ही बने हैं।” अन्य जगहों पर भी हमारी जरूरत थी। जो मरीज जेल से छूटते उनके अच्छे बर्ताव की जिम्मेदारी लेने भी हम हमेशा मौजूद रहते।

हिंसा और क्रूरता तो शराब के नशे में होती ही थी। पर हमने इन क्रूर शराबियों में भी मानवता के अच्छे लक्षण देखे थे। नशा-मुक्ति का इन हिंसक शराबियों पर बहुत अच्छा असर होता था। एक कुली की पत्नी रोजमर्रा की हिंसा को जब बर्दाश्त न कर सकी तो उसने अपने कपड़ों पर मिट्टी का तेल उंडेल लिया। पत्नी को बचाने की बजाए उसके पति ने उसके हाथ में माचिस थमा दी। हमें यह सुनकर गहरा धक्का लगा क्योंकि इस तरह का पागलपन हमने कभी पहले सुना नहीं था। बाद में इलाज

के बाद वही कुली नशा-मुक्त हुआ। अगर उसकी पत्नी ने उस दिन खुद को जला लिया होता तो कितना अनर्थ होता? अगर उसके पति ने उस दिन उस पर जलती माचिस फेंकी होती, तो क्या होता? भाग्यवश, कुछ हुआ नहीं परन्तु अनर्थ की बहुत सम्भावना थी।

हमारे सामने रोजाना ही इस प्रकार के केस आते थे। बहुत से हिंसक एडिक्ट्स अपनी पत्नियों को पीटते और नशे के लिए पैसे मांगते। वो बेझिझक और बेशर्मी से पत्नियों के कमाए पैसे चुराते। इस वजह से एडिक्ट्स झूठ बोलने में माहिर हो जाते। रिश्तेदारों के अनुसार - नशे से दूर रहने पर यह लोग अच्छे भले लोग होते। परन्तु नशे के बाद वे बेइंतहा झूठ बोलते। जैसे लोग सांस लेते हैं वैसे ही शराबी झूठ बोलते हैं। हमने इस विषय पर शराबियों से खुलकर चर्चा की और उन्हें ठीक सलाह दी। उन्होंने भी झूठ बोलने की बात मानी और उसके लिए हर बार माफी भी मांगी। एक-दो सत्रों में इस विषय पर विस्तार से चर्चा हुई। उससे यह समस्या अब व्यक्तिगत समस्या न रह कर एक सामूहिक समस्या बनी और उसके समाधान ऑफिस और घर, दोनों जगह खोजे जाने लगे।

एक अन्य समस्या अभद्र भाषा को लेकर थी। ड्रग्स और शराब अपने साथ एक विशेष अभद्र भाषा लाती है जो उस संस्कृति की द्योतक होती है। विदेशी शराब पीने वाले उच्च-वर्ग, उच्च-जाति के कुछ मित्रों को कभी-कभी देसी दारू के ठेके पर शराब पीना अच्छा लगता था। जो लोग देसी ठेकों पर शराब पीते हैं वो वहां की भाषा भी अपनाते हैं। शराब से मुक्त होने के बाद भी जब वे गुस्से में होते हैं तो वे उन्हीं शब्दों और मुहावरों का उपयोग करते हैं। इससे टकराव बढ़ता है और राहत पाने के लिए वे फिर शराब या ड्रग्स का सेवन करने लगते हैं। सुनंदा ने इन अभद्र शब्दों को एडिक्ट्स की रोजमर्रा की भाषा से निकाल फेंकने का भरसक प्रयास किया। पहले मुझे समझ में नहीं आया कि वो यह बदलाव क्यों चाहती थी, पर बाद में मुझे बात समझ में आई।

मुझे शिवम कादरी की याद है। काले रंग का और हष्ट-पुष्ट कादरी बीस साल से कुछ ऊपर का होगा। उसकी तेज जुबान के बारे में सब जानते थे। किसी अभद्र शब्द का उपयोग करके (उनकी भाषा को 'टपोरी' भाषा कहते हैं) वो अपने मुंह को दोनों हाथों से छिपाता था। सुनंदा ने गलत भाषा के उपयोग के लिए उसे सजा दी। उसका इलाज हो चुका था। वो मुक्तांगन में देखभाल के बाद (आफ्टर-केयर) मरीज था। जब कभी भी वो अन्य मरीजों के खिलाफ अपशब्द इस्तेमाल करता, तब उसकी शिकायत होती और सुनंदा उसे गलती के लिए सजा देती। सुनंदा को यह खबर कैसे मिलती थी? मरीजों को यह पता नहीं था। एक बार उसने मुझे हंसते हुए कहा,

“मैडम को कौन खबर देता है उनका खुफिया मुझे पता है। उसका नाम अशोक पवार है। इसलिए उसके आसपास होने पर हम अभद्र भाषा नहीं इस्तेमाल करते हैं।”

मैंने सुनंदा से बाद में कहा, “तुम्हारे खुफिया एजेंट का नाम पवार है, क्यों ठीक है न?” सुनंदा ने हंसते हुए कहा, “पवार तो ऊपरी और दिखावटी एजेंट है। असली एजेंट बिल्कुल गुप्त रहकर अच्छा काम करता है।”

कादरी का केस बहुत रोचक है। उसके पिता की ट्रांसपोर्ट कम्पनी थी जिसमें अनेकों ट्रक थे। पिता के जीवन में कादरी की मां के अलावा एक और महिला थी, जिसके कारण शिवम की मां ने आत्महत्या की। मां की खुदकुशी के बहुत पहले से ही शिवम को ड्रग्स की लत थी। वो मुक्तांगन में तमाम गुस्सा और आक्रोश लेकर आया था - मां की खुदकुशी, ड्रग्स लेकर मां को दुख पहुंचाने का सदमा, और पिता के प्रति गुस्सा। उसका मन नकारात्मक भावनाओं से लबालब भरा था। उसकी सौतेली मां घर आ चुकी थी जिससे वो घर और किचिन से भी बिछुड़ गया था। उसका अब दुनिया में ‘अपना’ कोई नहीं बचा था। शिवम उन बिरले मरीजों की कोटि में था जो शराब पी-पीकर अपनी जान गंवाना चाहते थे।

सुनंदा ने शिवम को कार चलाने का काम सौंपा। वो उसके जीवन में एक महत्वपूर्ण क्षण था। उस समय सुनंदा को कैंसर से पीड़ित थी, जिसके लिए रेडियेशन के लिए उसे कई बार मुम्बई जाना पड़ता था। उन दिनों पुरानी मुम्बई-पुणे राजमार्ग पर बहुत ट्रैफिक होता था। किसी भी बड़ी गाड़ी में खराबी के बाद राजमार्ग घंटों के लिए बंद हो जाता था। शिवम, भीड़-भड़क्के में से गाड़ी निकालने में बेहद कुशल था। वह रुकी गाड़ियों के बीच में से कार को पिरोता हुआ आगे निकल जाता था। बारिश के दिनों में भी वो बिना किसी दुर्घटना के बड़ी कुशलता से कार चलाता था। घर पर भी वो सुनंदा की सुरक्षा का पूरा ख्याल रखता था। सुनंदा का पैसों से भरा पर्स अक्सर शिवम के हाथों में होता था। पर्स में मंहगी चीजें, कागजात आदि होने के बावजूद सुनंदा हमेशा अपने पर्स को मरीजों के हाथों में थमा देती थी। इससे एक विश्वास का रिश्ता बना था। मरीजों को भी सुनंदा का पर्स ढोना अच्छा लगता था। पर्स ढोने के लिए मरीज आपस में लड़ते थे। पर्स ढोने के लिए सुनंदा का विश्वासपात्र शिवम था। हमारी बेटियां मुक्ता और यशो, शिवम के हाथ में राखियां बांधती थीं। सुनंदा ने शिवम का एक चित्र बनाया - जिसमें वो पहाड़ी पर अपने दोनों हाथ फैलाए खड़ा था। शायद सुनंदा का बनाया वो आखिरी चित्र था।

सुनंदा ने शिवम से वादा किया था कि उसकी शादी में वो उसके गांव - कारवार जरूर जाएगी। परन्तु उससे पहले ही सुनंदा चल बसी। एक्टर सदाशिव अमरापुरकर ने

शिवम को अच्छे वेतन पर कम्पनी ड्राइवर जैसे नियुक्त किया। बाद में शिवम की शादी हुई। अपने पिता के देहान्त पर वो अपने गांव गया। वो चाहता तो अपने गांव में अच्छी जिंदगी बिता सकता था, परन्तु उसने नौकरी कर एक शांत जिंदगी बिताई। वो अभी भी सुनंदा के जन्मदिन और मृत्यु दिवस पर मुझे फोन करता है और दिल भरकर मुझसे बातें करता है।

हाल ही में जब उसका फोन आया तो मैंने उससे कहा कि मुक्तांगन पर किताब में मैं उसकी कहानी लिखूंगा, पर उसका नाम बदलूंगा। उसने कहा, “उसमें मेरा असली नाम लिखें, मुझे कोई आपत्ति नहीं है।”

मैंने उसे आगाह किया, “उसमें तुम्हारे पिता की दूसरी पत्नी का नाम भी होगा। इसलिए मैं नाम नहीं लिखूंगा।”

उसने तुरन्त जवाब दिया, “सच, हमेशा सच होता है बाबा। हम सच से क्यों शर्माएं?”

उसकी बातें सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ। यह उसकी ईमानदार प्रतिक्रिया थी। उसने मुझे दुबारा फोन करके कहा, “सच, सच है, उसे क्यों छिपाएं?” यह प्रतिक्रिया एक ऐसे व्यक्ति की थी जिसका अतीत झूठ में पूरी तरह डूबा था। यह वही ईमानदार आदमी था जो कभी शराब पी-पीकर मरना चाहता था।

सुनंदा ने इस इंसान को क्या दिया? सुनंदा ने उसे एक बहुत विशेष चीज दी। सुनंदा में उसे एक ऐसी मां मिली जिसने हेंकड़ी, झूठ और अपराध से लड़ने में शिवम की सहायता की। परिवर्तन के बाद वो एक नेक, सरल और अच्छा इंसान बना।

शिवम और उस जैसे अन्य मरीजों का इलाज हमें बेहद खुशी देता और हमारा उत्साह बढ़ाता। वो हमारे लिए टॉनिक का काम करते और हमें अपार खुशी प्रदान करते, और अंधेरे से उजाले की ओर जाने के लिए हमारे लिए एक टार्च की तरह पथ प्रशस्त करते। ऐसे लोगों के साथ होने के कारण ही हम सामूहिक रूप से तमाम लड़ाईयां लड़ पाए।

हमारे मित्रों का समुदाय बड़ा विचित्र था - बेरोजगार, बेघर, बिना प्रतिष्ठा के लोग, प्राथमिक स्कूल फेल लोग। वो हमारे विशेष बच्चे थे - कुछ अपने जीवन को बदल चुके थे और कुछ जिंदगी को बदलने की कोशिश में थे।

ये बच्चे धातु के बने बर्तनों जैसे थे जिन्हें जिंदगी की भट्टी ने पकाकर मजबूत बनाया था। वो बहुत मुश्किल परिस्थितियों से निकल कर आए थे। मुक्तांगन की सहायता से वो अब अपनी जिंदगी में कुछ लायक बन पाए थे। इस मायने में वो खुशनसीब थे। हमारे समाज में ऐसे तमाम लोग हैं जो उस चरण तक भी कभी नहीं पहुंच पाएंगे।

चाहें उनकी उम्र कुछ भी हो, पर यह बच्चे मुझे और बाकी लोगों को सबसे प्रिय हैं। वो जीवन के तत्व को समझते हैं। जब वो अपना सब कुछ खो चुके थे तब हमने उन्हें सहारा दिया। वो इंसानी रिश्तों को समझते हैं और उनकी कद्र करते हैं। जिन लोगों ने उनके खराब समय में उनकी सहायता की वे उनका सदा आभार मानते हैं।

इनमें से बहुत से मरीज अपने अनुभवों को बड़े खुले दिल से दूसरों के साथ बांटते हैं। उनके सच्चे अनुभवों को सुनकर लोगों का दिल हिल जाता है। इस प्रकार के सच्चे किस्से हम सुनने के आदी नहीं होते। इस प्रकार के सच असली दुनिया स्वीकार नहीं करती। बाहर की दुनिया तमाम आडम्बरों, झूठ-फरेबों से भरी होती है। अपना असली चेहरा छिपाने के लिए लोग मुखौटा पहनते हैं। छल-कपट को छिपाने के लिए वे मीठी-मीठी बातें करते हैं। हमारा पूरा जीवन खुद की छवि संवारने में स्वाहा हो जाता है। बाहर के इस झूठे दिखावे के सामने इन मरीजों के जीवन का मर्म स्पष्ट दिखता है। इन लोगों के साथ सम्पर्क में आने के बाद मुझे सामाजिक समारोहों के झूठ-फरेब में घुटन होती है। इसके उल्टे, हमारी बैठकों में ये मरीज दिल खोलकर, सरलता-सहजता से अपनी कहानियां सुनाते हैं। बैठक में न कोई अध्यक्ष, न माला अर्पण, और न ही कोई उबाऊ भाषण होता है।

हमारा एक मरीज अशोक वैद्य कमाल का इंसान था। वो अब दुनिया में नहीं है। उसने खुद शराब छोड़ी और अन्य मरीजों को भी छुड़वाने में मदद की। वो दारू के लत वालों को सलाह देता और उसके बाद उन्हें मुक्तांगन लाता। वो मरीजों को अपने स्कूटर पर बैठाकर लाता। बहुत से मरीज और उनके परेशान रिश्तेदार उसका घर उपयोग करते। परन्तु उसका अतीत बहुत ही भयानक और स्याह था।

एक बार उसे शराब खरीदने के लिए पैसे चाहिए थे। जब पत्नी ने पैसे देने से मना किया तो वो अपने छोटे लड़के को छत पर गया और उसने बच्चे को नीचे फेंकने के लिए उल्टा करके लटकाया। उसने धमकी देते हुए पत्नी से कहा, “अगर तुमने मुझे पैसे नहीं दिए तो मैं इसे नीचे फेंक दूंगा।” बाद में ठीक होने के बाद वही अशोक अपने बेटे से अथाह प्रेम करने लगा था। यह देख विश्वास नहीं होता था।

हरेक अनुभव मरीजों के साथ-साथ हमारी जिंदगी को भी बदलता था। प्रसाद चांदेकर ने ड्रग्स के लिए घर की लगभग हरेक बिकाऊ वस्तु बेंच डाली थी। उसने धार्मिक ग्रंथ ‘ज्ञानेश्वरी’ और देवी-देवताओं की मूर्तियां भी कबाड़ी के हाथ बेंच डालीं। कुछ एडिक्ट्स मंदिरों में श्रृद्धालुओं द्वारा चढ़ाया ‘दान’ चुराने जाते थे। ड्रग्स के नशे की पूर्ति के लिए दत्ता ने जेबकतरी शुरू की। कुछ लोगों ने चोरी की और कुछ महिलाओं के गले की सोने की चेन खींचने के उस्ताद बने। वे पैदाइशी अपराधी नहीं

थे और इसलिए पुलिस की जल्दी पकड़ में भी आ जाते थे। पहले उन्हें जनता मारती थी फिर बाद में पुलिस उनकी धुनाई करती थी। पर वो यह अपराध क्यों करते थे? दरअसल उनमें चोरी की कोई प्रबल इच्छा नहीं थी। बस उनमें ड्रग्स अथवा शराब के नशे की तेज इच्छा होती थी। कुछ मरीजों ने यहां तक कहा कि उनकी लत ही उन्हें मुक्तांगन तक लाई और वहां उन्हें एक मां - सुनंदा मिली।

सुनंदा ने कई मरीजों को मुक्तांगन के प्रबंधन कार्य में शामिल किया। ये सहायक, ऑफिस के बाहर बैठकर मरीजों को देखने में सुनंदा की मदद करते। वो फाईलों को क्रम से रखते और फिर सही समय पर मरीजों की वार्ड से बुलाकर लाते। सुनंदा ने उन्हें ऑफिस का बुनियादी शिष्टाचार, फोन पर बातचीत करना और संदेश लेना आदि सिखाया। बाद में उन्होंने पत्रों का उत्तर लिखना भी सीखा। जिन्हें मराठी नहीं आती थी उन्हें रोजाना एक पैराग्राफ लिखकर अभ्यास करना होता। सुनंदा की ट्रेनिंग से गैर-महाराष्ट्रियन - नायर और कादरी जैसे लोग भी, बहुत सहजता से काम चलाऊ मराठी सीख गए।

हमाल पंचायत के क्लीनिक में सुनंदा अपने सभी मरीजों से नाखून काटने को कहती थी। वो पहली बार खुद उनके नाखून काटती और बाद में उनसे नेल-कटर खरीदने को कहती। अगली बैठक में मरीज को नेल-कटर दिखाना होता था। सुनंदा ने यही बात मानसिक चिकित्सालय और मुक्तांगन में भी लागू की। मैं अक्सर उसका मजाक बनाता था, “वो नशा मुक्ति के लिए तुम्हारे पास आते हैं। नाखूनों से उससे क्या लेना-देना?” इस पर सुनंदा का जवाब होता, “हमेशा छोटी-छोटी बातों से शुरू करो।” वह अपने मरीजों में बहुमुखी परिवर्तन चाहती थी। और इसका मतलब था - कि उनके नाखून न बढ़ें हों और वे अपशब्द न उपयोग करें। वह अपने मरीजों को हर प्रकार से स्वस्थ देखना चाहती थी।

शायद इसीलिए उसने किसी किताब से नहीं सीखा। वह एक पेशेवर मानसिक रोग चिकित्सक थी। परन्तु डिग्री के कारण, वो किन्हीं निर्धारित मापदंडों में नहीं बंधी। पढ़ाई ने उसे मरीजों के नाखून काटने से नहीं रोका। भोजन के समय वो अक्सर मरीजों के पास जाती। अगर कोई ठीक से नहीं खा रहा होता तो वो उससे कारण पूछती। कई बार मैंने सुबह के समय सुनंदा को बहुत व्यस्तता के बावजूद, स्वादिष्ट भाखरी बनाते देखा। “एक मरीज अच्छी तरह खा नहीं रहा है। मैं उसके लिए ही भाखरी बना रही हूं,” वो कहती। यह छोटे-छोटे काम, मरीजों के दिलों में उसके लिए एक विशेष स्थान बनाते। सुनंदा मरीजों को अथाह प्यार करती। उसका प्यार बिना शर्त था। वो हमेशा कहती, “ईसों की देखभाल करने वाले बहुत हैं। हम यहां पर जरूरतमंदों की देखभाल

करने के लिए हैं।” मुक्तांगन में वो सबकी मां थी - वो लोग जो सड़क से आए थे, और उन धनी लोगों की भी, जिन्होंने कभी सच्चे प्रेम का अनुभव नहीं किया था। हमने ऐसे अनेक धनी परिवार देखे जहां बच्चों को, माता-पिता के समय के अलावा, बाकी सब कुछ मिलता था।

एक्टर और संसद सदस्य सुनील दत्त मुक्तांगन पधारे और उन्होंने खुलकर मरीजों से बातचीत की। उन्होंने इस बात को स्वीकारा, “माता-पिता की हैसियत से हम अपने बेटे के ड्रग एडिक्शन के लिए जिम्मेदार हैं। मैं फिल्मी शूटिंग में व्यस्त रहता, और मेरी पत्नी को सामाजिक कार्य से फुरसत नहीं मिलती थी। इसलिए संजय को नौकरों के हवाले छोड़ते थे। हमें उसकी ड्राइंग-कापी देखने या उसके स्कूल की वार्षिक मीटिंग में जाने की कभी फुरसत नहीं मिली।”

यह एक धनी व्यक्ति की दुविधा थी, परन्तु गरीब बच्चों की अन्य समस्याएं होती हैं। साधनों के अभाव में उन्हें तमाम मुश्किलें होती हैं। गरीबी ने उनकी आर्थिक हालत एकदम जर्जर बना दी थी। इसलिए हमें धनी और गरीब मरीजों में कुछ समानताएं भी दिखाई देने लगीं - दोनों, भावनात्मक रिश्तों के भूखे थे। सुनंदा का प्रेम उनकी परेशान जिंदगी में कुछ शांति लाई। सुनंदा उनके साथ अपने बच्चों जैसे ही पेश आती। वो लोगों के बीच में अंतर नहीं करती थी - चाहें वो मित्र या रिश्तेदार हों, या वो घर में काम करने वाली नौकरानियां - फिलोमीना और सुरेखा हो। सुनंदा का प्यार और दुलार सबके लिए एक-जैसा था। उसकी भावनाओं की तीव्रता कभी कम नहीं हुई। यह देख लोगों को कभी-कभी आश्चर्य भी होता। उसकी दया और सहानुभूति कब तक चलेगी? वे सोचते। पर सुनंदा सारी जिंदगी वैसी ही रही। कैंसर होने के बाद सुनंदा लोगों से और अधिक प्रेम करने लगी और उनकी देखभाल करने लगी।

सुनंदा एक प्रकल्प के लिए बैंगलोर स्थित प्रसिद्ध संस्था ‘निमहैन्स’ (नैशनल इंस्टिट्यूट ऑफ मेन्टल हेल्थ एंड न्यूरो साइंसिस) आती-जाती थी। इस संस्था के छात्रों ने तमाम शोधपत्र लिखे थे जो दुनिया के प्रसिद्ध साइंस जर्नल्स में छपे थे। ‘निमहैन्स’ के लोग आश्चर्यचकित थे कि इतने सालों के अनुभवों के बाद भी सुनंदा ने कोई शोधपत्र नहीं लिखा था। सुनंदा के सीनियर और विश्व-विख्यात सायकियैट्रिस्ट डॉ. आर. एस. मूर्ति - जिनका सुनंदा बहुत आदर करती थी ने, सुनंदा से एक शोधपत्र लिखने का आग्रह किया। एक बार डॉ. मूर्ति पुणे आए और उन्होंने हमारे साथ पूरा दिन गुजारा। वो मानसिक चिकित्सालय और मुक्तांगन भी देखने गए। शाम को जब मैं उन्हें एयरपोर्ट छोड़ने गया तो उन्होंने कहा, “मैंने बार-बार डॉ. अनीता (सुनंदा का दूसरा नाम) से शोधपत्र लिखने को कहा। पर मैंने अब अपना आग्रह बंद कर दिया है क्योंकि सुनंदा किसी दूसरे श्रेणी की है।”

“वो किस श्रेणी की है?” मैंने उत्सुकता पूर्वक पूछा।

उन्होंने उत्तर दिया, “मदर टेरेसा, बाबा आमटे . . . आप उस श्रेणी को अच्छी तरह जानते हैं। सुनंदा जिसमें दक्ष और कुशल है वह वही काम कर रही है। उसकी मानसिकता बिल्कुल अलग है।” मुझे इस बात की प्रसन्नता थी कि डॉ. मूर्ति, सुनंदा के व्यक्तित्व को अच्छी तरह समझ पाए थे। मुक्तांगन में मरीजों को, यह बात समझने में बिल्कुल समय नहीं लगता था।

रोचक बात यह है कि सुनंदा सीधी-सादी और भोली नहीं थी। कोई भी उसे धोखा नहीं दे सकता था। पथप्रदर्शक की तर्ज पर मैंने उसका नाम ‘गलती-खोजक’ रखा था। वो चीजों को ध्यान से देखती और होटल बिल्स अथवा दुकानदारों के बिल्स में गलतियां निकालती। कई नामी-गिरामी दुकानदारों ने सुनंदा द्वारा बताए जाने के बाद अपने हिसाब-किताब में गलतियों को स्वीकार किया।

वैसे मुक्तांगन में सुनंदा के पास जो मरीज आते थे वो बहुत चतुर और चालू होते थे। वे लोग खुद के रिश्तेदारों, पुलिस वालों, डॉक्टरों और पूरी दुनिया को धोखा देकर आए थे। परन्तु भाग्यवश वो सुनंदा को उल्लू नहीं बना पाए। एक मरीज ने आनंद के क्लीनिक से आने के बाद कहा, “नाडकर्णी सर पर हमारी चालाकी चल जाती थी। पर यहां मैडम के सामने हमने हथियार डाल दिए हैं। वो हमारी चाल को पहले ही भांप जाती हैं।” सुनंदा को खुफिया दूतों से भी मदद मिलती पर वो लोगों के चेहरे और उनके हावभाव से बहुत कुछ समझ जाती थी।

यहां मैं खुद का उदाहरण देता हूं। जब कभी मैं झूठ बोलता, तो सुनंदा उसे तुरन्त पहचान जाती। वो मुझे तिरछी नजरों से देखती और फिर मैं तुरन्त अपनी गलती स्वीकार कर लेता। कठोर पिता और बेंत मारने वाले शिक्षकों के कारण मुझमें बचपन से ही झूठ बोलने की आदत पड़ गई थी। सुनंदा की मदद से मैं झूठ की आदत को त्याग सका। उससे मुझे बहुत लाभ हुआ। झूठ बोलना बंद करने से मुझे बहुत राहत महसूस हुई। पिछले 35 सालों शायद मैंने कभी भी झूठ नहीं बोला। मुक्तांगन में मरीजों को भी, सच बोलने पर उसी प्रकार की राहत मिलती होगी। झूठ त्यागने से उनका आत्म-विश्वास बढ़ा होगा और वो पुलिस और सूदखोरों से बेहतर तरीके से निबट पाते होंगे। बढ़े आत्म-विश्वास के कारण वो सच बोलते हैं और अपनी गलतियां स्वीकार करते हैं। सुनंदा की मदद से मरीजों को, सुधार की सही दिशा मिल पाई।

मुझे सुरेश नाम के युवा लड़के की याद है जो एक विश्व प्रसिद्ध धार्मिक स्थल पर पुजारी का काम करता था। वहां प्रस्थापित भगवान बहुत शक्तिशाली थे और हरेक की इच्छा पूर्ति करते थे। वहां पर पूजा-अर्चना करना मंहंगा था। पर इस धार्मिक स्थल

में ड्रग एडिक्ट्स थे - जिसमें कई पुजारी भी थे! “यहां पर पुजारियों को कुछ खास काम नहीं होता था। वहां ब्राहमण पुजारी तौलिया लपटे, धड़ नंगा रखे, दिन भर बैठे रहते थे। जब लोग कोई पूजा या अनुष्ठान करने आता तभी उन्हें कुछ काम करना पड़ता। बाकी समय वो ड्रग्स और अन्य नशों का सेवन करते थे,” सुरेश ने बताया। हमने पाया कि यह धर्म-स्थल वाकई में ड्रग एडिक्ट्स का अड्डा था और इसलिए वहां कुछ सुधार जरूरी था। मंदिर के बिल्कुल सामने बैठा फूल और अन्य पूजा सामग्री बेचने वाला भी शराबी था। क्योंकि उसकी दुकान इतनी बढ़िया जगह स्थित थी इसलिए वहां दिन भर बहुत ग्राहक आते थे। दुकान को नौकर के सहारे छोड़, मालिक दिन भर शराब में धुल रहा था। धार्मिक स्थल पर ज्यादातर लोग तम्बाकू में गांजा मिलाकर उसका सेवन करते। जब उस धार्मिक स्थल से कई गांजे के एडिक्ट्स मुक्तांगन आए तो फिर मैं सुरेश के साथ उस स्थान को देखने गया। वहां पर लोगों ने इकट्ठा होकर मुझसे कहा, “आप इन एडिक्ट्स का उपचार कर भगवान का असली काम कर रहे हैं।”

सुरेश हमारे साथ काफी समय तक रहा। उसे पढ़ना-लिखना नहीं आता था। सुनंदा ने उसे औपचारिक शिक्षण के लिए प्रेरित किया। सुनंदा ने कहा, “अगर तुम अंततः पुरोहित का ही काम करोगे तो कुछ ऐसी कुशलताएं सीखो जिससे बाद में तुम्हें मदद मिले।” सुनंदा को पुणे के समीप आलंदी में, पुरोहितों को प्रशिक्षित करने की एक संस्था मिली जो युवा ब्राहमणों को पुरोहितों की औपचारिक ट्रेनिंग देती थी। सुरेश रोजाना बस से, आलंदी आता-जाता और जल्द ही वो एक पेशेवर पुरोहित बन गया। सुनंदा और मेरा धार्मिक अनुष्ठानों में कोई विश्वास नहीं था। पर सुनंदा ने अपनी आस्थाओं को अनदेखा कर, सुरेश को एक अच्छी ट्रेनिंग दिलवाई। वो चाहती थी कि सुरेश जीवन में जो चाहता था वो कर पाए।

एक अन्य मरीज का इलाज पूरा होने के बाद उसके परिवार वालों ने अपने बेटे के उपचार की खुशी में एक पूजा आयोजित करने का मन बनाया। यह पूजा उसी धार्मिक-स्थल पर होनी थी जहां सुरेश काम करता था। यह सुनकर सुनंदा मुस्कराई और कहा, “ठीक है, पर पूजा पर ज्यादा खर्च मत करना।” सुनंदा ने पूजा को नकारा नहीं। वो उन्हें उन एडिक्ट्स के बारे में बता सकती थी जो वहां से हमारे यहां आए थे। परन्तु इस प्रकार की बुराई सुनंदा के स्वभाव में नहीं थी। अगर सुनंदा की जगह मैं होता तो मैंने जरूर वहां के शराबती पुरोहितों की पोल खोली होती।

सुनंदा हमेशा मरीजों के हितों का ध्यान रखती थी। मरीजों का हित उसके लिए सर्वोच्च था। वो मरीजों के मर्म को समझती और दिल से उनकी मदद करती थी। इससे मुझे शिरूर नाम के छोटे गांव के एक नाई का किस्सा याद आता है।

सुनंदा ने उसकी पृष्ठभूमि पूछी। यह वार्तालाप काफी रोचक था।

“तुम रोजी-रोटी के लिए क्या करते हो?”

“मैं एक नाई हूं।”

“किस प्रकार के नाई हो?” इससे नाई उलझन में पड़ गया। सुनंदा ने नाई की उपजाति पूछी। उसे नाईयों की जातियों और उपजातियों का अच्छा ज्ञान था। मैंने जाति व्यवस्था पर शोध किया था। इसलिए सुनंदा को जातियों और उपजातियों के बारे में पता था। इससे मरीज बहुत प्रभावित हुआ। उसने बताया कि वो नाईयों के उस समूह का सदस्य था जो शहनाई बजाते थे। “पर मुझे अच्छी तरह शहनाई बजाना नहीं आती है,” उसने कहा। “शराब के नशे ने मेरी जिंदगी तबाह कर दी। इसी वजह से मैं अब शहनाई बजाना भूल गया हूं।”

सुनंदा ने उसके रिश्तेदारों से शिरूर से उसकी शहनाई लाने को कहा। सुनंदा ने उसे अपने ऑफिस में बुलाया और धूल से लदी शहनाई को बक्से में से निकाला। मरीज को अपनी आंखों पर विश्वास नहीं हुआ। वो शहनाई बजाने से कतरा रहा था परन्तु सुनंदा ने उससे जबरदस्ती शहनाई बजवाई।

सुनंदा के प्रोत्साहन के बाद मरीज ने शहनाई बजाना शुरू की। शहनाई की आवाज सुनकर कई लोग सुनंदा के दफ्तर में खिंचे चले आए। सुनंदा ने उससे कहा, “आज से तुम यहां पर शहनाई बजाओगे।” अभ्यास के बाद तीन-चार दिनों बाद वो शहनाई अच्छी तरह से बजाने लगा। बाद में वो शहनाई का उस्ताद बन गया। मुक्तांगन में जब तक वो रहा, तब तक सुबह, शहनाई के सुरीले सुरों से शुरु होती। शहनाई में उसे जीवन का उद्देश्य मिला और अपने एडिक्शन से लड़ने की हिम्मत भी।

सुनंदा सायकियैट्री के ज्ञान से कभी घमंडी और अभिमानी नहीं बनी। वो हमेशा कहती, “हम मरीजों का इलाज नहीं करते हैं। हम मरीजों के इलाज में सिर्फ उनकी मदद करते हैं।” अब यह मुक्तांगन का मार्गदर्शक सिद्धांत बन गया है। जब लोग मुझसे पूछते हैं, “क्या आप गारंटी से मरीज का इलाज कर सकते हैं?” तब मैं जवाब में कहता हूं, “मैं नतीजे की गारंटी नहीं दे सकता हूं। पर इतनी गारंटी जरूर दे सकता हूं कि हम मरीज को ठीक करने की 100-प्रतिशत कोशिश करेंगे।” यह गारंटी मैं अपने सहसाथियों के कारण ही दे सकता हूं। सफलता का श्रेय पूरी टीम को जाता है। जब मरीज के उपचार के बाद रिश्तेदार हमारा शुक्रिया अदा करते हैं तब मैं उनसे कहता हूं, “इलाज का श्रेय बाकी मरीजों को भी जाता है। उन्होंने उपचार में अहम रोल निभाया है।” यह बात सुनंदा ने हमें सिखाई।

मुक्तांगन में हमने हरेक व्यक्ति का समावेश किया और अपने मरीजों के अनुभवों से सीखा। जो मरीज लम्बे अर्से तक सफलतापूर्वक शराब से मुक्त रह पाए वे सुनंदा के सहकर्मी बने। उनमें से कुछ बिल्कुल अशिक्षित थे। पर उनके अंदर खुद को बदलने की सच्ची और प्रबल लगन, सुनंदा के लिए काफी थी। इस प्रकार की चाहत और प्रबल इच्छा शक्ति एडिक्शन से मुक्ति में सहायक होती है और मरीज में आंतरिक परिवर्तन लाती है।

सुनंदा ने मुक्तांगन में अपने मित्रों को वैसे तो विशिष्ट काम दिए थे, पर उसमें भी लचीलापन था। यहां एक उदाहरण देता हूं। बाबा शेख को गांजे की लत थी। वो बागवानी करता और मुक्तांगन में भर्ती होने वाले मरीजों और आगंतुकों की तलाशी भी लेता था। साथ-साथ वो प्रभावशाली तरीके से उपचार के सत्र भी संचालित करता था। थोड़ा सा पढ़ा-लिखा यह आदमी, कई रोचक चीजें जानता था। इसलिए वो बहुत लोकप्रिय भी था। मुझे शेख का एक किस्सा याद है। उसने एक बार हमसे परिसर में पड़ा, जंग लगा फेंसिंग का तार मांगा। मुझे लगा कि कबाड़ी को वो उसे बेंचेगा। मैंने उससे पूछा कि वो तार का क्या करेगा। उसने कहा, “हमारे मंदिर में जो जानवर आते हैं उन्हें रोकने के लिए मुझे वो तार चाहिए।” उसने ‘मंदिर’ शब्द का उपयोग जरूर किया, परन्तु मुझे लगा कि शायद उसका आशय किसी मस्जिद या दरगाह से होगा। पर गलती मेरी थी। वो वाकई में हिन्दुओं का मंदिर था। “वो मुसलमान, हिन्दुओं के मंदिर में क्या कर रहा था?” मुझे अचरज हुआ। उसने बताया, “मैं उस हिन्दु मंदिर का ट्रस्टी हूं।” ऐसा था शेख बाबा, एक सच्चा मुसलमान, जो एक हिन्दु मंदिर का ट्रस्टी भी था। ऐसे बाबाओं के कारण ही भारत, संगठित रहा है।

सुनंदा के पास ऐसे कई हीरे थे। सभी चमकते थे, पर सभी अलग थे! उनकी कुशलता को समृद्ध करने के लिए हम कुछ मास्टर्स इन सोशल वर्क के छात्रों को भी मुक्तांगन में लाए। उनके पास एक पेशेवर डिग्री अवश्य थी पर उनमें से बहुत कम ही मुक्तांगन की विषम परिस्थितियों में टिक पाए। ऐसा ही एक युवा छात्र मेरे पास अपने सर्टिफिकेट्स की एक पूरी फाइल लेकर आया। मैंने फाइल को एक तरफ रखा और उससे कहा, “मित्र, अगर तुम गटर में गिरे हुए एक भी शराबी को मुक्तांगन में भर्ती करने में सफल हुए तो मुक्तांगन में तुम्हारी नौकरी पक्की है।” वो छात्र गया और फिर कभी वापस नहीं आया। इससे मुझे दुख हुआ। अगर मैं उसकी जगह पर होता तो मैं किसी तिरिस्कृत शराबी को जरूर खोजकर निकालता। अगर मैं सफल नहीं होता तो भी मैं आकर अपनी असफलता की कहानी जरूर सुनाता। वो युवा छात्र वापस क्यों नहीं आया? क्या उसकी डिग्री और सर्टिफिकेट काम में बाधा पड़े? क्या औपचारिक

शिक्षा लोगों को ऐसा दुर्बल बनाती है? शिक्षा का मकसद लोगों को आत्म-विश्वास देना है, न कि उन्हें निर्भर बनाना। मुक्तांगन के अर्ध-शिक्षित कार्यकर्ता इन कामों में कहीं बेहतर हैं।

आजकल हमने एक गरीब झोपड़पट्टी में जाना शुरू किया है। वहां से हम उन लोगों को लाते हैं जो खुद मुक्तांगन नहीं आ पाते। हमें पत्थर की खदान के पास एक बेहद गंदे इलाके का पता चला जहां लोग ड्रग्स का नशा करते थे। हमारा टीम लीडर - द्विजिन स्मार्त (एक गुजराती एडिक्ट जो बाद में बिल्कुल ठीक हो गया) वहां गया, और उसने कुछ युवाओं को ड्रग्स लेते देखा। मुक्तांगन के स्वयंसेवी कार्यकर्ताओं ने बस्ती के युवाओं से लम्बी बातचीत की। हमने वहां सुबह के समय एक 'नाश्ता केंद्र' शुरू किया जिससे कुछ युवा आकर्षित हुए। फिर हमने उनके स्कूल में नशा-मुक्ति का कोर्स लागू किया। मुझे कोर्स के द्वीप प्रज्जवलन के लिए बुलाया गया तो कई युवा उसमें शामिल हुए और बाद में उनको उससे फायदा भी हुआ। बस्ती के एक एडिक्ट ने कहा, "जहां हम ड्रग्स लेते थे वो एक खुला सीवर था और वहां बेहद दुर्गन्ध आती थी। उसके कारण वहां किसी के आने की हिम्मत नहीं होती थी। पर जब हमने पाया कि मुक्तांगन के स्वयंसेवी वहां रोजाना आते हैं तब हमने सहयोग देने की बात ठानी।" झोपड़पट्टी के यह बच्चे पहले की अपेक्षा, अब कहीं बेहतर, साफ-सुथरे और स्वस्थ थे। मुझे एक अन्य झोपड़पट्टी में सुनंदा के सफाई अभियान की याद है। वहां पर उसने बस्ती के बच्चों को नहलाया था और साथ-साथ उन्हें त्वचा रोगों से बचने के उपचार सुझाए थे। मुझे इस बात की प्रसन्नता थी कि सुनंदा के बच्चे अब उसके सफाई अभियान को आगे ले जा रहे थे।

यहां मुझे संत कबीरदास का वो दोहा याद आता है जो लोगों से पूछता है, "तूने बोया पेड़ बबूल, आम कहां से आए?" मुक्तांगन में हमने जानबूझ कर एक मजबूत बबूल उगाया था। हम मीठे, रसीले आमों का इंतजार नहीं कर रहे थे। उल्टे हम एक टिकाऊ पेड़ उगा रहे थे जो अकालग्रस्त क्षेत्रों में भी लोगों का पोषण करे - जलाऊ लकड़ी और कंटीली बाड़ प्रदान करे। ऐसा पेड़ जो जानवरों को चारा दे। पेड़ की मृत्यु के बाद भी उसकी जड़ों से लोग कूटने की मूसल बनाएं। हम बहु-कुशलताओं वाले मजबूत और पुख्ता लोगों के निर्माण में लगे थे, न कि नाजुक, मौसमी और सुंदर वस्तुओं में। झोपड़पट्टी के हमारे बच्चे, सूखे और बीमार बबूल के पेड़ जैसे थे। अब उनमें फूल लगना शुरू हो गए थे।

मुझे कुछ सपने साकार होते दिखाई दे रहे थे। शुरू में जो मरीज हमारे पास आए वो हमारे प्रेरित स्वयंसेवियों के कारण आए। इन स्वयंसेवियों ने कभी भी अखबारों में

अपने फोटो छपवाने अथवा वेतन बढ़ावती की मांग नहीं की। बस उन्होंने दिल लगाकर काम किया। यह कार्यकर्ता वाकई में सुनंदा के अथक प्रयासों का फल थे। यह वो आम के पेड़ नहीं थे, जिनमें मीठे, रसीले अल्फांजो के फल लगते हों। पर ये हरे वृक्ष चिलचिलाती गर्मी और खराब मौसम में भी जिंदा रहना जानते थे। मुक्तांगन में ऐसे तमाम जीवट वाले लोग थे जो खुद जिंदा रहे और जिन्होंने दूसरों को भी, मुश्किल परिस्थितियों में जिंदा रहना सिखाया।

हरेक बुधवार को मुक्तांगन में नए मरीजों के दाखिले होते हैं। किसी भी नए मरीज के लिए पहले चार दिन बेहद मुश्किल होते हैं। हमारे सीनियर कार्यकर्ता इन निर्णायक दिनों में मरीजों की बहुत अच्छी देखभाल करते हैं। बंधु नाम के एक कार्यकर्ता ने ग्रुप-हेल्प (सामूहिक देखभाल) की प्रक्रिया शुरू की। बंधु बहुत मेहनती था और वार्ड में ही रहता था। वो सबका दोस्त था और हरेक की मदद करने को तत्पर रहता था। उस प्रेरित कार्यकर्ता की कहानियां आज भी मुक्तांगन में सुनाई जाती हैं। संदीप चित्रे की 'मेन्टेनेन्स टीम' जैसी ही बंधु ने एक 'विथड्राअल टीम' - दारू और ड्रग्स छोड़ने के बाद के लक्षणों से निपटने की टीम शुरू की। अब हमारे कम-पढ़े लोग भी 'विथड्राअल' शब्द उपयोग करते हैं - दारू और ड्रग्स छोड़ने के बाद के लक्षणों के वर्णन के लिए।

अलग-अलग मरीज 'विथड्राअल' काल को अलग-अलग तरीके से झेलते और भुगतते हैं। उसकी तीव्रता शराब एडिक्ट्स में कम होती है, ड्रग्स के मरीजों में ज्यादा। उससे बहुत उल्टियां और दस्त होते हैं। उससे कुछ शराबियों में 'हैल्यूसिनेशन' या मतिभ्रम होता है। बंधु ऐसे मरीजों की बेहद अच्छी देखभाल करता और अन्य लोगों को ऐसे मरीजों की मदद के लिए प्रेरित करता था। अगर मरीज नियंत्रण खोने के बाद कपड़ों में ही दस्त करते तो बंधु की टीम उनके कपड़े उतार कर उन्हें मिनटों में साफ-सुथरा बना देती थी।

इस चरण में मरीज के शरीर में भयंकर दर्द होता है। उसके लिए मुक्तांगन के कार्यकर्ताओं ने शरीर का मालिश करने का एक सुंदर तरीका निकाला था। जिन मरीजों को 'हैल्यूसिनेशन' आते उनकी पूरी रात निगरानी रखनी पड़ती थी। क्योंकि वो रात में कभी भी चलना शुरू कर देते थे। बंधु ऐसे मरीजों के साथ खुद के अनुभवों को बड़े चाव के साथ सुनाता और सबका मनोरंजन करता था।

मुझे गर्व है कि बंधु द्वारा अन्य लोगों की 'विथड्राअल' में मदद करने की परम्परा, उसके हमारे साथ न होने के बावजूद मुक्तांगन में आज भी कायम है। नए मरीज भी बहुत आसानी से इस स्वस्थ परम्परा को निभा रहे हैं। मुझे बहुत खुशी होती है जब

नए मरीज आकर कहते हैं, “बिल्कुल अजनबियों ने, बहुत प्यार से हमारी देखभाल की। हमारे परिवार वालों ने इतने प्रेम से हमारी कभी भी देखभाल नहीं की होती।”

अक्सर ऐसे प्रेम की उम्मीद उन अजनबियों से नहीं होती है, जो बदले में कुछ भी नहीं चाहते हैं। मरीज, मुक्तांगन के वातावरण में आकर किस प्रकार बदल जाते हैं, इससे बहुत लोगों को ताज्जुब होता है। कुछ रिश्तेदारों ने आश्चर्य से कहा, “क्या आप यहां कुछ जादू-टोना करते हैं? हमारी बात मरीज बिल्कुल नहीं मानता था, परन्तु यहां आपकी हरेक बात का तुरन्त पालन करता है।” इसका उत्तर था निष्काम और बेहद प्यार से मुक्तांगन में मरीजों की तीमारदारी, यानि देखभाल। मुक्तांगन में आने वाले एडिक्ट्स का आत्म-सम्मान बहुत कम होता है। उन्हें बार-बार बताया जाता है कि उन्होंने खुद को, और दूसरे को कितना नुकसान पहुंचाया है। जब ऐसे लोग दूसरों की प्यार से देखभाल करते हैं तो वे अपने आपको सुयोग्य समझते हैं और उसकी जिंदगी बेहतर बनती है। “देखो, यह सब मैं बिना किसी अपेक्षा के, बिल्कुल अजनबी लोगों के लिए कर पाया,” यह मरीज का मनोभाव होता है और उससे ही उसके अंदर आंतरिक बदलाव आता है।

देखभाल करने वाले लोग अक्सर पेशवर, फीस लेने वाले लोग होते हैं। कुछ लोग भौतिक दुनिया में नाम और धन कमाने के लिए करते हैं, कुछ लोग इसके फल अगली दुनिया में पाने की इच्छा रखते हैं। पर जब स्वार्थ की भावना नहीं होती, तो मरीजों को सबसे बड़ा संतोष और आनंद मिलता है। कितनी आश्चर्य की बात है कि जिन्होंने पहले किसी की सेवा न की हो, वो इतने समर्पित सेवक बन जाएं? जिन्होंने बरसों मरीजों की सेवा की हो, उन्हें भी वो आनंद नहीं मिलता है जो कि एक अपराधी को सेवा करके मिलता है। वो अवसर जीवन को परिभाषित करने वाला क्षण होता है और उससे उनका आत्म-सम्मान बढ़ता है। मैंने इन उत्थान क्षणों को बहुत करीबी से देखा है। वैसे मुझे इस प्रकार की अलौकिक खुशी का आजतक मौका नहीं मिला है!

मुक्तांगन में सहयोग का एक स्वस्थ वातावरण है। हर हफ्ते, हर बैच उस सप्ताह के सामान्य कामों को करने की जिम्मेदारी सम्भालता है। किचन की ड्यूटी में सब्जियों को छीलना, काटना; बर्तन की ड्यूटी में बड़े बर्तनों को धोना आदि। अगर किसी उम्र दराज व्यक्ति को कोई कठिन ड्यूटी मिलती है तो एक युवा साथी उनकी मदद करता है। अगर कोई मरीज उदास या दुखी होता है तो विशेष प्रयासों से उसे नाचने-गाने अथवा खेलकूद के कार्यक्रमों में शामिल किया जाता है। हरेक वार्ड में मरीजों में से ही एक मॉनीटर नियुक्त किया जाता है, जो हर मरीज की मानसिक अवस्था का ध्यान रखता है। पहले अगर कोई मरीज अच्छी तरह से भोजन नहीं करता था तो सुनंदा उसके

लिए विशेष खाना बनाती थी। क्योंकि अब सुनंदा इस संसार में नहीं है इसलिए यह जिम्मेदारी अन्य लोगों ने सम्भाली है। मुझे खुशी है कि सुनंदा के प्रेम को हरेक व्यक्ति और ग्रुप ने आत्मसात किया है।

अब मैं मुक्तांगन के पांच-हफ्ते के उपचार कार्यक्रम के बारे में विस्तार से बताऊंगा। पहला हफ्ता भौतिक और मानसिक 'विथड़ाअल लक्षणों' से निबटने में जाता है। इस दौरान मरीज अपनी दिनचर्या और निर्धारित काम से परिचित होता है। वह अपने मित्र बनाता है और कामकाजी रिश्ते भी गढ़ता है। दूसरे हफ्ते में मरीज को यह बात समझाई जाती है कि उसका नशा और लत वाकई में एक बीमारी है जिसके लिए इलाज जरूरी है। तीसरे हफ्ते में मरीज के भावनात्मक तनाव और गुस्से के नियंत्रण के लिए REBT थेरेपी का उपयोग होता है। REBT थेरेपी का इस पुस्तक में पहले वर्णन किया जा चुका है। क्योंकि एडिक्शन से तनाव बढ़ता है इसलिए कुछ आगे करने से पहले, मरीज का अपने मन और दिमाग पर नियंत्रण रखना बेहद जरूरी होता है। चौथे हफ्ते में समय और पूंजी के, समुचित प्रबंधन पर जोर होता है। इससे मरीज का आत्म-विश्वास बढ़ता है। इससे मरीज नए जीवन की योजना बनाकर उस दिशा में आगे बढ़ सकता है। अंतिम सप्ताह में मरीज को 'रीलैप्स' से बचने के गुर सिखाए जाते हैं। और नियमित रूप से फॉलोअप के फायदे बताए जाते हैं। इस हफ्ते मरीज 'रीलैप्स' के खतरों को अच्छी तरह समझता है।

इन पांच हफ्तों का एक प्रारूप है पर वो एकदम पक्का नहीं होता है। इलाज का कार्यक्रम काफी लचीला होता है और उसके हरेक पक्ष में परिवर्तन किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए पूरे इलाज का खर्चा 11,500 रुपए आता है। परन्तु गरीबों के लिए यह पूरा उपचार निशुल्क होता है। जो लोग शुरू में फीस नहीं जमा कर सकते, उन्हें किश्तों में पैसे भरने की सहूलियत दी जाती है। ऐसे बहुत से मरीज हैं जो इलाज खत्म होने के बहुत बाद, आर्थिक रूप से अपने पैरों पर खड़े होने के बाद ही फीस दे पाते हैं। इससे स्पष्ट होगा कि नियमों के पालन में काफी लचीलापन बरता जाता है। वास्तविकता यह है कि ड्रग्स एडिक्ट्स के पुनर्वसन में उनके साथ कठोरता और सख्ती से पेश नहीं आया जा सकता है। अगर हम सिर्फ नियम-कानूनों से बंधे रहते तो हम कभी भी इतने ज्यादा मरीजों तक नहीं पहुंच पाते।

मुक्तांगन में जब ऐसा कोई मरीज आता है जिसकी शारीरिक अवस्था का इलाज हम करने में असमर्थ होते हैं तो हम उसे ससून अस्पताल या फिर इन्लैक्स अस्पताल भेज देते हैं। हम मरीज के रिश्तेदारों से उसे सीधे इन अस्पतालों में ले जाने को कहते हैं। सुनंदा के देहांत के बाद हमारी बड़ी बेटी मुक्ता पुणताम्बेकर, मुक्तांगन का कार्यभार

देखती है। मुक्ता द्वारा फोन पर बताए निर्देशों के बाद, हमारे वार्ड-स्वयंसेवी तुरन्त मरीज के रिश्तेदारों से सम्पर्क साधते हैं। स्वयंसेवी, रिश्तेदारों के आने तक मरीज की उस अस्पताल में अच्छी देखभाल करते हैं। कई रिश्तेदार दूर-दराज गांवों से आते हैं और इसमें उन्हें समय लगता है। मुक्तांगन के स्वयंसेवकों द्वारा मरीज की अच्छी देखभाल को देखकर अक्सर रिश्तेदारों को बहुत आश्चर्य होता है। वो मरीज को एक कप चाय पीने के लिए भी कभी अकेला नहीं छोड़ते हैं। हमारे स्टॉफ की कर्मठता की जब वाह-वाही होती है तो हमारा सीना गर्व से फूल जाता है। इन अस्पतालों में जब मरीज के रोग का इलाज खत्म होता है तो फिर वह मुक्तांगन में नशा-मुक्ति के लिए दाखिल होता है।

अगर किसी मरीज के रिश्तेदार का देहान्त होता है तो उसे अंतिम संस्कार में भाग लेने के लिए उसे घर भेजा जाता है। इस मौके पर मरीज में, दुबारा से नशा करने की प्रबल ललक होती है परन्तु कोई अंदरूनी शक्ति उसे बिना नशा किए वापस मुक्तांगन ले आती है। ऐसे मरीजों के आत्म-अनुशासन की, बस प्रशंसा ही की जा सकती है।

मैं यहां आपको प्रतिभाशाली बंधू की कहानी सुनाना चाहता हूं। जब भी वो मेरे घर आता, वो हमेशा जमीन पर मेरी कुर्सी के पास बैठने की जिद करता। जब कभी मैं उसे अपने साथ बैठाता तो वो कहता, “बाबा, मुझे यहीं अच्छा लगता है।” मुक्तांगन, उसके लिए सब कुछ था। बंधू वाकई में बहुत होनहार इंसान था। उसने एक नाटक का निर्देशन किया जिसके रिकार्ड-ब्रेकिंग शो हुए। वो चित्रकार था और खिलाड़ी भी, और बच्चों का अच्छी तरह मनोरंजन कर सकता था। वो हारमोनियम बजाता था, गाने गाता था, और दूसरों को गाने के लिए प्रेरित करता था। वो औरैगैमी प्रदर्शनियां आयोजित करने में मेरी मदद करता था और मेरी औरैगैमी कृतियों के लिए सख्त आधार तैयार करता था, और जो बच्चे औरैगैमी कार्यशालाओं के लिए आते थे उनका भरपूर मनोरंजन करता था। उसने कई औरैगैमी के मॉडल बनाने की कला सीखी, जिसे वो दूसरे मरीजों को सिखाता था।

मुक्तांगन पर एक फिल्म बनी थी और उसमें बंधू को एक एडिक्ट का रोल निभाना था। यह एक रोचक किस्सा है। मशहूर फिल्म निर्माता सुमित्रा भावे (जो मेरी बहुत पुरानी मित्र हैं) और सुनील सुकथनकर ने मुक्तांगन पर एक अल्प-बजट की फिल्म बनाने में रुचि दिखाई। उस समय वे फिल्म बनाने में नए-नए थे। पर सुमित्रा, मुक्तांगन कई बार आई थीं। वो हमारी संस्था को अच्छी तरह जानती थीं। उन्होंने एक उपयुक्त स्क्रिप्ट लिखी और उसमें बंधू को एक रोल दिया। बंधू वैसे अच्छी एक्टिंग करता था। बंधू ने बहुत दिल लगाकर काम किया। फिल्म की शूटिंग पंद्रह दिनों तक

चली और उस दौरान मुक्तांगन में मरीजों और स्टॉफ की पूरे दिन-रात भागीदारी रही। हमारे युवा साथियों के सहयोग से सुमित्रा बहुत प्रभावित हुई। “यह लोग कभी बोर नहीं होते। वे घंटों भारी-भरकम माईक्स और उपकरण उठाए खड़े रहते हैं,” सुमित्रा ने कहा। फिल्म का नाम ‘मुक्ति’ था और वो बाद में हमारे लिए एक शैक्षणिक औजार बनी। हम नुक्कड़ नाटक के बाद इस फिल्म को श्रोताओं को जरूर दिखाते हैं। मरीजों के हरेक नए बैच को यह फिल्म अवश्य दिखाई जाती है। शूटिंग समाप्त होने पर एक मरीज ने अच्छी टिप्पणी की, “बाबा, हमें शूटिंग में बहुत मजा आया। इस प्रकार का कोई प्रोजेक्ट लगातार चलता रहना चाहिए। उससे हमें इलाज में मदद मिलती है। समूहों में काम करने से हमारा उपचार भी होगा।”

बंधू फिल्म की शूटिंग समाप्त होने के बाद भी बहुत उत्साह से काम करता रहा। उसमें प्रतिभा थी और उसके मुक्तांगन में दूसरी पीढ़ी के प्रबंधक बनने की क्षमता थी। परन्तु बंधू के व्यक्तित्व में कुछ कमी भी थी। उसका मूड बदलता रहता था, उसका काम सुसंगत नहीं था। जब वो अच्छे मूड में होता तो बहुत सुंदर काम करता। परन्तु गुस्सा होने वो बेहद चिड़चिड़ा और आक्रामक हो जाता। वो मरीजों की बहुत अच्छी देखभाल करता, पर उन्हें बहुत डांटता भी था। उसके प्रति अथाह प्यार होने के कारण उसके मित्र उसके खराब मूड को बर्दाश्त करते थे। उन्होंने हमसे सीधे आकर बंधू की कभी शिकायत नहीं की। परन्तु बंधू के मूड का अनुमान उसे देखकर ही लगाया जा सकता था। सामान्य तौर पर आज्ञाकारी बंधू गुस्से में खूब वाद-विवाद करता और अपनी आंखों को गोल-गोल घुमाता था। वो ऊर्जा का एक शक्तिशाली स्रोत था - जो सही दिशा में बहुत उत्पादक हो सकता था और गलत दिशा में विनाशकारी भी हो सकता था।

उसके खराब मूड के दौरान हम उसका खास ख्याल रखते थे। बंधू के खराब मूड की खबर सब तरफ फैल जाती और लोग शांत रहते। तब मैं बंधू से, वेतन सहित एक महीने की छुट्टी पर घर चले जाने को कहता। घर जाने के लिए मजबूर किए जाने पर, वो दो-तीन दिनों बाद मुक्तांगन वापस चला आता था। फिर वो मुझे कहीं बाग के एक कोने में मिलता और कहता, “बाबा मैं घर पर बिल्कुल बोर हो गया। क्या मैं वापस आ सकता हूँ? मुझे अपनी गलती समझ में आई है और मैं फिर दुबारा गलती नहीं करूंगा। मैं मुक्तांगन वापस आ रहा हूँ।” मुक्तांगन के बाहर बंधू की वही हालत थी जैसी मछली की पानी के बाहर होती है। वो मुक्तांगन वापस आने के लिए मेरी अनुमति का इंतजार करता। अनुमति मिलने के बाद वो तुरन्त अपने वार्ड में दौड़कर जाता।

मैं एक अन्य कार्यकर्ता मुधोलकर के साथ भी यही नीति अपनाता था। वो एक बहुत कर्मठ कार्यकर्ता था, पर अनुशासनहीनता उसे बिल्कुल पसंद नहीं थी। उसे जब गुस्सा आता तो अन्य लोग उसकी देखभाल करते। कई बार उसके गुस्से के कारण ठीक होते थे परन्तु फिर भी उसकी अप्रसन्नता दूसरों के लिए झेल पाना मुश्किल होती और हानिकारक भी। इन मौकों पर मैं उसे घर भेज देता था। उसकी तनख्वाह का चेक भी घर के पते पर भेज दिया जाता था। 'वेतन के साथ छुट्टी' यह मेरा गुस्से से निबटने का तरीका था। लोगों को विश्वास नहीं होता है परन्तु इस तरीके के अच्छे परिणाम निकले। कुछ समय पश्चात मुधोलकर जैसे लोग एक नया नजरिया लेकर वापस लौटते।

मुधोलकर जैसे लोगों का गुस्सा और तनाव कम करने के लिए सुनंदा उन्हें दवाईयां देती थी। वैसे सुनंदा का परामर्श (काउंसिलिंग) और कम-दखल देने वाली चिकित्सा में ही विश्वास था। पर एक सायकियैट्रिस्ट की हैसियत से वो अपने मरीजों के रोगों से अवगत थी। वो अपने मरीजों को क्या दवाईयां देती थी इसका खुलासा सुनंदा कभी नहीं करती थी। दवाईयों को गुप्त रखा जाता था। सुनंदा को यह भी पता था कि मुधोलकर को दवाईयां दुबारा कब शुरू करनी हैं। सुनंदा के देहान्त के बाद जब मुधोलकर ने डॉ. आनंद नाडकर्णी से सम्पर्क किया तब उन्होंने कहा, "मैंने सुनंदा वाली गोली चालू रखी है। बरसों तक उन दवाईयों के कारण मुधोलकर खुद पर नियंत्रण रख पाया।"

नायर और मुधोलकर जैसे मरीजों के व्यक्तित्व में दोष था और उसे सुनंदा बहुत अच्छी तरह समझती थी। इन मरीजों के इलाज में जब कुछ कमी रहती थी तो भी सुनंदा शांत रहती थी। वो मरीजों को उनकी सीमाओं के साथ स्वीकार करती थी। जब मरीजों का बुरा वक्त निकल जाता तो उनका बर्ताव फिर से सकारात्मक हो जाता था।

मुक्तांगन में मरीजों के लिए 'अनिवार्य आराम' को एक मैनेजमेंट तकनीक जैसे उपयोग किया गया था। आनंद नाडकर्णी ने उसे 'बाबा मैनेजमेंट तकनीक' का नाम दिया, क्योंकि लोगों को अनुशासित करने के लिए मैंने इस तकनीक की बहुत सिफारिश की थी। मुझे खुशी है कि आनंद जो कि एक मैनेजमेंट गुरु हैं और जो बड़ी कम्पनियों के सीनियर अधिकारियों को ट्रेनिंग देते हैं ने इसे एक प्रभावी तकनीक के रूप में स्वीकार किया।

जिन मरीजों और स्टॉफ के साथ मुक्ता को मुश्किलें आती थीं वो उन्हें मेरे पास भेज देती थी। मैं उस व्यक्ति से तात्कालिक समस्या को छोड़कर अन्य तमाम विषयों पर बात करता था - उसके परिवार, मौसम, नए प्रोजेक्ट आदि के बारे में। मैं मरीज की समस्या के बारे में करूं इस अपेक्षा से मुक्ता मुझे याद दिलाती थी, "बाबा वो वही गलती बार-बार दोहरा रहा है। कृपा कर आप उसके बारे में बात करें।" पर मेरी

आदत मरीजों को बार-बार उपदेश देने की नहीं थी। अगर व्यक्ति को समस्या पहले ही पता हो तो उसे भला उसे बार-बार दोहराने से क्या लाभ होगा? जब अगली बार मैं उस व्यक्ति से बात करता, तो वो क्षमा-याचना की तर्ज पर अपना सिर नीचे झुकाए मेरे सामने बैठा होता। मैं उसे अपनी पुरानी गलतियों के बारे में बताता और मैंने उन्हें कैसे ठीक किया यह भी बताता। मेरे ख्याल से मरीजों को इस तरह मेरा संदेश मिल जाता था।

मुझे लगता था कि मरीज की गलती का सबूत पेश करने से कोई विशेष लाभ नहीं होता था। इससे मरीज अपनी आत्मरक्षा के लिए बचाव करता था। इसलिए मुझे सीधे-सीधे उपदेश देना अच्छा नहीं लगता था। मुझे पता था कि उसके जीवन में सुधारात्मक कार्यवाही का एक रोल था। परन्तु उस कार्यवाही से व्यक्ति की सृजनात्मक ऊर्जा के साथ समझौता नहीं होना चाहिए। अगर मरीज की सृजनात्मक ऊर्जा समाप्त हो गई तो फिर वो कभी ठीक नहीं होगा। मैं किसी मरीज के बातचीत करते समय खुद को एक गवाह के कटघरे में खड़ा करता था। पहले मैं खुद की व्यक्तिगत गलतियाँ गिनाता था, जिनकी संख्या बहुत अधिक होती थी। इन सीमाओं के बाद मैंने खुद को कैसे बदला यह भी बताता था। इससे मुझे संत तुकाराम की दो पंक्तियाँ याद आती हैं, “दूसरों के दोष क्यों देखो जब तुम में दोष भरे पड़े हैं।” मैं चूक करने वाले लोगों से बातचीत के समय इस सिद्धांत को याद रखता था। लोग इसे मेरे द्वारा इजाद की गई मैनेजमेंट तकनीक की संज्ञा देते थे परन्तु वास्तविकता में ‘भूलो और माफी’ की तकनीक एक व्यावहारिक बुद्धि की उपज थी। सभी माताएं अपने बढ़ते बच्चों के साथ यह तकनीक उपयोग करती हैं। यह सिद्धांत मुक्तांगन पर भी लागू होता है क्योंकि वो भी बहुत लोगों का घर है।

मुक्तांगन वाकई में एक घर है। उससे चीजें काफी आसान हुई हैं। जबकि सुनंदा जीवित थी, तब तक वो सभी के लिए मां थी। इसलिए अब मैं सभी के लिए पिता समान हूं। अपनी दोनों बेटियों यशो और मुक्ता के लिए मैं बाबा हूं। मैं सभी के लिए बाबा हूं और उनमें राजाराम जैसे मरीज भी शामिल हैं। इस जिम्मेदारी, इन रिश्तों को निभाने के अलावा अब मेरे पास कोई और चारा भी नहीं है। जब बंधू के पिता का देहान्त हुआ तो हम सब अस्पताल में मिले। बंधू ने कहा कि अब मैं उसके जीवन में एकमात्र पिता था।

इस पितृभाव को स्वीकार करना आसान नहीं है। इसकी वजह से मुझे बिना अपनी शांति खोए अन्य लोगों की मदद करनी पड़ती है। मेरे कंधों पर कितना भावनात्मक बोझ है इसे मुझे बार-बार याद रखना पड़ता है।

जैसे मैंने पहले बताया बंधू हमारे नुक्कड़ नाटकों के साथ बहुत करीबी से जुड़ा था। वो दादर में रहते समय नाटकों में भाग लेता और छबीलदास प्रायोगिक थियेटर आंदोलन के साथ जुड़ा था। उसने न केवल हमारा नुक्कड़ नाटक लिखा और निर्देशित किया वह उसका लगातार प्रदर्शन करता रहा। एक बार उसका गला बैठ गया और आवाज कर्कश हो गई। हर शो के बाद वो मुक्तांगन के बारे में जानकारी देता और सम्पर्क करने का पता बताता। इससे उन लोगों को फायदा होता जिन्हें इलाज अथवा परामर्श की जरूरत थी। बंधू के नुक्कड़ नाटक को मीडिया में बहुत वाह-वाही मिली। मुक्तांगन का नाम बंधू के नाम से जोड़ा जाने लगा। उसमें बिना माईक के, घंटों प्रदर्शन करने की अद्भुत क्षमता थी। स्थानीय पुलिस अफसरों के साथ हमारी सार्वजनिक बैठकों की शुरुआत, बंधू के नाटक से होती थी। नासिक में हमारे नशाबंदी अभियान के दौरान एक हफ्ते में बंधू ने 28 बार नाटक का प्रदर्शन किया। प्रसिद्ध मराठी साहित्यकार कुसुमाग्रज जो अंतिम सत्र की अध्यक्षता कर रहे थे हमारे नाटक से बहुत प्रभावित हुए। इसका पूरा श्रेय सुनंदा और उसके स्वयंसेवी टीम का है।

बंधू की कहानी अभी खत्म नहीं हुई है। एक बार अपने दुखी काल में उसने कहा, “मेरी प्रतिभा मुक्तांगन में निस्तेज हो रही है। मेरी भी कुछ व्यक्तिगत इच्छाएं और सपने हैं। मेरा सपना, नाटकों और फिल्मों में एक्टिंग करने का है।” मैंने कहा, “हमें तुम्हारी जरूरत है पर तुम अपने सपनों को बाहर की दुनिया में जाकर साकार करो। तुम्हारी कामयाबी से हमें बेहद खुशी होगी। पर असफल होने पर तुम मुक्तांगन वापस आने के लिए बिल्कुल नहीं हिचकिचाना। मुक्तांगन तुम्हारा घर है। यहां आने के लिए तुम्हें किसी की अनुमति की जरूरत नहीं चाहिए।” बंधू मुक्तांगन छोड़कर गया। उसने बहुत प्रयास किया परन्तु वो सफल नहीं हो पाया। वो बहुत दुखी हुआ और उसने फिर से ड्रग्स लेना शुरू किया। इस प्रकार कई बार धक्के खाने के बाद उसे आंतरिक शांति मिली। अब वो मुक्तांगन के अलावा एक जिमनेशियम में पार्ट टाइम प्रशिक्षक का काम करता है। अब वो फिर से लोकप्रिय बंधूदादा बन गया है। हम एक ओर उसके सुधार से बहुत खुश हैं दूसरी ओर कुछ शंकित भी।

अध्याय - 4

दुनिया में अन्य कोई शाखा नहीं ..

अब मैं मुक्तांगन के संस्थागत मुद्दों पर नजर डालूंगा। 1987 में पु. ल. फाउंडेशन द्वारा दिए एक लाख रुपए समाप्त हो गए। आदर्श स्थिति में राज्य सरकार को यह प्रकल्प अपने हाथ में ले लेना चाहिए था। परन्तु जैसे मैंने अध्याय-1 में जिक्र किया था, 'जीरो-बजट' के कारण महाराष्ट्र सरकार की हालत खराब थी और उनके द्वारा प्रकल्प का भार उठाने की कोई सम्भावना नहीं थी। उनका संदेश तीव्र और स्पष्ट था। सरकार नए प्रकल्प के प्रबंध और आर्थिक बोझ की जिम्मेदारी उठाने की स्थिति में नहीं थी। क्या हुआ अगर ड्रग्स जैसी नई समस्याएं उभरीं थीं? पर 'जीरो-बजट' में उनका निदान करना असम्भव था।

उस समय के स्वास्थ्य सचिव श्री डी. टी. जोसेफ अच्छे सिद्धांतों वाले इंसान थे। स्वास्थ्य विभाग में सचिव का पद स्वीकार करने के बाद उन्होंने खुद तम्बाकू की लत छोड़ने का भरसक प्रयास किया। पहले वो एक चेन-स्मोकर थे, और सिगरेट छोड़ने में उन्हें काफी कठिनाई हुई। एक बार वो दफ्तर में बेहोश भी हुए, परन्तु अंत में वो खुद को, सिगरेट की लत से मुक्त कर पाए।

जोसेफ, मुक्तांगन के काम को अच्छी तरह जानते थे। वो हमारे काम के प्रशंसक थे और मदद करना चाहते थे। परन्तु 'जीरो-बजट' के कारण उनके हाथ बंधे थे। बाद में उन्होंने सामाजिक कल्याण विभाग की सचिव सुश्री शशि मिश्रा से सम्पर्क किया। सुश्री मिश्रा ने उनसे केंद्र सरकार की एक स्कीम के तहत अनुदान मांगने को कहा। महाराष्ट्र में उस स्कीम के क्रियांवन की पूरी जिम्मेदारी सुश्री मिश्रा पर थी। उन्होंने नई दिल्ली में केंद्र सरकार की संयुक्त सचिव सुश्री आशा दास से फोन पर बात की और हमारे लिए आवेदन पत्र मंगाए। क्योंकि उस समय मैं अमरीका में था इसलिए आवेदन पत्र काफी समय तक ऐसे ही पड़े रहे। जब मैंने उन्हें चार महीनों के बाद देखा तो सुनंदा को लगा कि मुक्तांगन का काम उस स्कीम के अंदर फिट नहीं होगा। “हम अपने मरीजों का पांच हफ्ते इलाज करते हैं, जबकि इस स्कीम में केवल सात दिनों की भर्ती का प्रावधान है। इसलिए अगर हमने इस स्कीम को स्वीकार किया तो

बाद में जरूर समस्याएं आएंगी। फिर हमारा तरीका भी इस स्कीम से बहुत भिन्न है,” सुनंदा ने कहा।

पर मैंने सुश्री मिश्रा को मिलने के बाद ही कोई ठोस कदम उठाने की सोची। मैं उनसे मंत्रालय में मिला। सुश्री मिश्रा ने मुस्कराते हुए मुझसे स्कीम का लाभ लेने को कहा, “बहुत विस्तार से सूक्ष्म विवरण मत दो। स्कीम का लाभ उठाओ। तुम्हारी संस्था तो स्कीम में सुझाए काम से बहुत ज्यादा काम कर रही है? इसलिए अपना अच्छा काम जारी रखो। देखो, तुम्हें अच्छा काम करने से कोई नहीं रोकेगा।”

कुछ समय बाद हमें एक बहुत मोटी रकम का चेक मिला। हमें चेक मार्च 1988 में मिला पर उसमें नवम्बर 1987 से शेष राशि भी जोड़ी गई थी। स्कीम द्वारा निर्धारित स्टॉफ भी हमने नियुक्त नहीं किए थे। जिन लोगों को हमने अनुदान के फंड से वेतन दिया उन्होंने भी पैसे लौटा दिए - क्यों उन्होंने स्वयंसेवियों जैसे, बिना वेतन की अपेक्षा के काम किया था। उन्होंने अप्रैल 1988 के बाद के वेतन को ही स्वीकारा। इसलिए उस वर्ष के अनुदान का बड़ा हिस्सा हमें लौटाना पड़ा। आसपास के व्यावहारिक लोगों को यह ठीक नहीं लगा। “किसी भी ऐरा-गैरा के दस्तखत करके पैसे ले लो। इससे संस्था को ही लाभ होगा। पैसे वापस क्यों भेज रहे हो? क्या यह पैसा केंद्रीय सरकार का है?” इसके बावजूद हम अपने अनुदान की ज्यादातर रकम को वापस भेजते रहे। मुक्तांगन में जितने लोग काम करते थे हम उतने ही पैसे लेते थे। बाद में हमारा सम्पर्क अन्य सामाजिक संस्थाओं और दिल्ली में मित्रों से हुआ। उन सभी ने पैसे रखने की नसीहत दी। “देखो डॉक्टर, कभी भी अनुदान के पैसे वापस मत करो, नहीं तो अगले साल और कम फंड मिलेगा। कुछ ऐरा-गैरा नाम जोड़कर पैसे ले लो। मुक्तांगन में वे लोग काम करते हैं या नहीं, इसकी जांच करने की किसको फुर्सत होगी?”

मुझे खुशी है कि मैंने उनकी सलाह नहीं मानी। हम कम पैसे में ही खुश थे। जैसे-जैसे मुक्तांगन का काम और स्टॉफ बढ़ा वैसे-वैसे हमारी ग्रांट भी बढ़ी। पिछले सालों में रुपए का इतना अवमूल्यन हुआ है कि वर्तमान अनुदान हमें उतना बड़ा नजर नहीं आता है। मुझे याद है कि पहले साल में ग्रांट की अवधि खत्म होने से भय से हमने बहुत तेजी से पलंग, गद्दे, तकिए और मेडिकल उपकरण आदि खरीदे। पहले हम अपने स्टॉफ को मात्र 200 रुपए मासिक देते थे परन्तु अब यह वेतन बढ़कर 3,000 से 10,000 रुपए मासिक हो गया है। हमने हरेक स्टॉफ मेम्बर का बैंक खाता खुलवाया है। पहले साल में हिसाब-किताब में अज्ञानता के कारण हम से कुछ गलतियाँ भी हुईं। परन्तु चार्टर्ड एकाउंटेंट (सीए) की फटकार के बाद से हम अब छोटे-छोटे बिलों का भुगतान भी चेक द्वारा करते हैं। सीए ने हमारे बदलाव की प्रशंसा की।

केंद्रीय सरकार कुछ अलग थी और उसकी अपेक्षाएं भी अलग थीं। सारे जरूरी कागजात भेजने के बावजूद वो और बेफालतू के कागज मांगते रहते थे। सारे कागजातों की चार प्रतिलिपियां भेजने के बाद फिर भी वो कोई आपत्ति लगाकर अनुदान भेजने में देरी करते थे। कई बार मुझे दिल्ली जाना पड़ता सिर्फ यह सुनिश्चित करने के लिए कि उन्हें सारे कागजात सही सलामत मिले, या नहीं। इस बात की सम्भावना भी थी कि कहीं वे आखिरी क्षण पर कोई अन्य आपत्ति न खड़ी कर दें।

दिल्ली जाने की सम्भावना से मुझे बहुत परेशानी होती थी। मैं मजबूरी में शास्त्री भवन जाता। यह बिल्डिंग अन्य सरकारी इमारतों की तुलना में काफी जर्जर थी। जब मैं पहली बार वहां गया तो एक मुख्य हाल में मेजों और अल्मारियों के ऊपर फाइलों और कागजों के पुलिंदे लदे पड़े थे। वहां एक यूनित में एक अफसर बैठा था। हमें जो चेतावनी के पत्र मिलते थे, उस पर उसी के हस्ताक्षर होते थे। मैंने उन्हें अपना परिचय दिया और पुणे स्थित अपनी संस्था के कागजात दिखाए। उन्होंने मेरी तरफ न तो देखा, और न ही मुझसे बैठने को कहा। उन्होंने सिर्फ इतना कहा, “क्या?” मैंने उत्तर दिया, “आपने जो पत्र लिखा था उसके अनुसार मैं सारे कागजात लाया हूं।” फिर उन्होंने कम शब्दों में कहा, “उन्हें उधर रख दो।” उन्होंने एक ट्रे की तरफ इशारा किया जो पहले ही कागजों से भरी थी। मैंने हिम्मत करके फिर पूछा, “क्या कुछ और कागजातों की जरूरत होगी।” इस पर उसका उत्तर था, “उन्हें तब भेजना जब हम मांगें।”

हम दोनों के बीच में बस यही बात हुई।

जब हमारी मित्रता दिल्ली में कार्यरत कुछ सामाजिक संस्थाओं से हुई तो उन्होंने कहा, “काम तभी आगे बढ़ता है जब आप खुद अपनी फाईल को खोजकर उसमें नए कागजात लगाते हैं। कोई अफसर आपके लिए यह काम कभी नहीं करेगा।” हमें यह भी बताया गया कि हमारे द्वारा भेजे हुए कागजात रिसपेशन पर कई दिनों तक लावारिस पड़े रहते थे। वो अपने सम्बंधित विभागों में तभी जाते जब कोई लिफ्ट के पास पड़े बोरों के पुलिंदों को साफ करता। इस प्रक्रिया में किसी भी कागजात के खोने की बड़ी आशंका थी।

बाद में हम इस सबके अभ्यस्त हो गए और ऐसी बातों पर हमें आश्चर्य होना बंद हो गया। दिल्ली के राजेश कुमार FINGODAP (फेडरेशन ऑफ इंडियन एनजीओज फॉर ड्रग एब्यूज प्रीवेन्शन) के प्रमुख थे। उनसे हमारी मित्रता हुई। उन्होंने हमारी सहायता भी की। हम मंत्रालय में कागजात भेजने से पहले चेकिंग के लिए उन्हें राजेश कुमार को भेजते थे। वो हमारे कागजात दफ्तर में जाकर प्रस्तुत करते और उनपर

हस्ताक्षर करवाते। काम करवाने का उनका एक विशेष तरीका था। वो बातचीत में कुशल थे और अफसरों से काम निकाल लेते थे। मैं यह काम कभी न कर पाता।

हमारी जैसी संस्थाएं चलाने वाले कई लोगों से बाद में मेरी मुलाकात हुई - राजेश कुमार, चेन्नई की शांति रंगनाथन और राजस्थान के श्री मलकालाव से। शास्त्री भवन में एक बार चाय पर मिलने के बाद हमने अलग से एक मीटिंग करने की योजना बनाई।

“पहली मीटिंग हम पुणे में करें। उसके लिए व्यवस्था हम करेंगे।” मैंने FINGODAP की पहली बैठक के लिए उन्हें पुणे आमंत्रित किया। उस समय पुणे विद्यापीठ के कुलपति वसंत गोवारीकर ने हमें यूनिवर्सिटी का परिसर और वहां के होस्टल के उपयोग की अनुमति दी। भाग्यवश उस समय छुट्टियां थीं इसलिए हम यूनिवर्सिटी की अनेकों सहूलियतों का भरपूर उपयोग कर पाए। प्रसिद्ध वैज्ञानिक जयंत नारलीकर ने प्रतिष्ठित मेहमानों के लिए अपनी संस्था ‘आयुका’ में कमरे बुक किए। उस समय सुश्री शशि मिश्रा, यशवंतराव चव्हाण प्रशासनिक संस्था की निदेशक थीं। उन्होंने भी अपनी संस्था में लोगों के ठहरने का प्रबंध किया। इस शिखर सम्मेलन के लिए पूरे भारतवर्ष से 300 प्रतिनिधि पुणे आए। दिल्ली से स्वास्थ्य विभाग के संयुक्त सचिव आनंद बोर्डिया और उनके साथी भी आए। ड्रग्स निवारण में सक्रिय स्वयंसेवी संस्थाएं और सरकारी अफसरों में पहली बार वार्तालाप हुई। इससे इन संस्थाओं को सरकारी अफसरों के बंधनों और सीमाओं को समझने में मदद मिली। यह जानकर हमें बहुत ताज्जुब हुआ कि इस क्षेत्र में काम करने वाली 300 स्वयंसेवी संस्थाओं की फाइलों को केवल दो क्लर्क ही देखते थे। इस स्थिति में त्वरित कार्यवाही की उम्मीद करना गलत था। अभी तक हम सरकारी विभागों के लिए महज कागजात और फाइल थे। पर अब वो हमारा असली चेहरा देख पाए थे।

मुक्तांगन द्वारा आयोजित यह पहला राष्ट्रीय सम्मेलन था। हमारी टीम ने सारे मेहमानों की बेहतरीन खातिरदारी की। औपचारिक समारोह की जिम्मेदारी आनंद की थी। उसने एक सुंदर और संक्षिप्त कार्यक्रम आयोजित किया। बोर्डिया ने कहा, “यह व्यक्ति काम में कितना कुशल है। आपने इन्हें कहां खोजा?” मैंने उत्तर दिया, “यह सुनंदा का प्रिय बेटा है। हमने इन्हें नहीं खोजा। इन्होंने हमें खोज निकाला।”

एक दिन हमने सभी प्रतिनिधियों को मुक्तांगन आमंत्रित किया। वे इससे बहुत खुश हुए और उन्होंने हमारे कार्यकर्ताओं से खूब बातचीत की। अतिथियों को मुक्तांगन के कार्यक्रमों के बारे में, और स्टॉफ द्वारा मरीजों की विशेष देखभाल के बारे में बताया गया। FINGODAP के सदस्यों ने इन बातों को बहुत ध्यान से सुना।

नई दिल्ली में होने वाली मीटिंग्स में मैं सामान्यतः बहुत शांत रहता था, और लोग भी मुझ पर बहुत ध्यान नहीं देते थे। परन्तु मुक्तांगन के प्रयोग ने वाकई में नया पथ प्रशस्त किया और उससे लोग बहुत प्रभावित हुए। स्कीम में निर्धारित काम से हमने कहीं अधिक काम किया था। हमारे इलाज की अवधि सरकार द्वारा सुझाई अवधि से पांच गुना लम्बी थी। हमारे प्रोजेक्ट में वो विशेषताएं थीं जिनका सरकारी स्कीम में कहीं जिक्र तक नहीं था जैसे - मरीजों द्वारा एक हस्तलिखित मासिक पत्रिका, विशेष बैठकें जिसमें मरीज का जीवनसाथी हिस्सा ले, और एडिक्ट्स के बच्चों के लिए खास कार्यक्रम। बोर्डियाजी ने पूछा, “जब आप इतना कुछ करते हैं तो फिर हमें इसके बारे में हमें बताते क्यों नहीं हैं?”

मैंने कहा, “हम आपके सारे कागजात और फार्म आदि भरते हैं।”

उन्होंने पूछा, “पर आप जो अतिरिक्त कार्य करते हैं, उसका क्या?”

“सामाजिक दृष्टि और समाज सुधारक महर्षि कर्वे हमारी प्रेरणा हैं। उन्होंने चुपचाप रहकर लगातार काम करते रहने का सबक हमें सिखाया। अपनी उपलब्धियों का हम खुद क्यों गुणगान करें?” मैंने बोर्डियाजी से कहा।

बाद में आनंद बोर्डिया हमारे मित्र बनें। वो एक कर्मठ और दृष्टिवान अफसर थे। उन्होंने अनुदान वाली सरकारी स्कीम में संशोधन किया। उन्होंने एक कमेटी गठित की जिसमें मुझ जैसे सदस्यों से बदलाव और सुधार के सुझाव दिए। उन्होंने ड्रग्स-मुक्ति के क्षेत्र में चार अच्छी संचालित संस्थाओं को चुना (उनमें मुक्तांगन प्रथम स्थान पर थी)। इन संस्थाओं को बाकी क्षेत्रीय संस्थाओं को सहयोग देने का काम सौंपा गया। इन चार के समूह में, बाद में तीन और संस्थाओं को जोड़ा गया। इन निरीक्षक संस्थाओं को RRTC (रीजनल रिसोर्स एंड ट्रेनिंग सेंटर) का नाम दिया गया। मुक्तांगन को पश्चिमी भारत में गुजरात, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, महाराष्ट्र और गोवा के ड्रग्स-मुक्ति केंद्रों के सहयोग, सुधार और निरीक्षण का काम सौंपा गया। उसके बाद से मुक्तांगन के प्रति केंद्रीय सरकार का रवैया पूरी तरह बदल गया। बोर्डियाजी और उनके साथियों ने दिखाया कि स्कीम के लाभार्थियों के साथ मिलकर बेहतर काम किया जा सकता था।

इसके पीछे उद्देश्य था - सरकार अनुदान मांगने वालों को बेफजूल परेशान ना करे, उनसे बेकार के कागजात न मंगाए। रोचक बात यह थी कि जो लोग जमीन पर कुछ काम नहीं करते उनके कागजात सबसे अपटूडेट होते थे। सिस्टम ऐसे कामचोर लोगों को स्वीकार करता था क्योंकि ये लोग बहुत चालू होते थे। वो निरीक्षण के समय, इंस्पेक्टरों के साथ भी साठगांठ कर लेते थे। पर जो लोग बहुत ईमानदारी से काम में करते हैं उनमें अक्सर इस प्रकार की सड़क छाप कुशलताएं नहीं होती हैं। ऐसे लोग तकनीकी मुद्दों में फंस जाते हैं और इसे उनकी कमजोरी समझा जाता है।

हमने इन सभी दबावों को झेलते हुए अपना काम जारी रखा। हम अपना काम बंद करने को तैयार थे, पर सिद्धांतों से समझौता करने को नहीं। पर शुक्र है सिस्टम के उन कुछ अच्छे लोगों का जिनके कारण हमें अपना काम बंद नहीं करना पड़ा। कुछ लोगों को हमारा काम सचमुच अच्छा लगा और फिर उन्होंने हम से बेकार की चीजें मांगना बंद किया। इस प्रकार हम मुक्तांगन की एक अच्छी छवि पैदा कर पाए। एक अफसर ने बाद में स्वीकार किया, “आप इसलिए जीते क्योंकि आपके सद्व्यवहार को विभाग के चालाक लोगों ने भी स्वीकार किया। यह वाकई में सच्चाई की झूठ पर जीत थी।” हम कुछ लोगों पर अपना प्रभाव डाल पाए इसकी मुझे खुशी थी। पर ऐसे लोगों की भी कोई कमी नहीं थी जो देश के सभी संसाधन निगलना चाहते थे।

हमें ऐसे अनेक अफसर, क्लर्क और चपरासी मिले जो ईमानदारी से अपना काम करते थे। उन्हें भी मुक्तांगन की सफलता का श्रेय जाता है। इसीलिए हम कभी भी मुक्तांगन ‘हमारा है’ कहने का दावा नहीं करते। वास्तव में मुक्तांगन ‘हम सबका है’। हम उन तमाम भले लोगों का अहसान कैसे भूल सकते हैं जिन्होंने ईंट-पर-ईंट रखकर मुक्तांगन की इमारत का निर्माण किया? मुझे अपने मित्र अरुण घाटे की याद है जो मुम्बई में मंत्रालय में काम करते थे। वो एक गुणी पाठक, अच्छे कवि और चित्रकार थे। मंत्रालय की कागजों से भरी मरुभूमि में, अरुण मेरे लिए एक सब्ज-बाग जैसे थे। जब कभी भी सरकार से हमें कोई नोटिस या चेतावनी मिलती, तो हम सीधे अरुण के पास भागते। हम उनकी राय जानने की कोशिश करते बिल्कुल वैसे ही, जैसे लोग डॉक्टर से किसी मर्ज का इलाज पूछते हैं। उनके शब्द हमें हमेशा आश्वस्त करते, “फिक्र मत करो। मैं सम्बंधित अफसर से बात कर लूंगा।”

हमें लोगों ने बताया कि प्रत्येक सामाजिक संस्था का एक पब्लिक रिलेशंस अफसर होता है जिसका काम सरकारी दफ्तरों के चक्कर लगाना होता है। अरुण ने कई बार मुझ से ऐसे व्यक्ति को नियुक्त करने को कहा, जो सरकार को, हमारी तात्कालिक जरूरतों से अवगत कराता रहे। “तुम्हारी पीआर (पब्लिक रिलेशंस) कमजोर है,” वो हमेशा हमें यह चेतावनी देता।

एक बार मैंने उससे कहा, “पर हमने तो पीआरओ नियुक्त किया है।”

“क्या मैं उससे मिला हूँ?”

“हमारे पीआरओ तो आप ही हैं, आप ही हमारी मुश्किलों में काम आते हैं,” मैंने उत्तर दिया। फिर हम दोनों ने आईसक्रीम खाई और खूब हंसे।

मैंने अरुण से पूछा कि सरकार हमें लगातार नोटिस और चेतावनी क्यों भेजती है - कभी प्रशंसा या उत्साह के दो शब्द क्यों नहीं कहती? अरुण ने कहा कि सरकारी

अफसरों को उसकी ट्रेनिंग नहीं दी जाती है। “हमें दोष निकालने की और टिप्पणियां लिखने की ट्रेनिंग दी जाती है। इसलिए हमसे कभी सकारात्मक प्रतिक्रिया की उम्मीद नहीं करना।”

धीरे-धीरे अरुण अफसरशाही के ढांचे में ऊपर चढ़े। वो एक क्लर्क से अंडर सेक्रेटरी के पद पर पहुंचे। भाग्यवश नए प्रयासों और प्रकल्पों में उसकी रुचि बनी रही। वो उबाऊ काम करने वाला सामान्य सरकारी बाबू नहीं बने। उसने सार्वजनिक स्वास्थ्य स्कीमों जैसे - ड्रग्स-मुक्ति, एड्स नियंत्रण और अंधेपन के निवारण के लिए अभिनव कार्यक्रम चलाए। हमें तब बहुत धक्का लगा जब अरुण जैसे ऊर्जावान अफसर ने, बहुत रहस्यमयी परिस्थितियों में खुदकशी की। हमें उसकी मृत्यु का बहुत दुख हुआ, क्योंकि मंत्रालय में वो हमारा एकमात्र मित्र था। पर मैं उसका बहुत शुक्रगुजार हूं क्योंकि उसी के प्रयासों के कारण मैं सरकारी तंत्र को भीतर से समझ पाया।

इसी प्रकार मेरा पुलिस विभाग की मशीनरी से भी परिचय हुआ। मैं पुलिस के बारे में बिल्कुल नादान था। सामान्य लोगों की तरह मुझे भी पुलिस से डर लगता था। भूरी वर्दी, मेडल्स और मूछों वाले अफसरों की संगत, मुझे कुछ अटपटी लगती थी। पर धीरे-धीरे करके पुलिस विभाग में भी मेरे कुछ अच्छे मित्र बने और मैं उनके कठोर चेहरों पर मुस्कराहट देख पाया।

पुलिस के साथ मेरे सम्बंधों का एक ही कारण था। हमारे बहुत से मरीज ड्रग्स के जंजाल में फंसे थे। एक युवा लड़के को एडिक्शन इसलिए था, क्योंकि वो एक ड्रग विक्रेता के बहुत समीप था। ड्रग विक्रेता अपने ग्राहक को छोड़ना नहीं चाहता था, इसलिए वो उसे मुफ्त में ड्रग्स देने का लालच दे रहा था। वो लड़के की ड्रग्स पर निर्भरता बढ़ाकर उसे वापस दुष्टता के जाल में खींचना चाहता था। विक्रेता, मुफ्त ड्रग्स के प्रस्ताव से, मरीज के दिमाग पर जोर डाल रहा था। ड्रग्स-मुक्ति के इलाज के दौरान जब मरीज ड्रग्स देखते हैं तो वे अपने संकल्प से डिग सकते हैं। तब एक प्रबल शक्ति उन्हें ड्रग पाऊच की तरफ खींचकर ले जाती है। उस क्षण की आंतरिक उथल-पुथल में, वो बाकी सबकुछ भूल जाते हैं।

उसे युवा ड्रग एडिक्ट की दुविधा को देखकर मैं क्राइम-ब्रांच के अंतर्गत आने वाले नारकोटिक्स विभाग के सब-इंस्पेक्टर दिलीप शिंदे के पास गया। शिंदे ने उस ड्रग विक्रेता पर नजर रखी और उसे गिरफ्तार किया। ड्रग्स का प्रलोभन चले जाने से वो युवा मरीज बच गया। इस केस से मुझे ड्रग विक्रेताओं की बिक्री को खत्म करने का एक सटीक तरीका सूझा। जब कभी भी कोई ड्रग एडिक्ट मुक्तांगन में दाखिल होता तो मैं उससे ड्रग विक्रेता और उसके एजेंट के नाम उगलवा लेता। यह जानकारी मैं

पुलिस को देता और वो उन ड्रग व्यापारियों के अड्डों पर छापा मारती। कई व्यापारी जो असल में एडिक्ट्स थे, इस प्रकार पकड़े गए। पुलिस को इस प्रकार ड्रग्स के धंधे, उसके तौर-तरीकों के बारे में, अच्छी जानकारी मिलती। ड्रग व्यापारी अक्सर अपनी गतिविधियों और कार्यवाही का तरीका बदलते रहते हैं। वो धंधे का स्थान बदल कर पुलिस को चकमा देते हैं। एडिक्ट्स मरीज हमें जानकारी उपलब्ध कराते - कौन कहां से ड्रग्स ला रहा है और किसे बेच रहा है आदि। इससे पुलिस को अपनी कार्यवाही और तहकीकात में मदद मिलती। इससे तमाम ड्रग व्यापारियों की गिरफ्तारी हुई। इसमें पुणे के दो शातिर ड्रग व्यापारी भी थे जो कई बार पुलिस को चकमा दे चुके थे और ड्रग एक्ट की खामियों का फायदा उठाकर जमानत पर रिहा हो जाते थे।

फिर हमने एक सेमिनार का आयोजन किया जिसका मकसद नारकोटिक्स ड्रग्स एंड साईकोट्रोपिक सब्सटैन्सिस एक्ट, 1985 में संशोधन करना था। इस सेमीनार में नामी-गिरामी वकील, हाई-कोर्ट और सेशंस कोर्ट के जज, वरिष्ठ पुलिस अफसर और मुक्तांगन जैसी संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। बाद में, सेमीनार के तमाम सुझावों को, नए एक्ट में शामिल किया गया। इससे ड्रग्स-विरोधी कानून और लचीला बना। इससे पुलिस की, ड्रग व्यापारियों और उनके एजेंट्स की कार्यप्रणाली और इंटेलिजेन्स एकत्रित करने, उसे बांटने और उसके विश्लेषण की क्षमता बढ़ी। जो लोग खुद एडिक्ट्स थे और ड्रग्स के कारण अपराधी बने थे, उनके लिए हमने उदारता की विनती की। हमने सरकार से ड्रग्स के नशे में अपराध करने वालों की जेल की सजाएं कम करने को कहा जिससे कि वे मुक्तांगन जैसी संस्थाओं के इलाज का लाभ उठा सकें। हमारे अधिकांश सुझाव स्वीकार किए गए।

पुणे में हमारे द्वारा शुरू की गई पहल को, बाद में महाराष्ट्र के कई हिस्सों में दोहराया गया। मरीजों से ड्रग व्यापारियों के पते पूछने की हमारी रणनीति को, अन्य कई जिलों ने अपनाया गया। वहां के ड्रग उपभोक्ताओं ने पुलिस को सूचना उपलब्ध कराई। सीआईडी (क्रिमिनल इन्वेस्टिगेशन डिपार्टमेंट) के प्रमुख भास्करराव मिसर (वो पहले पुणे के पुलिस कमिशनर थे) ने सूचना एकत्र करने के लिए मुक्तांगन में एक पुलिस अफसर की ड्यूटी लगाई। सूचना देने वाले मरीजों के नाम हमने पुलिस को कभी नहीं बताये। मुक्तांगन का स्टॉफ भास्कर मोरे, मरीजों से जानकारी इकट्ठी करता और वही सूचना पुलिस अफसर को देता। इस प्रकार की महत्वपूर्ण जानकारी से एक पूरा रजिस्टर भर गया।

हमने पुलिस से पूछा कि हमारे द्वारा दी गई संवेदनशील जानकारी क्या उनके काम आई? पुलिस ने उस जानकारी को अच्छी तरह व्यवस्थित किया और उसके आधार

पर 1000 से ज्यादा गांजा, अफीम और ड्रग विक्रेताओं और व्यापारियों को गिरफ्तार किया। उनपर अलग-अलग कोर्ट-कचहरियों में केस चले। हमारी जानकारी के आधार पर पुलिस इन गिरफ्तारियों में तेजी ला पाई, शायद मुम्बई जैसे महानगर में नहीं, परन्तु निश्चित तौर पर छोटे शहरों में। उसी काल में महाराष्ट्र पुलिस के डायरेक्टर जनरल श्री डी. एस. सोमण भी मुक्तांगन देखने आए। उन्होंने तुरन्त अपने अफसरों को आदेश दिए जिससे ड्रग्स के कई छोटे विक्रेता गिरफ्तार हुए।

कानून, ड्रग बेंचने वाले बड़े व्यापारियों और माफिया का, कुछ खास नहीं बिगाड़ पाता था। परन्तु सड़क पर ड्रग बेंचने वालों पर पुलिस जरूर कुछ कार्यवाही करती थी। यह स्वागत योग्य बात थी, क्योंकि उससे वो इलाका थोड़ा सुरक्षित होता था। मैं इसलिए खुश था क्योंकि जिन युवाओं का मुक्तांगन में इलाज चल रहा था, अब उन्हें ड्रग्स के सम्भावित लालच से सुरक्षित रखा जा सकता था।

जैसे-जैसे मैं ड्रग-मुक्ति कार्यक्रम में अधिक सक्रिय हुआ वैसे-वैसे मेरे शुभचिंतकों ने मुझे उसके नतीजों से भी अवगत कराया। उन्होंने कहा कि जिन लोगों के खिलाफ तुम लड़ रहे हो वो अपने निहित स्वार्थों को बचाने के लिए तुम पर आक्रमण भी कर सकते हैं। कुछ मित्र डॉक्टरों ने कहा, “तुम्हारा काम मरीजों का इलाज करना है। तुम ड्रग विक्रेताओं के पीछे पुलिस जैसे क्यों लगे हो? तुम पुलिस का काम क्यों कर रहे हो?” दूसरों ने कहा, “सावधान, तुम लक्ष्मण-रेखा लांघ रहे हो।”

इन मित्रों के लिए मेरा एक ही उत्तर था, “किसी न किसी को तो अपने आस-पड़ोस को साफ करना ही चाहिए। यह काम कोई तो करेगा, तो मैं क्यों नहीं? क्योंकि मैं इलाज करता हूँ इसलिए मैं नहीं चाहता कि मेरे मरीज ड्रग-मुक्ति के तुरन्त बाद इन अपराधी ड्रग विक्रेताओं से मिलें। इसलिए मैं अतिरिक्त कुछ नहीं कर रहा हूँ। यह तो इलाज का हिस्सा है।”

बहुत लोगों ने मुझे हमले होने की चेतावनी जरूर दी परन्तु मुझे कुछ हुआ नहीं। इसके उल्टे, पुणे के दो ड्रग सम्राटों ने अपने बच्चों को इलाज के लिए मुक्तांगन भेजा। यह ड्रग सम्राट मुक्तांगन में पालकों के लिए आयोजित बैठकों में आने लगे। वो अपने बच्चों के एडिक्शन से काफी घबराए हुए थे। एक ड्रग सम्राट ने इस धंधे को छोड़ दिया जबकि दूसरा अनेक पुलिस केसों के बावजूद धंधा करता रहा।

हम पुलिस विभाग के करीबी सम्पर्क में आए। बहुत से कांस्टेबल शराब का नशा करते थे। उच्च अधिकारियों ने इन शराबियों को अलग-अलग बैचों में मुक्तांगन भेजा। उसके बाद सब-इंस्पेक्टर्स और इंस्पेक्टर्स ने भी दारू मुक्ति के लिए मुक्तांगन की मदद ली। पुलिस विभाग में दारू का नशा एक भयानक समस्या बन गई थी। लोग सोचते हैं

कि पुलिस वाले मुफ्त की शराब पीते होंगे। यह धारणा गलत थी। पुलिसवाले बहुत मुश्किल परिस्थितियों में, बहुत देर काम करते हैं - वे अक्सर ओवरटाइम करते हैं। इसलिए शराब उनके लिए अपने तनाव को काबू रखने की एक मनोवैज्ञानिक जरूरत बन जाती है। पुलिसमैन को हमेशा ऊपर के अफसर आदेश देते रहते हैं, वो पारिवारिक जीवन का सुख नहीं भोग पाते और अपने बच्चों पर ध्यान नहीं दे पाते हैं। यही परिस्थितियां, पुलिसवालों को घूस लेने के लिए मजबूर करती हैं। उसके फलस्वरूप, बाद में पुलिसवाले दारू या ड्रग्स का नशा शुरू करते हैं, खासकर जब उन्हें किसी ड्रग्स के केस में घूस मिली हो।

सुनील नाम के एक पुलिस कांस्टेबिल ने मुक्तांगन में अपना इलाज पूरा किया। जब वो दुबारा ड्यूटी पर गया तो उसे असिस्टेंट कमिशनर ऑफ पुलिस (एसीपी) ने एक विशेष काम सौंपा। “उन कांस्टेबिल साथियों से मिलो जो शराब के नशे के कारण ड्यूटी से फरार हैं। उनसे कहो कि वे भी मुक्तांगन में अपना इलाज कराएं। फिर मैं उन्हें दुबारा नौकरी पर बहाल कर दूंगा।”

सुनील को अपने क्षेत्र में ऐसे 26 अन्य कांस्टेबिल मिले। उनमें से कट्टर एडिक्ट्स को तुरन्त मुक्तांगन भेजा गया। बाकी को रोजाना पुलिस स्टेशन पर ड्यूटी के लिए हाजिर होने को कहा गया। नशा-मुक्ति की प्रक्रिया खत्म होने के बाद एसीपी ने मुझे और सुनंदा को मुम्बई में नायगाम स्थित पुलिस मुख्यालय में बुलाया। जब हम एसीपी के कमरे में बातचीत कर रहे थे तभी उन कांस्टेबिल्स का एक दस्ता लेफ्ट-राइट करता हमारे कमरे में आया। वो यूनीफार्म में नहीं थे परन्तु बिल्कुल पुलिसवाले लग रहे थे। मुझे उनके चेहरों को देखकर बेहद खुशी हुई। क्योंकि सुनील उस दस्ते की अगुवाई कर रहा था इसलिए और भी प्रसन्नता हुई। सुनील ने अपने साथियों को उनकी व्यक्तिगत और पेशेवर जिंदगियां बहाल करने में मदद दी। एसीपी ने मुझसे कुछ बोलने को कहा, परन्तु उस अवसर पर मेरे लिए बोल पाना मुश्किल था। कभी-कभी मुझे अचरज होता कि मुक्तांगन के कारण मैं कितनी अलग-अलग पृष्ठभूमि के लोगों के सम्पर्क में आया। सामने खड़े सभी कांस्टेबिल्स मेरे दिल के बहुत करीब थे। इतने अल्पकाल में इतने सारे गहरे रिश्ते बना पाने के लिए मैं खुद को खुशानसीब मानता था। सुनील और उसके दस्ते के कमरे से बाहर जाने के बाद मैं बहुत भावुक हो गया।

सुनील इन कांस्टेबिल्स को लम्बे अर्से तक सलाह-मशविरा देता रहा और साप्ताहिक बैठकों में उन्हें मनोबल मजबूत करने की सीख देता रहा। जो कांस्टेबिल्स दुबारा नशा करने लगे उन्हें फिर से मुक्तांगन में इलाज के लिए भेजा गया। इस बीच सुनील के बेटे का देहान्त हो गया। परन्तु इस मानसिक तनाव के बावजूद उसने शराब

की एक बूंद नहीं पी। मेरे मित्र, स्वर्गवासी श्री हेमन्त करकरे (उस समय डिप्टी कमिश्नर ऑफ पुलिस, क्राईम ब्रांच) ने सुनील को एक विशेष काम सौंपा। सुनील को नशा-बंदी कार्यक्रम में आम जनता, और पुलिस विभाग के बीच का समन्वयक बनाया गया। सुनील ने सार्वजनिक भाषणों में अपने अनुभव सुनाए। उसने टेलिवीजन पर भी कई कार्यक्रम भी पेश किए।

एक रिटायर्ड एसीपी हम से अपने बेटे के बारे में सलाह लेने आए। उनका बेटा पुलिस में डिप्टी कमिश्नर ऑफ पुलिस (डीसीपी) था। मैंने उन्हें मुक्तांगन की सहूलियतों से अवगत कराया। मुक्तांगन में उनके बेटे का कोई विशेष कमरा नहीं मिलेगा और उसे अन्य मरीजों जैसे ही नियमित कार्य करने होंगे। उन रिटायर्ड सज्जन ने कहा, “मैं यह जानता हूँ। मेरी बस एक इच्छा है कि मेरे बेटे का इलाज हो। मैं चाहता हूँ कि वो जिंदा बचे। उसके नाम का खुलासा होने और उसकी नौकरी जाने की मुझे कोई परवाह नहीं है।” उसके बाद डीसीपी मुक्तांगन में भर्ती हुआ। शुरू में वो सिर्फ अपने पलंग पर बैठा रहा। पर धीरे-धीरे करके वो रोजमर्रा की ड्यूटी और कामकाज करने लगा। एक वरिष्ठ पुलिस अफसर को किचिन में बर्तन धोते हुए देखकर कभी आश्चर्य भी होता था। जिस व्यक्ति के कई निजी नौकर हों उसके लिए इस प्रकार के काम करना खुद में एक बड़ी सीख है। डीसीपी ने, बाद में मुक्तांगन के सहयोग से पुलिस के लिए कई नशा-बंदी शिविर आयोजित किए। उसने कई अवसरों पर मुझे नशा-बंदी पर भाषण देने के लिए आमंत्रित किया। मैंने नासिक पुलिस ट्रेनिंग कॉलेज और कोल्हापुर में भी नशा-बंदी पर भाषण दिए।

मरीजों के प्रति खुले, पक्षपात-रहित रवैए के कारण ही हम पुलिस के साथ दोस्ती बना पाए। हमें पुलिस वालों के बर्ताव के बारे में कई बार चेतावनियां दी गई थीं। पर हमें पुलिस विभाग में भी साधारण सामान्य लोग ही मिले। हम मरीजों के सकारात्मक पक्ष पर बल देते थे उसी प्रकार हमने पुलिसवालों के अच्छे पक्षों पर अपना लक्ष्य केंद्रित किया। हमने सीखा कि पूरे तंत्र को बदलना बहुत मुश्किल था परन्तु उसमें उम्मीद और स्वास्थ्य-लाभ के कुछ दीप जरूर जलाए जा सकते थे।

मुक्तांगन शुरू से ही एक खुली जगह पर था। कई सामाजिक संस्थाओं के पास पर्याप्त जगह नहीं होती है। कई बार प्लाट खोजने, खरीदने में संस्थाओं की काफी ऊर्जा नष्ट हो जाती है। पर भाग्यवश हमारे पास दो-मंजिली इमारत थी जिसमें चार बड़े हॉल और कई अन्य कमरे थे। हम आफ्टर-केयर और दैनिक गतिविधियों को दो बड़े हॉल में आयोजित करते थे और बाकी जगह पर सार्वजनिक मीटिंग्स, संगीत, योग प्रशिक्षण, सुनंदा, सहकर्मियों, अकाऊंटेंट आदि के कमरे आयोजित कर सकते थे।

आवासीय मरीजों के लिए एक विशेष वार्ड था। अन्य नशा-मुक्ति केंद्रों में अक्सर जगह का बहुत अभाव होता है। इस मामले में हम खुशनुसीब थे।

दूसरा फायदा येरवडा मानसिक चिकित्सालय के समीप होने का था। हम इस अस्पताल के विशाल कैम्पस के अंदर सुरक्षित थे क्योंकि असामाजिक तत्वों का अंदर आना असम्भव था। ऐसे गलत लोग नशा-मुक्ति के इलाज में बाधा डाल सकते थे। मैंने महानगरों के बिल्कुल मध्य में किराए के फ्लैट्स में नशा-मुक्ति केंद्रों को चलते देखा है। वहां ड्रग विक्रेताओं के आसपास होने की बहुत ज्यादा सम्भावना होती है। यह ड्रग विक्रेता एक सफल ड्रग-मुक्ति कार्यक्रम को खराब कर सकते हैं। नकारात्मक बलों के खिंचाव में अच्छे से अच्छा इलाज भी मरीजों पर नाकाम साबित होता है।

मुक्तांगन की सफलता का प्रमुख कारण था वहां का शत-प्रतिशत ईमानदार स्टॉफ जो किसी भी सूरत में कैम्पस में ड्रग्स को घुसने नहीं देता था। ऐसे पुनर्वसन केंद्रों में कम-से-कम ड्रग्स, शराब और कोई भी अन्य नशीली चीज पूरी तरह प्रतिबंधित होनी चाहिए। जे जे अस्पताल और ठाणे मानसिक चिकित्सालय का व्यसन-मुक्ति केंद्र, वहां पर ड्रग-मुक्ति वातावरण पैदा नहीं कर पाए और तभी वे जल्द बंद हो गए। मुक्तांगन की सफलता के पीछे उसका विशेष ढांचा था - जहां सरकारी आर्थिक सहायता से स्वयंसेवी लोग, एक संस्था चलाते थे। मानसिक चिकित्सालय और मुक्तांगन दोनों स्थानों पर सुनंदा के कड़े अनुशासन से भी बहुत फर्क पड़ा।

महाराष्ट्र के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री शरद पवार एक बार हमारे वार्षिक सम्मेलन के मुख्य अतिथि थे। उन्होंने हमारे सामने एक गजब का प्रस्ताव रखा, “मैं प्रदेश के हर जिले के सिविल अस्पताल में आपको एक स्वतंत्र इमारत देकर मुक्तांगन की शाखा खोलने की अनुमति दूंगा।” हमने उनका प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। हमें मुक्तांगन को चलाने और उसे ड्रग विक्रेताओं और अन्य नकारात्मक तत्वों से सुरक्षित रखने का लम्बा अनुभव था। हमने जो काम हाथ में लिया था उससे अधिक काम करने की हमारी क्षमता नहीं थी। एक अन्य अवसर पर मुख्यमंत्री ने पूछा, “आपकी क्या जरूरतें हैं? आपको जो चाहिए वो मुझे बताओ?”

मैं कुछ उलझन में पड़ा, “हमारे पास सब कुछ है।”

उन्होंने आग्रह किया, “क्या तुम्हें कोई उपकरण चाहिए?”

मैंने कहा, “नहीं। हमें बस प्रेरित कार्यकर्ताओं की जरूरत है। ऐसे लोगों को हम मुक्तांगन में लाकर उन्हें ट्रेनिंग देते हैं।”

जब मैंने अपने मित्रों को इस वार्तालाप के बारे में बताया तो उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। “तुमने कितना सुनहरा मौका खो दिया। तुम्हारे सामने धन-दौलत के कुबेर खड़े

थे और तुमने बेवकूफी में उनसे कुछ भी नहीं मांगा!” ऐसा नहीं था कि मुक्तांगन को आर्थिक मदद की जरूरत नहीं थी। कुछ तंगी के दौर भी आए और तब मुझे मुख्यमंत्री के शब्द याद आए। परन्तु सच तो यह है कि मुक्तांगन की जरूरत केवल आर्थिक नहीं थी। बाकी अन्य संसाधन न हों, कम हों, तो भी काम चल सकता है, परन्तु अच्छे कार्यकर्ताओं के बिना काम चलना असम्भव है। भाग्यवश हमें हमेशा ईमानदार और कर्मठ कार्यकर्ता मिले। इनमें से कई साथियों के अतीत आपराधिक पृष्ठभूमि के थे परन्तु उन्होंने खुद को बदला और एक अच्छी टीम जैसे काम किया।

कई लोग हमारे तौर-तरीकों, हमारे नैतिक सिद्धांतों की निंदा करते थे। टिप्पणी करते थे कि हममें बड़े काम करने की कुव्वत नहीं थी, इसलिए हम एक छोटे प्रोजेक्ट से खुश थे। इससे मुझे ब्रिटिश अर्थशास्त्री ई. एफ. शुमाकर की याद आई जिनकी पुस्तक ‘स्माल इज ब्यूटिफुल’ ने बड़े प्रोजेक्ट की तुलना में, छोटे और उपयुक्त प्रकल्पों को लोगों के सशक्तिकरण के लिए बेहतर बताया था।

पुणे शहर की विशिष्ट मानसिकता, सफल प्रयोगों को दोहराने में विश्वास नहीं करती। शायद इसी कारण हमने मुक्तांगन की कोई और शाखा नहीं खोली। पर हमने अन्य संस्थाओं के साथ अपने अनुभव, मुक्तांगन की संस्कृति और सीखों को खुले दिल बांटा। मिसाल के लिए, रवि पाध्ये - जो एक समय ड्रग एडिक्ट थे आज नागपुर में एक सफल ड्रग-मुक्ति केंद्र चलाते हैं। उनकी संस्था के मुख्य सदस्यों का पहले मुक्तांगन में इलाज हुआ था। सामाजिक कार्यकर्ता डॉ. अभय बंग आदिवासी बाहुल्य गडचिरोली जिले में जनस्वास्थ्य का काम करते हैं। उन्होंने भी मुक्तांगन के स्वयंसेवियों की मदद से वहां एक व्यसन-मुक्ति केंद्र शुरू किया। अभय का केंद्र बहुत सफलतापूर्वक चल रहा है। उन्होंने इलाज में कुछ अन्य सुधार किए जो आदिवासियों की संस्कृति के अनुरूप थे। हमने सातारा में एक अन्य पुर्नवसन केंद्र शुरू करने में मदद की। इस केंद्र को अब डॉ. नरेंद्र दाभोलकर की पत्नी शैलजा चलाती हैं। मैंने उनके केंद्र के आर्थिक अनुदान के लिए फॉर्म भरा था। मुझे इस बात की खुशी है कि हमने खुले दिल से अन्य लोगों, समूहों के साथ अपने अनुभव बांटे और हमने जल्दबाजी में जगह-जगह अपनी शाखाएं खोलने की गलती नहीं की। जैसा मैंने पहले उल्लेख किया - मुक्तांगन पश्चिमी भारत में (RRTC) की मानिट्रिंग एजेन्सी है। इससे हमें बड़े पैमाने पर अपने संसाधन और अनुभव बांटने का मौका मिलता है।

जब मैं मुड़कर देखता हूं तो मुझे अपनी यात्रा पर अचरज होता है। जब पुणे में हमारे जैसा एक अन्य व्यसन-मुक्ति केंद्र खुला तो हमारे कुछ स्टॉफ सदस्य उससे चिंतित हुए। उन्हें लगा कि नया केंद्र हमारे कुछ मरीजों को चुरा ले जाएगा। पर मैंने

उन्हें आश्चर्य कि पुणे की बढ़ती आबादी के मद्देनजर एक अन्य केंद्र का हमें स्वागत करना चाहिए। मैंने यह भी सुना कि पुणे के कुछ अस्पताल, मुक्तांगन के मरीजों को इलाज के दौरान अपने यहां लालच देकर बुला रहे थे। मैंने इसे अलग ढंग से समझा, “अगर हमारा मरीज किसी दूसरे अस्पताल में जाकर ठीक होता है, तो हमें इसका स्वागत करना चाहिए। हम मुक्तांगन में बस थोड़ा ही कर सकते हैं, कुछ बहुत ज्यादा नहीं।” मैं अपने स्टॉफ से यह भी कहा कि मुक्तांगन को किसी अन्य अस्पताल के साथ स्पर्धा नहीं करनी चाहिए। “अगर नए-नए केंद्र खुलें तो भी हमें केवल खुद से स्पर्धा करनी है।” वैसे कई लोग मेरे इस तर्क से असहमत थे।

जब तक सुनंदा जीवित थी तब तक मुक्तांगन को येरवडा मानसिक चिकित्सालय के अधिकारियों से कोई परेशानी नहीं हुई। इसका तात्कालिक कारण था चिकित्सालय के अधिकारियों पर ठोका गया कोर्ट केस। बाद में मुम्बई हाई कोर्ट ने सभी मानसिक चिकित्सालयों के निरीक्षण का आदेश दिया। जब निरीक्षण कमेटी मानसिक चिकित्सालय आई तो उसने मुक्तांगन का भी दौरा किया। कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में चिकित्सालय में चल रही तमाम धांधलियों का ब्योरा दिया। रिपोर्ट में यह भी लिखा था, “अस्पताल के पूरे परिवेश में सबसे अच्छा स्थान ‘रौशन सितारा’ मुक्तांगन था।” यह टिप्पणी अधिकारियों को पसंद नहीं आई। उन्हें यह एक धमकी लगी। उसके बाद से उन्होंने हमारी नींद हराम की। वैसे मुक्तांगन आर्थिक और साधनों के रूप में स्वतंत्र था पर हम उनकी मुख्य सड़कें इस्तेमाल करते थे। अक्सर हमारे डे-केयर मरीज अपने दिन की नौकरी करने के बाद ही मुक्तांगन आते। इसमें उन्हें देर हो जाती और उन्हें मुख्य द्वार पर ही रोका जाता। चिकित्सालय के सुपरिंटेंडेंट (सुनंदा का छात्र था और कभी हमारा मित्र था) ने हमारे लिए नई-नई अड़चने खड़ी करीं। मैंने इसका पहले उल्लेख किया है कि एक समय हमसे चिकित्सालय को 27 लाख रुपए देने की मांग की गई। इस पत्र पर सुपरिंटेंडेंट के हस्ताक्षर थे। सुपरिंटेंडेंट ने मुक्तांगन को विवादास्पद परिस्थितियों में फंसाने के कई हथकंडे रचे। हमारा कसूर क्या था? बस एक सरकारी कमेटी की रिपोर्ट ने हमारी बहुत तारीफ की थी!

अंत में हमने मानसिक चिकित्सालय के परिसर को छोड़ने का निश्चय किया। मित्रों ने हमसे अस्पताल की विशाल इमारत पर अपना दावा कायम रखने की सलाह दी। पर एक तो सुनंदा दुनिया छोड़ चुकी थी और फिर हम अपनी सीमित ऊर्जा को अस्पताल से लड़ने में व्यर्थ नहीं करना चाहते थे। शायद यह लड़ाई लड़ने लायक थी भी नहीं। अब वहां पर रहना दुश्वार हो गया था। भाग्यवश, वहां से निकलते समय हमारे पास जाने के लिए एक अन्य स्थान था।

बहुत सालों तक येरवडा मानसिक चिकित्सालय हमारा दूसरा घर था। जब से सुनंदा ने वहां कार्य शुरू किया तब से हम वहीं कैम्पस में रहे। हमारी बेटियों का वहीं जन्म हुआ। वो उसी कैम्पस में बड़ी हुई। हमारा घर, चिकित्सालय से केवल कुछ गज दूरी पर था इसलिए वहां का कैम्पस हमारा पिछवाड़ा था। मुक्तांगन शुरू होने के बाद हमने कोई 15 वर्ष वहां बिताए। भावनात्मक लगाव के कारण हमें उस जगह को छोड़ने का बहुत दुख हुआ, परन्तु तमाम अड़चने खड़ी किए जाने के कारण हम उसे छोड़ने को उत्सुक थे।

नई जगह पर जाने के लिए मुझे मानसिक चिकित्सालय के रास्ते से होकर जाना पड़ता था। परन्तु मैं एक बार भी पुरानी इमारत को देखने अंदर नहीं गया। अच्छे इंसानी रिश्ते, ईंट और पत्थर के ढांचे को महत्वपूर्ण बनाते हैं, पर लोगों की कड़वाहट उन्हीं ढांचों को, याददाश्त से सदा के लिए मिटा देती है।

अध्याय - 5

मेरी हंसी : मेरा हक

मुक्तांगन के मरीज सुनंदा के बेटे थे और उनकी पत्नियां मेरी बेटियां थीं। जैसे कुछ बच्चे मां के और कुछ बच्चे पिता के लाडले होते हैं, उसी प्रकार हमारे भी पसंदीदा बच्चे थे। मैं भाग्यशाली हूँ कि सुनंदा की मृत्यु के बाद इन बेटियों ने मेरी बहुत अच्छी देखभाल की।

उनमें से एक बेटा एक दिन सुबह तड़के हमारे यहां आई। उसके हाथ में एक गुलाब था। मुझे आश्चर्य भी हुआ और कुछ चिंता भी, क्योंकि अक्सर महिलाएं हमारे यहां वैवाहिक झगड़ों को लेकर आती थीं। परन्तु आज वो हंस रही थी। उसके पति को नशा छोड़े आज एक वर्ष पूरा हुआ था। मैंने उससे पूछा, “क्या तुम अपने लिए गुलाब लाई हो?”

उसने कहा, “हां, कल मेरा जन्मदिन था।”

“देर से ही सही, तुम्हें जन्मदिन की शुभकामनाएं,” मैंने बधाई देते हुए कहा।

उसने मुझसे कहा, “यह गुलाब मेरे पति ने मुझे दिया।” उसके बाद उसने जो कहा उससे मुझे धक्का लगा, “वैसे हम पंद्रह साल से विवाहित हैं, पर यह पहली बार है जब उसने मुझे कुछ भेंट किया।” उसकी बात मेरे दिल को छू गई। हमारा मरीज अब दारू से मुक्त हो चुका था और उसने पत्नी के प्रति अपनी भावनाएं व्यक्त की थीं। ऐसा लगता था जैसे किसी सूखे हुए पेड़ में फिर से कुछ नई कोपलें खिलीं हों। जो व्यक्ति अपनी पत्नी के लिए इतनी बड़ी समस्या बना हो उसे ठीक होता देख मुझे बहुत खुशी हुई। पत्नी ने उस दौरान गाली-गलौज, पिटाई, चरित्र पर लांछन जैसी तमाम यातनाएं सहੀं। परन्तु आज गुलाब की एक छोटी भेंट ने, उसके जीवन को एक अलग रंग दिया। एक महिला का दिल जीतने में, उसे खुश करने में कितना कम श्रम लगता है!

महिलाओं की कहानियां सुनकर मुझे समझ में आया कि पूरे दिन मेहनत मशक्कत के बाद वे केवल कुछ प्रशंसा के शब्द सुनना चाहती थीं। उन्हें बहुत मुश्किल से ही प्रशंसा के शब्द सुनने को मिलते। यह जरूरी, महत्वपूर्ण शब्द, मर्द उपयोग करना भूल

जाते हैं। कई मर्द अपनी पत्नियों को बहुत चाहते हैं परन्तु पुरुष-अहम के कारण प्रशंसा के शब्द उनके मुंह से नहीं निकलते हैं। इसलिए जब मर्द इलाज के बाद मुक्तांगन छोड़कर जाते हैं तो मैं उनसे उनके भविष्य की योजनाओं के बारे में पूछता हूं। जब उनकी भविष्य की योजना में पत्नियों का कुछ जिक्र नहीं होता है तो मैं उन्हें सुझाता हूं, “तुम मुक्तांगन में बड़े-बड़े बर्तन धोते हो इसलिए घर के छोटे बर्तन धोकर अपनी पत्नी को खुश करो।” वे हंसते हैं। इन पतियों को दिखाना चाहिए कि वे असलियत में बदले हैं। अगर वो अपने अहम को त्याग देंगे तो उनके पारिवारिक जीवन में गुणात्मक परिवर्तन आएगा। अधिकांश पति, अपनी पत्नी को समान दर्जा देने से कतराते हैं। मुझे पति-पत्नी के बीच यह असमानता भारतीय संस्कृति की एक विशेषता लगती है। पश्चिमी देशों में यह कम दिखती है। विदेश में महिलाएं सत्तावादी पतियों को, जल्द ही तलाक दे देती हैं।

नशा-मुक्ति कार्यक्रम में हमने पाया कि पति के व्यवहार से वैवाहिक सम्बंध खराब होते थे। पारिवारिक सम्बंधों में तनाव से एडिक्ट का मानसिक संतुलन और बिगड़ता था। सामान्य शांतिपूर्ण जीवन जीने के लिए यह जरूरी था कि मरीज अपने पारिवारिक सम्बंधों को ठीक करें और जिनसे कटु शब्द कहे थे उनसे मित्रता करें। परिवार वालों की कोशिश हो कि वे मरीज को उत्तेजित न करें। मुक्तांगन ने मरीज के मानसिक चैन के लिए पारिवारिक रिश्तों में मेल के महत्व पर, एक सुंदर नाटक बनाया। इस नाटक में दो भिन्न परिस्थितियां दिखाई गई हैं। पहले में परिवार वाले मरीज के व्यसन-मुक्ति कार्यक्रम में शामिल होने पर ताने मारते हैं। दूसरे में परिवार वाले व्यसन-मुक्ति कार्यक्रम में भाग ले रहे मरीज को अपना पूरा समर्थन और सहारा देते हैं। सप्ताहिक बैठकों में यह नाटक रिश्तेदारों को परिस्थिति से अवगत करता है, और उन्हें मरीजों के साथ संवेदना से पेश आने का संदेश देता है।

सुनंदा बड़ी कुशलता से घरेलू समस्याओं को निबटाती थी। लड़की का परिवार हमसे अक्सर आकर इस प्रकार की शिकायत करता, “लड़के ने शादी के समय अपने व्यसन के बारे में हमें नहीं बताया था। उसने झूठ बोलकर हमारी लड़की की जिंदगी बरबाद की।” इसी प्रकार लड़के का पक्ष कहता, “जैसे तमाम लड़के करते हैं, हमारा लड़का भी कभी-कभी मित्रों के साथ शराब पीता था। पर वो पियक्कड़ नहीं था। इस लड़की से शादी के बाद घर में कलह-कलेश होने लगे। फिर उस परेशानी से उसे दारू की लत लगी।” दोनों ही पक्ष अपनी-अपनी दलीलों पर अड़े रहते और दूसरे की बात को अनसुनी करते। शब्दों के इस युद्ध में सुनंदा कोई हल निकालती। दोनों पक्षों की बात को विस्तार से सुनने के बाद वो कहती, “हां समस्याएं हैं, पर क्या सब लोग मानते

हैं कि लड़के को व्यसन से मुक्त होना चाहिए? अगर आप सहमत हैं तो फिर हम उसके इलाज के बारे में चर्चा कर सकते हैं।” वो हानिकारक शब्दों का प्रयोग करने से लोगों को मना करती थी। मीटिंग का सकारात्मक अंत होता - दोनों प्रतिद्वंद्वी पक्ष, सुनंदा के सामने एक-दूसरे से गले मिलते। मैंने उनसे एक बार पूछा, “आपको इसका पहले अहसास क्यों नहीं हुआ?” उसमें से एक व्यक्ति ने उत्तर दिया, “हमें पहले एक-साथ कोई लाया ही नहीं। हम अपने-अपने अहम में मस्त थे और एक-दूसरे के प्रति अपना प्रेम भूल गए थे।” इससे यह भी पता लगा कि परिवारों में कोई मूलभूत मतभेद नहीं थे। बस वो समस्याओं को तार्किक रूप से सुलझाने की कला भूल गए थे।

रिश्तेदारों ने मरीजों के साथ चाहें पहले कैसा भी बर्ताव किया गया हो पर मुक्तांगन में मरीजों के साथ मानवीय व्यवहार करने पर बहुत जोर था। परिवार वालों के रुख में कुछ परिवर्तन नहीं आने के बावजूद हमने उनके साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार जारी रखते। मिसाल के लिए एक मरीज, पिता से लड़ाई-झगड़े के बाद बार-बार मुक्तांगन में दाखिल होता था। पिता के साथ मतभेदों के कारण ही उसे ड्रग्स की लत हुई थी। बाद में वो हमारे पास आया। सुनंदा ने उसे पूरे किस्से का, सविस्तार और सिलसिलेवार वर्णन लिखने को कहा। उसे पिता के साथ हुए वाद-विवाद को विस्तार से लिखना कुछ मनोरंजक लगा। “यह कोई मुश्किल काम नहीं होगा, क्योंकि तुम उससे बार-बार गुजरे हो।” मरीज द्वारा लिखे पूरे वृत्तांत को सुनंदा ने सभी मरीजों को एक मीटिंग में पढ़कर सुनाया। प्रत्येक व्यक्ति से वो बिन्दु पूछा गया जहां वाद-विवाद के मतभेदों को खत्म किया जा सकता था। हरेक के जवाब अलग-अलग थे। जैसे-जैसे चर्चा आगे बढ़ी उससे मरीजों के साथ-साथ और बाकी सहभागियों को बहुत कुछ सीखने को मिला।

इस वृत्तांत को सुनकर कई मरीजों को कुछ शब्दों का महत्व समझ में आया, “मुझे माफ करो,” और “मैं अपनी हार स्वीकार करता हूं। कृपा मुझे माफ करो।” अक्सर यह शब्द हिचकिचाहट में उपयोग किए जाते हैं। पर अगर उनमें एक व्यक्ति एडिक्ट हो, तो इन शब्दों से व्यक्तियों के बीच की टकराव को बेहतर तरीके से निबटा जा सकता है। मरीज के आसपास के लोग अगर अपने गुस्से को काबू में रख सकें तो उससे मरीज को अपनी भावनाओं पर नियंत्रण रखने में मदद मिलेगी।

एक अकेला इंसान, हमें मानव-जाति की सबसे छोटी इकाई लगता था। परन्तु असल में परिवार, मानव-जाति की सबसे छोटी कार्यात्मक इकाई है। परिवार, व्यक्ति की सुरक्षा देकर उसे गढ़ता है। व्यक्ति की विसंगतियों के प्रति परिवार संवेदनशील होता है, और खुद को उनके अनुसार ढालता है। मुक्तांगन भी एक विशाल परिवार था जिसमें बहुत सारे परिवार शामिल थे, जो एक-दूसरे के साथ प्रेम के बंधनों से जुड़े थे।

सुनंदा ने वैवाहिक जीवन में, मेल और शांति पर बहुत बल दिया। वो नारायणपेट स्थित क्लीनिक में विवाहित दम्पतियों की मासिक बैठक लेती थी। कई बार विवाहित दम्पति अपने घरों पर मीटिंग्स आयोजित करते। उनके छोटे घरों में इन बैठकों में कुछ और ही माहौल होता था। परिवार वालों के साथ-साथ पड़ोसी भी इन बैठकों को सफल बनाने में मदद करते। पड़ोस की महिलाओं को किचिन में मदद करते देख हमें बहुत खुशी होती थी।

इन बैठकों से हमें बहुत कुछ सीखने को मिला। अक्सर छोटी-मोटी बातें बड़ी सामाजिक समस्याओं का कारण बन जाती थीं। इन बैठकों में हर चीज पर खुलकर चर्चा होती। यहां एक दुकानदार का रोचक केस है। वो दुकान से लगे एक कमरे के मकान में रहता था। उसकी युवा और कुशल पत्नी, घर का पूरा कामकाज सम्भालती थी। एक मीटिंग में उसने कहा, “वो मुझ से कभी बात नहीं करता है। अगर मैं कुछ पूछती हूं तो उसका भी जवाब नहीं देता है।”

जब मैंने दुकानदार से इसका कारण जानना पूछा उसने कहा, “भला मैं एक अशिक्षित औरत से क्या बात करूं?”

यह सुनकर मीटिंग में अन्य लोग उस पर बहुत बिगड़े। उन्होंने इस प्रकार की लैंगिक टिप्पणी के लिए उसकी खूब डांट लगाई। एक अन्य मरीज की बीबी ने उससे कहा, “क्या तुम कभी अपनी पत्नी को आसपास की दुनिया दिखाने ले जाते हो?”

दुकानदार ने उत्तर दिया, “कभी नहीं। मारवाड़ी समाज (मूलतः उत्तर भारत में राजस्थान निवासी) में ऐसे लज्जाजनक काम नहीं किए जाते हैं।”

एक मित्र ने कहा, “तुम कहते हो कि पत्नी बात करने लायक नहीं है। तुम उसे कहीं घुमाने भी नहीं ले जाते हो। इस तरह वो अशिक्षित ही रहेगी। बताओ, वो कैसे बेहतर होगी?”

एक अन्य मित्र ने कहा, “तुम्हें लगता है कि तुम अपनी पत्नी से ज्यादा समझदार हो। फिर तुम्हें शराब की लत कैसे लगी?” लम्बी बैठक के बाद यह निर्णय लिया गया कि वो दम्पति रोज घूमने के लिए जाएगा।

पर दुकानदार इसके लिए हिचकिचाया, “अगर हम दोनों साथ-साथ घर से बाहर निकले तो पूरा मोहल्ला हमें घूर-घूर कर देखेगा?”

उत्तर में अन्य लोगों ने कहा, “लोगों को घूरने दो। शायद वो एक-दो दिन ऐसा करें। किसके पास रोजाना घूरने की फुर्सत होगी?” फिर दम्पति ने रोज शाम को घूमना शुरू किया। मुझे लगता है इससे उनके बीच के तमाम तनाव कम हुए होंगे। और वैसे भी उन्हें साथ-साथ घूमना ही चाहिए था।

ऐसी ही एक बैठक में सुनंदा ने दम्पतियों से एक रोचक प्रश्न पूछा, “कितनी बार और किन मुद्दों पर उनमें लड़ाई होती थी?” इस प्रश्न से महिलाएं खूब उत्साहित हुईं और अपने अनुभव सुनाने को प्रेरित हुईं। एक दम्पति से उनके सबसे हाल के झगड़े के बारे में पूछा गया। पति ने कहा, “घर में घुसते ही मुझे उसकी चिड़चिड़ी बातें सुनने को मिलती हैं तब मुझे बहुत गुस्सा आता है। मैं हारा-थका घर आता हूँ और उन बातों को सुनने की मेरी कोई इच्छा नहीं होती है।” जवाब में पत्नी ने कहा, “मैं पूरे दिन मेहनत करती हूँ। पहले लोग मुझे उसकी दारू की लत के लिए दोषी ठहराते थे। अब क्योंकि उसका इलाज हो चुका है इसलिए वो पुरानी बातें बार-बार खोदता है। मेरे सामने भी तमाम परेशानियाँ हैं... बच्चे, उनकी पढ़ाई, खाना-पकाना आदि। मैं अपनी परेशानियाँ किसे बताऊँ? पति को बताए बगैर मुझे चैन नहीं पड़ता है।”

एक मित्र ने बीच में टोका, “क्या आपके घर के आसपास कोई रेस्ट्रॉ है?”

प्रश्न का आशय समझे बिना पति ने उत्तर दिया, “हां एक रेस्ट्रॉ है।”

“तो एक काम करो। पहले रेस्ट्रॉ जाओ। अपना मुंह धोकर फ्रेश हो। वहां चाय पीकर फिर घर वापस आओ और अपनी पत्नी की बातें सुनो। क्या यह कर पाओगे?”

“हां, यह करना बिल्कुल सम्भव है,” पति ने उत्तर दिया।

फिर वहां मौजूद एक महिला ने पत्नी को सुझाव दिया, “पति के घर आते ही उस पर मत बरसो। रात के खाने के बाद जब तुम दोनों टहलने जाओ उस समय पति को अपनी सब बातें बताओ। तब तुम्हारी बातों को वो ध्यान से सुनेगा।”

हरेक को यह सर्वमान्य हल पसंद आया।

मेरे मित्र ने एक बार मुझे बताया, “शनिवार को होने वाली दम्पतियों की बैठकों का महिलाएं बहुत उत्सुकता से इंतजार करती हैं। वे समस्याओं और तर्कों से लैस होकर आती हैं।” इस बात में सच्चाई है। हमारे बैठक में होने से महिलाओं को बल मिलता था और वो खुलकर अपनी बातें कह पाती थीं। बैठक में वे भय मुक्त होती थीं। एक नियम था कि बैठक में जिन मुद्दों पर बातचीत हो, उनकी चर्चा घर पर न की जाए। और अगर घर में उन पर कुछ बसह हो तो अगली मीटिंग में वही चर्चा का मुद्दा बने। इन खुली चर्चाओं के बाद घर जाकर कोई भी महिला को डांट-फटकार नहीं सकता था।

कई बार हमने बच्चों की परवरिश के बारे में भी चर्चा की। चर्चा का सबसे लोकप्रिय विषय था, “बच्चों को अच्छी तरह पढ़ाई में कैसे लगाया जाए?” हमने अपने बच्चों की परवरिश के अनुभव उन दम्पतियों को सुनाए। कक्षा में प्रथम श्रेणी लाने पर हमारा कोई बल नहीं था। हम चाहते थे कि हमारी बेटियाँ नेक, अच्छी इंसान बनें

और सफल हों, न केवल परीक्षा में ज्यादा अंक लाएं। अक्सर मर्दों को हमारा यह दृष्टिकोण पसंद आता। उन्हें लगता कि पत्नियां परीक्षा के अंकों और श्रेणियों को, अत्यधिक महत्व देती थीं। एक मीटिंग में एक महिला ने कहा, “जब मेरा पति बच्चे का स्कूलवर्क देखता है तो वह बहुत गुस्सा होता है और बच्चे को पीटता है। मेरे बच्चे ने एक बार कहा - अच्छा हो कि पापा दारू पीकर घर आएँ और फिर तुरन्त सो जाएँ।” यह सुनकर सब लोग हंसे। उन्होंने उस पति को खेल-खेल में पढ़ाने का सुझाव दिया। माता-पिता को हमने स्कूल का पाठ्यक्रम काफी पहले से ही पढ़ने का सुझाव दिया। यह सुनकर एक पालक ने मजाक में कहा, “इसमें कुछ खतरा भी है। तब लोग मेरी चाल को समझ जाएंगे।” काफी देर तक हम इस सम्भावना पर चर्चा करते रहे।

विवाहित दम्पतियों के साथ हमने रोल-प्ले का भी अच्छा उपयोग किया। इसमें पति-पत्नी एक-दूसरे के रोल की एक्टिंग करते थे। महिलाओं को दारू पीकर धुल्ल पतियों की नकल उतारने में बहुत आनंद आता था। दारू पीकर पति क्या करते थे, वो उसकी हू-ब-हू नकल करती थीं। लात मारकर दरवाजा खोलना (संकेतों द्वारा एक्टिंग) गाली-गलौज, और उस बीच पति उनसे शांत रहने की अपील करता था। रोल-प्ले से लोगों का मनोरंजन भी होता और साथ में शिक्षा भी। तब मर्दों को समझ में आता कि पत्तियों के लिए सामान्य जिंदगी जीना कितना कठिन था। एक युवा लड़के ने स्वीकार किया कि रोल-प्ले द्वारा वो अपनी मां की दुविधा को अच्छी तरह से समझ पाया।

इन बैठकों में हमारी मुलाकात बहुत सारी कर्मठ महिलाओं से हुई। अपने पतियों की तुलना में इन महिलाओं का व्यक्तित्व कहीं अधिक मजबूत था। इतनी यातनायें और दुख झेलने के बावजूद वो जीवन में नई पहल करने की इच्छुक थीं। यह वो महिलाएं थीं जो दारू और ड्रग्स की लत वाले, पिटाई करने वाले पतियों को तलाक दे चुकी थीं। परन्तु जब हमने उनके पतियों के मुक्तांगन में दाखिल होने की सूचना दी तो वे मुक्तांगन आईं। उन्हें बार-बार मुक्तांगन आकर मरीज से मिलने की तत्परता दिखाई। हम उनकी सहनशक्ति, माफ करने और भूलने की क्षमता देखकर दंग रह गए। इसका जीता-जागता उदाहरण राजाराम की पत्नी मेधा थी। पति की दारू की लत के बाद वो उसे छोड़कर चली गई। मेधा अपनी मां के साथ रहने गई। भाग्यवश, उसकी एक सुरक्षित सरकारी नौकरी थी। पर जब सुनंदा ने मेधा को राजाराम के उपचार की सूचना दी तो उसका तुरन्त जवाब आया। मां द्वारा विरोध के बावजूद मेधा अपनी नौकरी छोड़कर अपने सुधरे पति के साथ रहने आईं। उसके घर वापस आने का एक रोचक किस्सा है। मुक्तांगन में एक महीना बिताने के बाद जब सुधरा हुआ राजाराम घर पहुंचा तो उसे बहुत अटपटा लगा। उसे अब मुक्तांगन के भोजन की आदत पड़ चुकी थी। वो

घरवालों को बिना बताए रात को मुक्तांगन पहुंच गया। घरवाले घबरा गए। बाद में सुनंदा ने घरवालों को फोन कर उसके सुरक्षित होने की सूचना दी। मुक्तांगन में दारू से परहेज के साथ-साथ राजाराम ने बहुत काम भी किया। वो सुनंदा का ड्राइवर, किचिन का प्रमुख और बाद में मरीजों को सलाह मशविरा भी देता था। वो सुनंदा का प्रिय पुत्र था और वह सभी की मदद करता था। वो आराम किए बिना हमेशा काम करता रहता था। वो रोजाना घटने वाले लड़ाई-झगड़ों का समाधान करता और सारी गलतियों का श्रेय खुद अपने मत्थे लेता। वो मुश्किल मरीजों को सलाह देता - खासकर उन मरीजों को जिन्हें घर की बहुत याद सताती थी और जो बिना इलाज पूरा किए घर वापस जाना चाहते थे। राजाराम ने कई विशिष्ट प्रणालियों और इलाजों का इजाद किया।

कुछ वर्ष मेडिकल इलाज के बाद राजाराम और मेधा के एक बेटी हुई। उसका नाम मुद्रा है और और वो हमारी सबसे प्रिय पोती है। राजाराम के जन्मदिन पर सुनंदा उसे पत्र लिखती थी। सुनंदा अपनी बीमारी में भी राजाराम को चिट्ठियां लिखती थी। वे पत्र अब राजाराम का अनमोल खजाना हैं।

जैसे मैंने पहले बताया, मुक्तांगन के कारण हमारी मुलाकात कई सशक्त महिलाओं से हुई। उनमें से एक केशव अटपालकर की पत्नी थीं। परिवार पुणे पूर्व में एक चाल में रहता था। शादी के बाद केशव की पत्नी को उसके व्यसन का पता लगा। पत्नी के लिए दूर स्थित, पिता के गरीब गांव में वापस जाना सम्भव नहीं था। इसलिए उसने खुद अपने हाथों में घर की कमान सम्भाली। आर्थिक स्थिरता के लिए उसने किराए पर एक सिलाई मशीन ली और फिर तुलसीबाग स्थित एक बड़े स्टोर के लिए पर्स बनाने लगी। सास और ननद ने उसकी उद्यमी कुशलता की प्रशंसा की और वे भी पर्स बनाने के काम में मदद करने लगीं। अगले कुछ सालों में उसके तीन बच्चे हुए। पति ने दारू पीना जारी रखा, पर पत्नी ने मेहनत करके बच्चों को सम्भाला। बेटी की प्रतिभा देख उसे डांस-क्लास में डाला। बाद में इन लड़कियों ने न केवल मुक्तांगन में नृत्य किया परन्तु कई धार्मिक और सामाजिक उत्सवों में भी प्रदर्शन दिया।

मुक्तांगन के बारे में पता चलने के तुरन्त बाद पत्नी ने केशव को वहां भर्ती किया। मुक्तांगन में इलाज के बाद से केशव ने पिछले 17 सालों से शराब नहीं पी है। उसको दैनिक डायरी लिखने का भूत सवार हुआ। उसे जो मिलता उसे वो डायरी पढ़वाता और उसके हस्ताक्षर लेता। डायरी लिखने की लत को केशव अभी भी नहीं छोड़ पाया है। मुझे उसकी दोनों बेटियों से अपार प्रेम है। वो अपने स्कूल के रिपोर्ट कार्ड्स और मिठाई लेकर मेरे घर आती हैं। अक्सर मैं उनकी मां से कहता हूं, “इनमें से एक लड़की मुझे दे दो?” फिर वो हंसते हुए कहती है, “फिर आपको दोनों लड़कियां लेनी होंगी। और

साथ में उनके माता-पिता, चाचा-चाची, दादा-दादी यानि घर के सब लोगों को लेना होगा!” जब मैं सबको लेने की हामी भरता हूं तो वो कहती है, “हम तो आपके ही हैं।” और फिर आसपास के सब लोग खिलखिला कर हंसते हैं।

इस महिला से अपनी प्राथमिक शिक्षा तक पूरी नहीं की थी। उसकी परवरिश दूर-दराज के गरीब परिवार में हुई, परन्तु वो बेहद विवेकशील थी। उसकी जगह कोई अन्य महिला के लिए इन परिस्थितियों से जूझ पाना बहुत मुश्किल होता। उसने अलग तरह की चतुराई और गतिशीलता दिखाई। उसने घर पर कोई लड़ाई-झगड़ा नहीं किया और अपने बच्चों की अच्छी परवरिश की। इस सबसे मैं बहुत प्रभावित हुआ।

मुक्तांगन में मरीज हमारे बच्चों जैसे हैं। संकट में वे एक-दूसरे की खूब मदद करते हैं। जब हम उनके सहयोग की कहानियां सुनते हैं तो हम उनके जीवट की प्रशंसा करते हैं। यहां मुझे एक एडिक्ट की पत्नी - गौरी का रोचक किस्सा याद आता है। उसके पति के भाई ने नया उद्योग शुरू किया, और उद्घाटन के लिए उसने गौरी को आमंत्रित किया। निमंत्रण पढ़ कर गौरी का दिमाग चकराने लगा और वो अपना ध्यान केंद्रित नहीं कर पाई। उसे याद आया कि उसका होशियार पति, दारू की लत के कारण जीवन में फेल था। उसे बिजनेस में बहुत नुकसान हुआ था। गौरी ने अपनी व्यथा एक सहेली को बताई। सहेली ने गौरी को उद्घाटन में मिठाई ले जाकर बहनोई को बधाई देने की सलाह दी। “ज्यादा सोचो मत, एक किलो पेड़ा लेकर अपने बहनोई से मिलो।” गौरी ने सहेली की बात मानी। बहनोई, गौरी से मिलकर बहुत खुश हुआ। “मुझे अपनी सफलता के लिए आपकी और भाई की बहुत जरूरत है। आपके बगैर यह सफलता मेरे लिए निरर्थक होगी!” परिवार के लिए यह बहुत सी भावनात्मक पुनर्मिलन था।

यह किस्से सुनकर मैं बहुत खुश हुआ। गौरी की सहेली की सकारात्मक सलाह से मुझे और भी प्रसन्नता हुई। गौरी की नकारात्मक भावनाओं को इस सलाह ने शुरू में ही कुचल दिया। गौरी की चिंताओं और परेशानियों का कोई ठिकाना नहीं था परन्तु उसकी सहेली ने नकारात्मक भावनाओं को पनपने नहीं दिया। उसने गौरी को सच को स्वीकारने की शक्ति और एक उज्ज्वल भविष्य की उम्मीद दी।

मरीजों और उनके परिवारों के साथ अनौपचारिक चर्चाओं में एक मित्रों का समूह उभरा जिन्होंने संकट में एक-दूसरे की मदद की। महिलाओं का ऐसा समूह तैयार करना, सुनंदा का सपना था। हमारी बेटी मुक्ता ने सुनंदा के जीते-जी इस सपने को ठोस रूप दिया। अब मैं मुक्ता के बारे में कुछ बताऊंगा। मैं यह चर्चा इसलिए नहीं करूंगा क्योंकि वो हमारी बेटी है परन्तु इसलिए क्योंकि वो सच में तारीफ के काबिल

है। मुक्ता ने क्लीनिकल साईकलौजी में पुणे यूनिवर्सिटी में एमए किया। उसे अपने विषय में सर्वप्रथम स्थान मिला। यूनिवर्सिटी के बाकी सभी विषयों में भी उसके अंक सबसे अधिक आए। इसके लिए उसे राज्यपाल के पदक से सम्मानित किया गया। सीनियर प्रोफेसर्स ने उसे डाक्टरेट करने की सलाह दी। बहुत से लोगों को लगा कि मुक्ता डाक्टरेट खत्म करके लेक्चरर बनेगी और कम उम्र में ही विभाग-प्रमुख का पद सम्भालेगी।

विषय पर खूब शोध करने के बाद मुक्ता ने डाक्टरेट थीसिस के लिए जो विषय चुना वो मुक्तांगन के कार्य के भी बहुत करीब था: ड्रग एंड एल्कोहल रीलैप्स प्रीवेंशन। उसे एक निश्चित समय में अपना शोध समाप्त करना था। उसे वजीफा मिलना तय था। वो मरीजों के साथ सुनंदा के परामर्श सत्रों में उपस्थित रहती और बहुत ध्यान से मरीजों की बातें सुनती। 1993 में सुनंदा का कैंसर उपचार चल रहा था। तब मुक्ता ने डाक्टरेट करने के इरादे को त्याग दिया। उने लगा कि मुक्तांगन के जीवांत अनुभवों से, वो एक पीएचडी डिग्री की तुलना में बहुत अधिक सीखेगी।

बेटियों पर हमने अपने शैक्षिक निर्णय कभी नहीं थोपे। मुक्ता हमेशा एक स्कूल चलाना चाहती थी। वो उसका सपना था और हमें लगता था कि वो जरूर कभी एक स्कूल खोलेगी। परन्तु एमए करने के बाद वो प्राकृतिक रूप से मुक्तांगन की ओर खिंची चली आई। अक्सर लोगों को लगता जैसे मुक्तांगन का नाम उसके नाम पर रखा गया था। मुक्तांगन का नाम किसी दूसरे संदर्भ में रखा गया था। मुक्ता का जन्म मुक्तांगन शुरू होने के पंद्रह वर्ष पहले हुआ था। लोगों को ऐसा भी लगा जैसे मुक्ता को मुक्तांगन का कार्यभार सम्भालने के लिए विशेष रूप से ट्रेन किया गया था। पर यह सच नहीं था। हमने बेटियों को खुद अपना रास्ता चुनने की पूरी स्वतंत्रता दी थी। हमने उनसे प्राथमिक शिक्षा पूरी करने की भी जिद नहीं की, उच्च शिक्षा की बात तो अलग रही। मुक्ता आसानी से विभाग-प्रमुख बनकर अच्छा वेतन कमा सकती थी। परन्तु अच्छा है कि उसे वैसी सुरक्षित और शांत जिंदगी पसंद नहीं आई। मुक्ता, स्वतंत्र सोच वाली है और वो अपने जीवन के निर्णय खुद लेती है। उसके सिद्धांत और मूल्य मुझे पहले से ही पता थे। बारहवीं कक्षा में जब एक पड़ोसी उसके एक 'लीकड' परीक्षा पत्र लाया, तो मुक्ता ने पटक कर दरवाजा बंद किया और नकल के पर्चे को देखने तक से इंकार किया।

सुनंदा के देहान्त के बाद मुक्तांगन केवल मुक्ता के कारण ही जीवित रह पाया। यह सच है कि हमारे पास समर्पित स्टॉफ था। साथ में मुक्ता को मेरा और आनंद का भी सहारा था। परन्तु मुक्ता को सभी ने सहर्ष स्वीकार किया। किसी अन्य व्यक्ति का

स्टॉफ ने, शायद इस गर्मजोशी से स्वागत नहीं किया होता। मुक्ता का दिल सही जगह पर है। उसे मरीजों से वाकई में लगाव है। और साथ-साथ उसमें एक संस्था को चलाने के गुण और कुशलताएं भी हैं। सुनंदा में भी, वे तमाम गुण विद्यमान थे। मुझे इस बात की खुशी है कि मुक्ता ने सुनंदा की वसीयत सम्भाली।

दारू और ड्रग्स के मरीजों की पत्नियों के लिए मुक्ता ने, एक अलग समूह शुरू किया। पहले हमें ऐसे अलग ग्रुप की जरूरत समझ में नहीं आई। विवाहित दम्पतियों की बैठकों में महिलाएं खूब बोलती थीं, परन्तु बड़े समूह में वो अक्सर दिल की बात कहने में हिचकिचाती थीं। मुक्ता और मैंने ऐसी कई मीटिंग्स में भाग लिया। वहां कम उम्र की पत्नियां हमेशा हमारी उपस्थिति का इंतजार करती थीं। मैं उन्हें सुनंदा और अपने वैवाहिक झगड़ों के बारे में बताता और उनके निदान भी सुझाता। यह सुनने में उन्हें बड़ा मजा आता। आज भी उन कहानियों को सुनने में उन्हें आनंद आता है। हमें इन मीटिंग्स में बहुत मजा आता। वहां हम सामूहिक गीत भी गाते। दरअसल, मर्द मरीजों ने मीटिंग्स की शिकायत भी की, “आपने हमारी पत्नियों को बहुत सिर चढ़ाया है। घर में बातचीत के दौरान वे आपका उदाहरण देकर हमारी बोलती बंद करती हैं।”

एल्कोहलिक्स एनॉनिमस ग्रुप में एक समूह है एलेनॉन जो शराबियों के जीवनसाथियों का ध्यान रखता है। उसके सदस्य केवल सलाह और दिशा ज्ञान ही नहीं देते हैं। वे अपने व्यक्तिगत अनुभव और कहानियां सुनाते हैं, और अन्य महिलाओं को उनकी “मर्जी के अनुसार लेने, और बाकी छोड़ने” के लिए आमंत्रित करते हैं। यानि महिलाएं खुद निर्णय लें कि कौन सी सीखें उनकी समस्याओं को सुलझाने में काम आएंगी। इस समूह का आत्म-संशोधन (सेल्फ करैक्शन) में विश्वास है। उनके अनुसार दारू या ड्रग्स की लत का हल केवल पति को दोष देकर नहीं निकलेगा। इसके लिए अंदर झांककर दिमाग के तनाव और एडिक्शन से जुड़े कलंक से मुक्त होना होगा। ‘सहचरी’ समूह के भी वही सिद्धांत हैं। यहां महिलाएं खुद की समस्याओं को, अन्य महिलाओं के साथ बांटती हैं। चर्चा के दौरान उन्हें अपनी समस्याएं काफी मिलती-जुलती लगती हैं। वो अपनी मनपसंद के अन्य विषयों पर भी चर्चा करती हैं जिसमें घर बजट का प्रबंधन, बिना दिखावे के अल्प-खर्च में त्यौहार मनाना, भी शामिल होता है।

जब हम नई इमारत में शिफ्ट हुए तब इस महिला समूह ने मुक्तांगन के मरीजों के लिए चपाती बनाने का ठेका लिया। उन्होंने चपाती का काम अपने हाथ में लिया, बाकी भोजन अन्य मरीजों ने बनाया। अब यह समूह ज्यादा व्यवसायी हो गया है। अब वो पुणे में कई कम्पनियों को अचार, चटनी और दोपहर का भोजन सप्लाई करता है।

मेरा एक मित्र मुक्तांगन देखने आया था और मैं उसके साथ मुक्तांगन से बाहर निकल रहा था। तभी सहचरी समूह की महिलाओं ने मुझे चिढ़ाना शुरू किया। मैंने अपने मित्र से कहा, “जरा उनकी ठहाकेदार हंसी सुनो। यह वही महिलाएं हैं जो कभी अपने पतियों के एडिक्शन पर फूट-फूट कर रोती थीं।”

उनमें से एक ने मेरी बात पर टिप्पणी की, “बाबा, मेरा पति अभी भी दारू पीता है, परन्तु मैंने उससे अपनी मुस्कुराहट पर असर पड़ने नहीं दिया है, क्योंकि मेरी मुस्कुराहट मेरे नियंत्रण में है।”

मैं उसका विवेकशील वाक्य सुनकर स्तब्ध रह गया। सहचरी समूह ने उसे सिखाया – अपनी समस्याओं पर रो नहीं। समस्याएं तो साथ रहेंगी ही, और शायद उनका कभी कोई हल भी निकलेगा। परन्तु उनपर सिर धुनने और गुस्से होने से क्या लाभ? जीवन की ओर सुनंदा का भी यही दृष्टिकोण था। मुझे खुशी है कि हमारी बेटियां उस संदेश को आगे ले गईं। देहान्त के अनेकों वर्ष बाद भी सुनंदा का दर्शन, आज भी मुक्तांगन में गूंजता है।

मुक्तांगन में हम बच्चों के मुद्दों पर भी काम करते हैं। पति के एडिक्शन से पत्नी पर तो सीधा असर होता ही है, पर बच्चे भी उसे मूक होकर झेलते हैं। पत्नियां दूसरी औरतों के साथ दुख-दर्द बांटकर कुछ राहत महसूस करती हैं, परन्तु बच्चों को चुपचाप उस संताप को झेलना पड़ता है। जहां पिता शराबी हो, उस घर में बड़े होना बड़ा कठिन होता है। शराबी और मारने-पीटने वाले पिता से, बाप का न होना ही बेहतर है। जब दारू पीकर पिता पड़ोस में कोई हंगामा करता है तो उसका बच्चों के दिमाग पर बहुत गलत प्रभाव पड़ता है।

हमने ऐसे बच्चों की समस्याओं पर अपना ध्यान केंद्रित किया। बच्चों को सलाह-मशविरा देना, माताओं की काउंसिलिंग से कहीं अधिक कठिन होता है। घर में पिटने वाले बच्चों में हमें पहले हिंसा के प्रभाव को दूर करने की जरूरत महसूस हुई। इसमें हमें बहुत सावधानी बरतनी थी, क्योंकि हमें पता नहीं था कि बच्चे उसे सहन कर पाएंगे या नहीं। यह भी सम्भावना थी कि काउंसिलिंग से कहीं उनकी भावनात्मक स्थिति और खराब न हो जाए।

पिटने वाले एक बच्चे की प्रतिक्रिया दिल को छूने वाली थी। उसने पूछा, “मेरा घर, पड़ोसियों के घर जैसा क्यों नहीं है?” उसके जीवन की असलियत इस रहस्यमय प्रश्न में छिपी थी। स्वाभाविक था कि बच्चे में, शराबी पिता का विरोध करने की क्षमता नहीं थी। जब पिता शराब में धुत्त होकर आता तो बच्चा अपनी असुरक्षा बता नहीं पाता था। परन्तु बच्चे में खुद के, और पड़ोस के घर में तुलना करने की क्षमता

थी। उसे अपने घर की गड़बड़ पता थी। क्या वो बालक अपने पड़ोसी बच्चों से ईर्ष्या करता था? यह मुझे पता नहीं। क्या पड़ोसी बालक उसे अपने खेल में शामिल करते थे? या फिर वो उसे दुत्कारते थे?

शुरू में साहित्यकार पु. ल. देशपांडे और उनकी पत्नी सुनीताबाई मुक्तांगन के वार्षिकोत्सव में आते थे। एक बार वो अपने साथ मुख्यमंत्री श्री शरद पवार को भी लाए। एक 12 वर्ष की बच्ची के मार्मिक भाषण ने सारे मेहमानों के दिलों को छुआ। 'तब और अब' की परिस्थिति पर प्रकाश डालते हुए उसने कहा, "जब पिता दारू पीते थे तब मैं मित्रों को घर पर नहीं बुला सकती थी। पर अब सब मित्र, मेरे घर आकर खेलते हैं। हम साथ-साथ पढ़ते हैं। पहले पिता के घर आने पर मैं भयग्रस्त होती थी, पर अब मैं उत्सुकता से उनके घर आने का इंतजार करती हूँ।" समारोह में उपस्थित एडिक्ट्स को संबोधित करते हुए उसने कहा, "क्योंकि आप दारू पीते हैं इसलिए आपके परिवारवाले आप पर ताने कसते हैं और आपसे बातचीत नहीं करते हैं। आपको शायद लगता हो कि आपको कोई प्यार नहीं करता है। पर मैं आपको असली सच्चाई बताती हूँ, मेरे प्यारे काका, हम सब आपसे बहुत प्रेम करते हैं...।"

यह सुनकर पु. ल. की आंखें छलक आईं। विडियो फिल्म इसकी साक्षी है। उन्होंने बाद में कहा, "कितनी प्यारी थी वो लड़की, कितनी समझदार थी! उसने क्या पाप किया जिससे उसे ऐसा बचपन मिला?" शरद पवार जो एक मंझे हुए राजनेता थे का दिल भी उस लड़की की बात को सुनकर पसीजा। साहित्यकार और विधायक ना. दो. महानोर ने मुझे बताया कि समारोह के पूरे एक हफ्ते बाद तक शरद पवार अपने हर भाषण उस लड़की का उल्लेख करते रहे। "अपने बच्चों की ऐसी हालत मत करो," की अपील उन्होंने लोगों से की।

मैंने पाया कि शराब और ड्रग एडिक्ट्स की पत्नियों से ज्यादा उनके बच्चों पर इस व्यसन का प्रभाव पड़ता था। मैं इन पत्नियों को अपनी बेटियाँ जैसे मानता था। मैंने उनकी कई दर्दनाक कहानियों को विस्तार से सुना था। परन्तु बच्चों की कहानियों को सुनना उससे भी कठिन था। चाहें बच्चे गरीब अथवा अमीर घरों के हों उनकी आंतरिक अशांति और संघर्षों को सुनकर मन बेहद उदास होता था।

कुछ बच्चे मेरे जहन में हमेशा के लिए अंकित हो गए हैं। मुझे तीसरी कक्षा के एक लड़के की याद है जिसे उम्र के लिहाज से सातवीं में होना चाहिए था। पिता के नशे का उसकी शिक्षा पर बहुत बुरा असर पड़ा और वो प्राथमिक कक्षा में कई बार फेल हुआ। लड़का अपनी माँ और छोटी बहन के साथ रहता था। पत्नी, अपने पति के व्यसन को झेल नहीं पाई और रिश्ता तोड़कर अलग रहने लगी। अभी बच्ची छोटी

और नादान थी, परन्तु लड़का बड़ा था और वो इस दबाव को झेल नहीं पा रहा था। स्कूल में शिक्षक उसकी प्रगति से नाखुश थे। उन्होंने मां को लड़के को मंद बुद्धि वाले बच्चों के स्कूल में दाखिल करने को राजी किया। मां को अपने लड़के का हित पता नहीं था।

उस समय लड़का पुणे के एक प्रतिष्ठित अंग्रेजी माध्यम स्कूल में पढ़ रहा था। जो बच्चे होमवर्क नहीं करते, उन्हें स्कूल भयंकर सजा देता था! बाकी बच्चे, दोषी बच्चे के चारों ओर गोला बनाकर जोर-जोर से गाते, “यह एक खराब लड़का है! यह एक खराब लड़का है!” टीचर एक सिरफिरी महिला थी। अगले दिन टीचर ने उस लड़के से लड़कियों की पोशाक पहन कर आने की सजा दी। अगर वो बच्चे की बात को ध्यान से सुनती तो उन्हें पता चलता कि वो लड़का किन मुश्किल परिस्थितियों में जी रहा था। उसके पिता दारू के नशे में घर आकर मां से लड़ाई-झगड़ा करते और पड़ोसी इस हंगामे की शिकायत करते। ऐसे बच्चे को बेहद सहानुभूति की जरूरत थी। उसके जख्म, शब्दों के परे थे। एक बार लड़के का पिता परिवार से अलग रह रहा था। पिता-पुत्र को तब एक-दूसरे की बहुत याद आती थी। शराबी पिता, अक्सर लड़के से मिलने स्कूल आता। लड़के को पिता कक्षा की खिड़की से, गेट के बाहर खड़े दिखते थे। रिसेस ब्रेक में पिता, लड़के से मिलना चाहते थे, परन्तु लड़का उनको मिलने से कतराता था। पिता के गंदे, फटे हुए कपड़े देखकर अगर उसके मित्र चिढ़ाते, “जाओ अपने पिता से मिलकर आओ!” तब वो लड़का शर्म से मर जाता।

पिता और पुत्र दोनों से बातचीत के बाद ही सुनंदा और मैं लड़के के कष्ट को समझ पाए। स्कूल जाकर मैं उसकी टीचर से मिला। परन्तु वो सिरफिरी महिला कुछ भी सुनने को तैयार न थी। फिर मैं हेडमिस्ट्रेस से मिला। भाग्यवश उन्होंने टीचर को लड़के के प्रति उदारता बरतने की सलाह दी। पर हेडमिस्ट्रेस भी चाहती थीं कि लड़के को किसी मति-मंद स्कूल में डाला जाए। “वो हमारे यहां के अनुशासन को झेल नहीं पाएगा।” क्योंकि लड़के के पिता मुक्तांगन में भर्ती थे इसलिए मैंने लड़के को कम-से-कम एक वर्ष और स्कूल में रखने की विनती की। इसके लिए हेडमिस्ट्रेस राजी हो गई।

इस बीच लड़के के पिता का मुक्तांगन में इलाज हुआ। व्यसन ठीक होने के बाद पिता मुक्तांगन में काम करने लगे। उनकी तहजीब, अंग्रेजी में कुशलताएं और बड़ी कम्पनियों में काम करने के अनुभव के कारण वो मुक्तांगन में अन्य कम्पनियों से पत्राचार का काम देखने लगे। वो वाक्य चतुर थे और उन्होंने शराब के व्यसन के कारण नौकरी छूटी कई लोगों को दुबारा नौकरी दिलवाई। पर इन कुशलताओं के बावजूद वो

अपनी पत्नी का दिल नहीं जीत पाए। पत्नी बहुत असें तक अलग रही, परन्तु अब घर में पहले की अपेक्षा बहुत शांति थी। लड़का भी 55-प्रतिशत अंकों से पास हुआ। हम लोग बहुत खुश हुए। हमारे लिए यह अंक बहुत ज्यादा थे। लड़का बड़ी मुश्किल बाधाओं के खिलाफ जंग जीता था।

पिता का नशा जहां कुछ बच्चों को भीरू और उदास बनाता, वहीं अन्य बच्चे जिंदगी के इस स्कूल से और पुख्ता बनते थे। मुझे मुम्बई का एक परिवार याद है जिसमें पत्नी बच्चों के साथ अलग रहने लगी। परन्तु 12-वर्षीय लड़के ने पिता के साथ ही रहने की जिद की। “इस वक्त पिताजी को हमारी सबसे अधिक जरूरत है इसलिए मैं इस समय उनके पास रहूंगा। अगर आप चाहें तो अलग रह सकती हैं,” सातवीं के लड़के ने यह बात मां से स्पष्ट कही। एक अन्य घटना में पति की दारू लत के कारण पत्नी ने जलकर आत्महत्या की। उसके बाद बेटे ने घर का भार सम्भाला और वो पिता को मुक्तांगन में इलाज के लिए लाया। उस लड़के की हिम्मत की प्रशंसा करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं थे। उसकी उम्र उस समय खेलने और मस्ती करने की थी। वो उम्र नखरे करने की और माता-पिता से चीजें मांगने की थी। परन्तु उसकी परिस्थिति बहुत भिन्न थी। इस प्रकार की परिपक्वता उसकी उम्र के लिए अप्राकृतिक थी। पर किसी नकारात्मक प्रतिक्रिया की तुलना में यह परिपक्वता बहुत अच्छी थी।

दारू पीने वालों के बच्चों में, दारू की लत अधिक होती है, इसके बारे में मैंने सुना था। इन विशेष बच्चों की, अन्य बच्चों के साथ तुलना के बारे में भी मैंने पढ़ा था। पर उन बच्चों से वास्तविकता में मिलने के बाद ही मुझे वो तथ्य ठीक प्रकार समझ में आए। मैंने सुना था कि ऐसे बच्चे अपने शराबी पिताओं से घृणा करते थे। ऐसे बच्चे अक्सर दारू न पीने की भी कसम खाते थे, परन्तु बचपन से ही दारू से परिचय होने के कारण, वे बिना समझे ही दारू के चक्र में फंस जाते थे। एक लड़के ने पहली तनखाह के बाद खूब जश्न मनाया। उसे अपने पिता का बर्ताव याद आया और उसका अचेतन मन उन्हीं के कदमों पर चलने लगा। जब नशे में धुल्ल वो लड़का घर वापस आया तो उसकी मां के कष्ट का कोई ठिकाना न रहा। कई महिलाओं को पहले अपने मर्द के नशे का दुख भोगना पड़ता है और फिर बेटे की लत का। इस समूह की हालत सबसे दयनीय होती है क्योंकि वो इस व्यसन के इलाज के बारे में भी बिल्कुल बेखबर और अज्ञान होती हैं। अक्सर तीन पीढ़ियों में दारू के दुःप्रभाव को देखा जा सकता है - जहां दादा, पिता और बेटा सभी दारू के चक्र में फंसे होते हैं।

शराब और ड्रग्स का नशा करने वालों के बच्चों की जटिल मानसिक अवस्थाओं को समझना हमारे लिए मुश्किल था। उन्हें बड़ों जैसे सलाह नहीं दी जा सकती थी।

इसलिए हमने उनके लिए 'अंकुर' नाम का एक अलग समूह बनाया। मराठी में अंकुर का मतलब नया पौधा होता है। हमने उनकी जिंदगी में खुशी और हंसी लाने का प्रयत्न किया। इन बच्चों के लिए बंधू दादा गर्मी की छुट्टियों में शिविर आयोजित करते हैं। बंधू ने बच्चों से मुक्तांगन की दीवारों को, रंग-बिरंगे कागजों से सजाने को कहा। मुख्य दरवाजे और गलियारे को भी सजाया गया। औरंगेमी, संगीत, मिट्टी-कला और पेंटिंग में बच्चे इतने रम गए कि उन्हें देखकर हमारी आंखें नम हो गईं।

हमने उनकी पेंटिंग्स में बहुत गहरी भावनाएं देखने का प्रयास नहीं किया। क्या उनके मन की दुविधाएं, समस्याएं पेंटिंग्स में प्रतिबिंबित हो रही थीं? हम बच्चों से बिना कोई प्रश्न पूछे, महज उनका मनोरंजन करना चाहते थे। वैसे उन प्रश्नों के जवाब हमें पहले से ही पता थे। उन्हें मस्ती और मजे के कुछ क्षण मात्र देकर हम खुश थे। बाद में ते वो खुद अपनी जिन्दगी के सिलसिले को आगे बढ़ाएंगे। गर्मी की छुट्टियों की इन कार्यशालों ने बच्चों को मित्र बनाने का सुअवसर दिया। हमारे यहां बच्चे सुरक्षित थे और पिता के दारू पीने का वहां कोई उपहास नहीं उड़ा सकता था। हमने उन नन्हें मित्रों को अपने विशाल परिवार में खुशी से सम्मिलित किया। फिर बच्चे नियमित रूप से गणतंत्र दिवस और वार्षिकोत्सव पर मुक्तांगन आने लगे। दीवाली पर तो वे निश्चित ही आते ही थे।

इन अवसरों पर बच्चों को हमारे मुख्य हॉल के बाहर इकट्ठा होने में बहुत मजा आता था। हॉल के अंदर औपचारिक कार्यक्रम चलता था और हॉल के बाहर बच्चे दंगा-मस्ती करते थे। हम बस यही चाहते थे।

अध्याय - 6

मुक्तांगन - नए स्थान पर

मुक्तांगन की कहानी सुनाते वक्त अक्सर मेरा मन मुख्यधारा छोड़कर छोटे-छोटे किस्से सुनाने का करता है। शायद आपको भी यह अच्छा लगे। मेरी याददाश्त अब धीरे-धीरे कम हो रही है इसलिए मुझे कुछ बातें अच्छी तरह याद हैं, कुछ नहीं। अतीत को टटोलने का भी मेरा एक तरीका है। मैं उस नई जगह से शुरू करूंगा जहां मुक्तांगन शिफ्ट हुआ। एक दिन मुक्तांगन का खुद अपना कैम्पस होगा यह मुझे सम्भव नहीं लगता था। सच में हमारी ऐसी कोई इच्छा भी नहीं थी। येरवडा मानसिक चिकित्सालय के खुले परिसर में हम काफी खुश थे। हमें जमीन के लिए बहुत मामूली किराया देना पड़ता था। क्योंकि सुनंदा उन दिनों जीवित थी इसलिए मानसिक चिकित्सालय की समस्याएं हमें इतनी चुनौतीपूर्ण नहीं लगती थीं। पर बाद में स्थिति बिल्कुल बदल गई।

नई जगह मिलने से पहले एक अच्छी बात घटी। अगर आप व्यवस्था में किसी नेक, संवेदनशील व्यक्ति को जानते हों तो काम तेजी से बढ़ता है। ऐसे ही अफसर - अशोक कलमकर से मुझे मिलने का मौका मिला। वो पुणे म्यूनिसिपल कॉरपोरेशन के डिप्टी कमिश्नर थे। बाद में अशोक और उनकी बेटी प्राजक्ता से मेरी गहरी मित्रता हुई। हमारे पारिवारिक सम्बंध भी बने। अशोक की सहायता से ही हमें मुक्तांगन के लिए जमीन का प्लॉट मिला। हमारे शहरों में जमीन, सोने से भी अधिक मंहगी है।

केंद्रीय समाज कल्याण विभाग ने सभी राज्यों को एक स्कीम भेजी। स्कीम के अंतर्गत उसने ड्रग्स-मुक्ति के क्षेत्र में कार्यरत संस्थाओं को सरकारी जमीन देने की सहूलियत दी। नए परिसरों के लिए केंद्रीय सरकार, 10 लाख रुपए तक की ग्रांट देने को तैयार थी। क्योंकि यह स्कीम शहरों में ड्रग्स-मुक्ति केंद्र खोलने के बारे में थी इसलिए यह नोटिस सबसे पहले शहरी विकास मंत्रालय को मिला। उसके बाद नोटिस पुणे म्यूनिसिपल कॉरपोरेशन पहुंचा। कुछ दिनों बाद वो नोटिस अशोक कलमकर की मेज तक पहुंचा - क्योंकि उस समय वो शहरी झोपड़पट्टियों के विकास का काम देख रहे थे। नोटिस को पढ़ने के तुरन्त बाद उन्होंने अपने दो अफसरों को मेरे पास भेजा।

मुझे अशोक के साथ अपनी पहली बैठक अच्छी तरह याद है। वो एक दुर्लभ व्यक्ति थे और मैं बस उनको निहारता रहा। वो खुशमिजाज और मिलनसार थे। अशोक एक असाधारण सरकारी अफसर थे। उनका दफ्तर तमाम प्रोजेक्ट्स देखता था। वो बेहद व्यस्त इंसान थे। वो हमें एक सरकारी स्कीम का लाभ दिलाएंगे यह अपेक्षा करना गलत था। पर अशोक एक मेहनती, कर्मठ व्यक्ति थे। उन्होंने कई नए सामाजिक कार्यक्रम शुरू किए थे - बस्तियों में पूर्व-प्राथमिक स्कूल, महिलाओं के लिए सेल्फ-हैल्प ग्रुप्स, युवाओं के लिए व्यावसायिक मार्गदर्शन आदि। पर काम के बोझ की एक शिकन भी उनके चेहरे पर दिखाई नहीं देती थी। उनका दफ्तर भी साफ-सुथरा था जो चित्रों और कम्प्यूटर्स से सजा हुआ था।

अशोक ने पूछा, “क्या आपको जमीन चाहिए?”

यह प्रश्न मुझसे पहले भी पूछा गया था और मैंने कभी ‘हां’ में उत्तर नहीं दिया था। पर इस बाद मैंने तुरन्त ‘हां’ में उत्तर दिया। मेरी सहज प्रतिक्रिया से सुनंदा को कुछ आश्चर्य भी हुआ। “हम जमीन का क्या करेंगे?” उसने पूछा। मैंने कहा, “पहले ले लो। बाद में उसके उपयोग के बारे में सोचना।” सैल्सबरी पार्क के पास हमें एक हरा और समतल प्लाट दिखाया गया। वो प्रमुख जगह पर स्थित था और उसकी ओर हर कोई आकर्षित होता। बाद में पता चला कि वो स्थान एक सार्वजनिक पार्क के लिए आरक्षित था। भूमि अधिग्रहण अधिकारियों ने हमें आधे प्लाट पर संस्था बनाने, और आधे पर सार्वजनिक उद्यान बनाने की सलाह दी। पर अशोक ने उसकी अनुमति नहीं दी। उन्हें लगा कि ऐसे उल्लंघनों से बाद में मुक्तांगन के काम में बाधा पड़ेगी। जब बाकी अफसर जमीन के कागजों में संशोधन करने को तैयार थे, तब अशोक ने उन्हें ऐसा करने से रोका। “यह ईमानदार लोग हैं और एक सच्चे मुहिम में लगे हैं। उन्हें उनका हक कानूनी तरीके से मिलना चाहिए।”

उसके बाद हमने मुक्तांगन का वर्तमान प्लाट देखा। शुरू में वो कोई बहुत अच्छी जगह नहीं लगी। वहां टूटे जंग लगे तार की बाड़ थी, अंदर कूड़ा-कचरा भरा था जिसमें गाय और सुअर घास चर रहे थे। प्लाट की हालत काफी दयनीय थी। उस खुले मैदान को आसपास के लोग शौचालय जैसे भी उपयोग कर रहे थे। पर सबसे अच्छी बात थी कि वो जगह पुराने मुक्तांगन से केवल एक किलोमीटर दूरी पर थी। हमें उस प्लाट को अपने नाम पर हस्तांतरित करने में काफी मेहनत करनी पड़ी परन्तु अंत में हम सफल हुए। उस दौरान पुणे शहर के तीन म्यूनिसिपल कमिश्नर बदले पर भाग्यवश तीनों ने हमें सहयोग दिया। तीसरे कमिश्नर ने अपने कार्यकाल के अंतिम दिन हमारे कागजातों पर हस्ताक्षर किए। उसके बाद प्रस्ताव स्टैंडिंग कमेटी को गया और वहां भी काफी देरी हुई।

क्योंकि मैंने कई सामाजिक संस्थाओं के साथ काम किया था इसलिए मैं राजनैतिक दुनिया के तौर-तरीकों से अवगत था। पर अशोक ने मुझे कुछ नई बातें सिखाईं। किसके पास जाना उपयुक्त होगा यह अशोक को पता था और इसमें वो मेरा मार्गदर्शन करता था। उस इलाके के म्यूनिसिपल काउंसिलर ने हमारा बहुत विरोध किया क्योंकि वो उस जगह पर एक म्यूनिसिपल अस्पताल बनाना चाहते थे। यह बात अलग है कि उसके बिल्कुल पास एक अन्य म्यूनिसिपल अस्पताल था जहां बहुत कम मरीज ही जाते थे। वो काउंसिलर दलित थे और कई आंदोलनों में सक्रिय थे। हम दोनों एक-दूसरे को अच्छी तरह जानते थे पर वो हमारे रास्ते में मुश्किलें खड़ी करने पर तुले थे। अशोक ने एक हल सुझाया, “चलो उनके घर चलें। शायद उससे शायद उनका दिमाग कुछ बदले।” अशोक का सुझाव सही निकला। जब हम दलित बस्ती में स्थित काउंसिलर के घर गए तो वो मुक्तांगन की बात मान गए।

यह तो बस काम की शुरुआत थी। सुनंदा ने एक विशेष टीम गठित की जिसने प्लाट की सफाई की। जंग लगी बाड़ की मरम्मत की गई और सारे कूड़े-कचरे को हटाया गया। क्योंकि खाली प्लाट किसी को भी आकर्षित कर सकता था इसलिए एक शुभचिंतक के सुझाव पर हमने प्लाट में एक शेड बनाया। मुझे समुचित तकनीक के विशेषज्ञ, अरुण देशपांडे की याद आई जिन्होंने लोहे की छड़ों से बहुत सुंदर जियोडेसिक डोम बनाया था। हमारे दस स्वयंसेवी कार्यकर्ता सोलापुर के पास स्थित अंकोली गए और अरुण से जियोडेसिक डोम बनाने की ट्रेनिंग लेकर आए। वापस आकर उन्होंने मात्र ढाई घंटों में डोम का निर्माण पूरा किया। डोम के पुर्जों को खोलकर उसे गिराने और फिर खड़ा करने में लोगों को खूब मजा आया। बाद में दूसरे कार्यकर्ताओं ने भी डोम बनाने की तकनीक सीखी। जल्द ही डोम को स्टील के जाल और सीमेंट से ढंका गया।

एक लम्बे अर्से तक प्लाट पर डोम का एकमात्र ढांचा खड़ा रहा। डोम चौकीदार को लोग मजाक में ‘डोम-कौआ’ बुलाते थे। धीरे-धीरे काम आगे बढ़ा। पर जब मानसिक अस्पताल के प्रबंधन ने हमें तंग करना शुरू किया तब हमारे स्टॉफ ने जल्द-से-जल्द नए प्लाट पर शिफ्ट करने का निर्णय लिया। काम इतना सरल नहीं था क्योंकि एक डोम से हमारी जरूरतें पूरी नहीं होतीं। हमें एक इमारत की जरूरत थी, और बिल्डिंग के लिए फंड की जरूरत थी। निर्माण करने के लिए धन कहां से आएगा?

तभी एक सुखद आश्चर्य घटा। मित्र अरुण घाटे ने मेरी राज्य मुख्यालय के सचिव से भेंट कराई। जब उन्होंने मुक्तांगन के बारे में सुना तो उन्होंने कहा, “अच्छा तो आप ही वो व्यक्ति हैं? भाई आप कहां छिपे थे? मुख्यमंत्री के फंड से आपके लिए पंद्रह लाख रुपए का चेक आया है। मैं तो आपको खोज रहा था!” मेरे मुंह से कोई उत्तर

नहीं निकला। बाद में हमें पता चला कि एक मरीज के विधायक पिता ने, खुद अपने आप अर्जी की कार्यवाही पूरी की थी।

इससे मैं बहुत खुश हुआ। अब निर्माण के बारे में आगे कुछ सोच-विचार किया जा सकता था। तभी मेरी मुलाकात कोल्हापुर निवासी मित्र शिरिष बेरी से हुई। वो एक विश्वविख्यात आर्किटेक्ट हैं और वो कुछ इने-गिने, खास प्रोजेक्ट ही लेते हैं। जापान सरकार की आर्किटेक्चर म्यूजियम में उनका भी एक डिजाइन रखा है। उन्होंने मुक्तांगन के डिजाइन में रुचि दिखाई। वैसे 15 लाख रुपए में इस काम को सम्पन्न करना असम्भव था। उन्होंने मुझे एक अच्छी सलाह दी - प्रोजेक्ट की योजना बनाओ, और साथ-साथ फंड भी इकट्ठे करो। “देखो, पैसा जरूर आएगा। सामाजिक संस्थाओं को तभी फंड्स मिलते हैं जब उनका प्रोजेक्ट शुरू होता है।”

इस आश्वासन के बाद मैं नई इमारत का सपना संजोने लगा। हम चाहते थे कि पुनर्वसन केंद्र न तो बहुत ऊंचा हो, और न ही उसकी बिल्डिंग बहुत फैंसी हो। हम बस एक सरल, सादी इमारत चाहते थे। डिजाइन शुरू करने से पहले शिरिष ने मुक्तांगन में सभी लोगों के साथ विस्तार से चर्चा की। उसने पूछा, “आपको किस प्रकार की बिल्डिंग चाहिए?” मैंने तुरन्त उत्तर दिया, “एक सुरक्षित स्थान जहां से मरीज भाग न सकें। जहां बाहर से शराब और ड्रग्स अंदर न आ सके। और हां, इमारत जेल जैसी न लगे। बिल्डिंग के निवासी खुद को मुक्त और स्वतंत्र समझें।”

कुछ समय बाद शिरिष बिल्डिंग का नक्शा बनाकर लाए। उसमें कहीं पर भी चौकोर कमरे नहीं थे। बीच में एक गोलाकार मंच था जहां बैठने के लिए सीढ़ियां थीं - नीले आकाश के नीचे खुला मंच। इस स्टेज से निकलते ही कार्डसिलर्स के कमरे थे। इस दोस्ताना जगह में कोई किसी को, कहीं से भी बुला सकता था। ऑडिटोरियम के किनारे फूलों की क्यारियां थीं, जो कार्डसिलर के कमरे के सामने थीं। खुला गोलाकार स्थान, खुले वार्तालाप का प्रतीक था।

शिरिष के नक्शे को देखकर हमारा दिमाग सातवें आसमान पर पहुंचा। हम अपने दिमाग में इमारत का चित्रण करने लगे। निर्माण के लिए हम परम्परागत पत्थर उपयोग करना चाहते थे। हमारे प्लॉट के बहुत पास ही पत्थर की खदान थी। मुझे लगा कि पत्थर के उपयोग से पेन्टिंग की जरूरत नहीं पड़ेगी और दीवार पर जमी धूल भी बारिश से धुल जाएगी। पर मन में एक शंका भी थी। पत्थर के उपयोग से इमारत जेल जैसी न दिखने लगे? पर यह शंका निराधार थी क्योंकि हमारे देश में जेल ही नहीं, प्राचीन मंदिर भी पत्थरों को तराश कर ही बनाए गए थे। शिरिष को भी लगा कि पत्थर - निर्माण का, एक प्राकृतिक, पर्यावरण-मित्र बिल्डिंग विकल्प था जिसके उत्खनन में

अपेक्षाकृत कम ऊर्जा व्यय होती थी। पत्थर की तुलना में, ईंटों को जमीन की मिट्टी खोदकर उन्हें उच्च तापमान पर पकाना पड़ता था। इसलिए हमने पत्थर और ईंटों के मिश्रण को, बिल्डिंग निर्माण के लिए चुना। बिल्डिंग का बाहरी कवच पत्थर का होगा और उसमें ईंटों का न्यूनतम उपयोग होगा।

सुनंदा, बिल्डिंग निर्माण के काम को नहीं देख पाई। कैंसर के उपचार में वो व्यस्त रही और बाकी समय अपने मरीजों को देखती रही। कई बार मैं कार में उसको निर्माण साइट पर लेकर गया परन्तु कमजोरी की हालत में उसके लिए पत्थर और रोड़ी पर चलना मुश्किल था। कार में बैठे-बैठे ही उसने इमारत को ऊपर उठते देखा।

शुरू में हम केवल डे-केयर सेंटर का निर्माण करना चाहते थे। परन्तु जैसे-जैसे मानसिक चिकित्सालय ने हमारी परेशानियां बढ़ाईं वैसे-वैसे हमने नक्शे में संशोधन करके उसे बहुमंजिली इमारत बनाने का निश्चय किया। नतीजा? शुरू के 30-लाख का बजट, बढ़कर पहले 50-लाख और बाद में 90-लाख तक पहुंचा!

लोगों से दान मांगने में मुझे काफी हिचकिचाहट होती है। मैं अक्सर इस काम से दूर रहता हूँ। पर ऐसे सार्वजनिक कार्य के लिए मित्रों ने पैसे मांगने के लिए मुझ पर दबाव भी डाला गया। “तुम खुद के लिए पैसे नहीं मांग रहे हो, यह तो लोगों का काम है।” मेरे मित्रों का परिवार काफी बड़ा था, और उनमें कई मित्र धनी भी थे। परन्तु अच्छे काम के लिए भी मैं अपनी मित्रता को नहीं भुनाना चाहता था। मुझे डर था कि, एसहान लेने से कहीं दोस्ती खटाई में न पड़ जाए।

एक मित्र ने हल सुझाया, “धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं से दान मांगो, उनका उद्देश्य तो लोगों की भलाई करना है।” फिर हमने आर्थिक मदद के लिए सिद्धिविनायक मंदिर ट्रस्ट, साई बाबा ट्रस्ट, शिरडी, दोराबजी टाटा ट्रस्ट और कमिन्स इंडिया ट्रस्ट को लिखा। प्रत्येक ट्रस्ट ने हमें 5-लाख की राशि दी। साई बाबा ट्रस्ट ने हमें 10-लाख रुपए दिए क्योंकि हमारे स्वयंसेवक राजाराम के पिता वहां ट्रस्टी थे।

फिल्म अभिनेता नाना पाटेकर मानसिक चिकित्सालय में एक फिल्म की शूटिंग के लिए आए। वो मुक्तांगन भी आए और बीमारी के बावजूद उन्होंने, सुनंदा को काम करते देखा। नाना ने सुनंदा के पास जाकर पूछा, “बोलो, मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूँ?” नाना के प्रड्यूसर ने बाद में हमें 5-लाख का चेक भेजा। मुझे बताया गया कि नाना पाटेकर शूटिंग की तारीखें तभी तय करते हैं, जब प्रड्यूसर उन्हें दान के चेक्स की रसीदें दिखाता है। एक्टिंग के लिए नाना पाटेकर की इस प्रकार की शर्तें थीं। एक अन्य मित्र सदाशिव अमरापुरकर ने 1-लाख रुपए भेजे। सुनंदा की बचपन की मित्र जयश्री फिरोदिया ने भी, उतनी ही रकम दान में दी। यह पैसे अलग-अलग समय पर मिले।

मुक्तांगन की बिल्डिंग का निर्माण हिन्दुस्तान कंस्ट्रक्शंस नाम की कम्पनी ने किया। जब कभी पैसों का टोटा होता तो मैं कम्पनी के मालिक अपने मित्र दिलीप मेहेंदले को अपनी व्यथा बताता, “कृपा निर्माण धीरे करो। जब मैं कहूँ तो निर्माण बंद करो। मैं नहीं चाहता कि हम आपके कर्ज में डूबें!” पर मेहेंदले बस मुस्करा कर कहते, “तुम फिक्र मत करो। हमें पैसा मिल जाएगा। तुम चाहो तो बाद में पेमेंट कर देना। देखो, इमारत का कितना सुंदर डिजाइन और नक्शा है। बड़ी खूबसूरत इमारत है। आर्किटेक्ट शिरीष बेरी के नक्शे को मूर्त रूप देना हमारे लिए एक सुअवसर है - हमारा सौभाग्य है।”

किसी उद्योगपति का मैनेजर मुक्तांगन की साइट देखने आया। उसे नक्शा और डिजाइन बेहद पसंद आया। उसने मुझसे एक अजीब प्रश्न पूछा, “अगर हम आपको निर्माण का पूरा पैसा दें तो क्या आप बिल्डिंग को मेरे मालिक का नाम देंगे?”

यह कैसा सवाल है? मैंने उस मैनेजर से पूछा, “जिन लोगों ने पहले दान दिया है फिर उनका क्या होगा? क्या यह उनसे नाइंसाफी नहीं होगी?”

मैनेजर ने दुबारा पूछा, “पूरे निर्माण की क्या कीमत आएगी?”

मैंने कहा, “80-लाख।” “अगर हम निर्माण की पूरी कीमत दान करें तो फिर क्या? क्या तब आप इमारत को मेरे मालिक का नाम देंगे?”

आप कल्पना कर सकते हैं कि उस प्रश्न के बाद मुझे पर क्या गुजरी होगी। वो मैनेजर मुझे लालच दे रहा था। अनेकों विचार मेरे दिमाग में कौंधे। क्या मैं संस्था को आर्थिक बोझ से मुक्त करूँ? संस्था को मैं किसी अनाम दानकर्ता का नाम क्यों दूँ जबकि श्रृद्धेय पु. ल. देशपांडे ने प्यार से उसे ‘मुक्तांगन’ नाम दिया था? “माफ करें, यह सम्भव नहीं होगा,” मैंने उत्तर दिया। वो व्यक्ति मेरे जिद्दीपन पर बहुत खफा हुआ।

जो लोग किसी निजी स्वार्थ के लिए दान देते हैं वे मुझे अच्छे नहीं लगते हैं। किसी सार्वजनिक कार्य के लिए दान देना एक अच्छी बात है, पर फिर लोग उसमें अपने नाम की पूँछ क्यों जोड़ना चाहते हैं? भारत में इसका भयंकर प्रचलन है। अहमदनगर में सारडा का नाम, सोलापुर में दमानी और पुणे में गरवारे के नाम रोशन हैं। ऐसे अनेकों उदाहरण हैं। इससे मुझे अमरीकी जन-हितैषियों की याद आती है, जो दान देते हैं पर बदले में अपना नाम नहीं चाहते हैं। अमरीका में म्यूर वुड्स नैशनल पार्क जनहित का एक जीता-जागता उदाहरण है। अमरीकी कांग्रेस के सदस्य विलियम केंट ने टामलपियास लैंड एंड वॉटर कम्पनी से 600-एकड़ जमीन को मोटी रकम देकर खरीदा। उनका उद्देश्य उस जमीन पर खड़े रेडवुड पेड़ों और पहाड़ों का संरक्षण करना

था। बाद में राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट ने उसे एक राष्ट्रीय स्मारक घोषित किया। किसी निजी व्यक्ति द्वारा दान की गई भूमि पर बना यह पहला राष्ट्रीय स्मारक था। लोगों ने उसे केंट का नाम देने का सुझाव दिया। परन्तु केंट के आग्रह पर उसका नाम प्रसिद्ध प्रकृतिवादी जॉन म्यूर के नाम पर रखा गया। जॉन म्यूर के प्रयासों और पर्यावरण आंदोलनों के बाद ही अमरीका में राष्ट्रीय पार्कों की नींव रखी गई। यह दान सच में जनहित के लिए था।

अब तक 40-लाख इकट्ठे हो चुके थे, और हम लोग बाकि राशि की उम्मीद लगाए थे। बाकी धन कहां से मिला? मित्रों और सम्बंधियों ने अपनी मेहनत की कमाई से हमें बाकी पैसे दिए। हमने उनसे पैसे मांगे नहीं। पर भाग्य से वो रकम हमें मिली। लोगों ने एक-दूसरे से यह बात सुनी कि मुक्तांगन को निर्माण के लिए धन की आवश्यकता थी। कुछ लोगों को मरीजों ने बताया, बाकी ने और लोगों से सुना। यह खबर 'जंगल की आग' जैसे फैली और धीरे-धीरे हमारे पास पैसे आने लगे। अब हमें सत्ता के गलियारों में चक्कर लगाने की जरूरत नहीं थी, न ही धनी लोगों से गुजारिश करने की आवश्यकता थी। हम लोग आत्म-सम्मान से जी सकते थे और महान समाज सुधारक महर्षि कर्वे के मानकों पर खरे उतर सकते थे। महर्षि कर्वे ने देश में महिला उत्थान की नींव रखी थी।

उन दिनों हमारे सामने कई समस्याएं थीं। FINGODAP के हमारे मित्रों ने हमारे आर्थिक संकट पर आश्चर्य व्यक्त किया। "ऐसा नहीं होना चाहिए। ड्रग्स-मुक्ति पर काम कर रही संस्थाओं को बहुत लोग पैसे देने को तैयार हैं। देखो उस संस्था को अभी-अभी यूरोप से फंड मिले हैं।"

मैं विदेशी फंड्स से शुरू से सावधान था। वहां से बहुत धन मिलता है - जिससे लोग अच्छे, सुंदर दफ्तर बनाते हैं, गाड़ियां खरीदते हैं, पर उससे कार्यकर्ताओं में एक हानिकारक स्पर्धा शुरू हो जाती है। आम लोगों को लगता है कि उस संस्था के पास अपार धन है और उसे स्थानीय सहायता और धन की कोई जरूरत नहीं है। इससे स्थानीय समुदाय की भागीदारी बंद हो जाती है। मैं ऐसा बिल्कुल नहीं चाहता था।

पर अमरीका में रहने वाले कई मित्र मदद करना चाहते थे। उनकी इस कार्य में वाकई रुचि थी। बाद में मुक्तांगन को FCRA (फेयर क्रेडिट रिपोर्टिंग एक्ट) का सर्टिफिकेट मिला जिसे अंतर्गत विदेशी मित्रों का दान स्वीकार किया जा सकता था। पर यह सब सुनंदा की मृत्यु के बहुत बाद ही हुआ।

कुछ लोगों ने सुझाया कि मुक्तांगन को 'इंकम-टैक्स' के प्रावधानों का लाभ उठाना चाहिए। जो लोग सामाजिक कार्यों के लिए दान देते हैं उन्हें टैक्स में छूट मिलती है और

मुक्तांगन को इस सूची में होना चाहिए। पर कुछ अनुभवी लोगों ने यह करने से मना भी किया। उनके अनुसार कुछ लोग टैक्स बचाने के लिए यह धंधा करते हैं। आयकर में छूट मिलने के बाद वो दान देने वाले से अधिकांश धन वापस ले लेते हैं जिससे संस्था का झूठी रसीदें बनानी पड़ती हैं। इसलिए हमने उसे छोड़ने का निर्णय लिया।

मित्र सदाशिव अमरापुरकर ने फिल्म इंडस्ट्री के लोगों से सहायता दिलवाने का वादा किया। फिल्म अभिनेता ड्रग्स व्यसन के खिलाफ बड़ी महफिलों में आवाज उठाते हैं। पर मुझे यह बात कुछ जमी नहीं क्योंकि अपनी व्यक्तिगत जिंदगी में बहुत से अभिनेता शराब का सेवन करते हैं। ड्रग्स-मुक्ति केंद्र के लिए उनकी सेवाएं लेना पाखंड होता। लोकप्रिय फिल्मों में, कुछ अपवादों को अगर छोड़ दें तो अधिकांश फिल्मों दारू को बढ़ावा देती हैं। यह मुक्तांगन के मूल्यों के बिल्कुल विपरीत था। हम क्यों मंहगे होटलों में यह आंदोलन चलाएं और वहां शराब का बिल चुकाएं? इससे हमारे मुहिम को नुकसान ही होता।

जब अधिकांश विकल्प काम न करें, तो फिर सामाजिक संस्थाओं को क्या करना चाहिए? यह प्रश्न मुझे सता रहा था। क्या हम मुक्तांगन के बारे में सपना देखना बंद कर दें? मेरा उत्तर था - ऐसे सपने देखना और उनकी कल्पना करना बिल्कुल वैध था। पर इसके लिए संस्थाओं को धनी लोगों से 'सफेद धन' ही मिले यह जरूरी नहीं था। मुक्तांगन में हमारी समस्या थी - हमें चेक द्वारा 'सफेद धन' चाहिए था।

पर सुनंदा आशावान थी। उसका कहना था कि हमारी समस्याओं का हल कहीं और से नहीं, बल्कि हमारे ईमानदार और सतत काम से निकलेगा। उसके अनुसार समाज अच्छे कामों का आदर कर उनकी सहायता करता था। सुनंदा का विश्वास सही निकला। नए मुक्तांगन के निर्माण के लिए तमाम लोग आगे आए और उन्होंने हमारी मदद की।

सुनंदा की मृत्यु के तीन साल बाद ही मुक्तांगन की नई इमारत का निर्माण पूरा हुआ। उद्घाटन के लिए हमने कोई बड़ा आयोजन नहीं किया। समारोह छोटा और अनौपचारिक था, बिल्कुल वैसा, जैसा सुनंदा ने आयोजित किया था। तब तक हम सुनंदा के सतत परिश्रम और सरलता के मूल्यों को आत्मसात कर चुके थे। मुख्य समारोह में आनंद ने हमारे तीनों मित्रों - अशोक कलमकर, शिरीष बेरी और दिलीप मेहेंदले का इंटरव्यू लिया। शिरीष ने मेहमानों को बिल्डिंग के बारे में बताया - इमारत सहयोग और सह-अस्तित्व को, पारदर्शिता को बढ़ावा देगी और और प्राकृतिक परिवेश की देखभाल करेगी। "मुक्तांगन की जगह बहावदार है - वो बंधनों और प्रतिबंधों से मुक्त है। वहां बंद दरवाजे और निषेध स्थान भी नहीं हैं।" शिरीष ने बिल्डिंग के डिजाइन के पीछे अपने दर्शन का उल्लेख किया।

अशोक ने ज्यादा कुछ नहीं कहा। वो एक बहुत सरल इंसान था। उसने बस इतना कहा कि वो इस महत्वपूर्ण सामाजिक काम में अपने सहयोग से खुश था। अशोक ने हमारी बहुत सहायता की थी और वो बाद में भी हमारी मदद करता रहा। जब कभी हमें पुणे म्यूनिसिपल कॉरपोरेशन में कोई काम होता तब हम हमेशा अशोक से सम्पर्क करते।

अशोक हमेशा काम में डूबा रहता था। उसने अपने डॉक्टर की सलाह के खिलाफ काम किया। पहले एक बार उसे दिल का दौरा पड़ चुका था। मैंने उसे काम का बोझ कम करने की सलाह दी। परन्तु उसने अपने काम की गति बिल्कुल कम नहीं की। एक बार म्यूनिसिपल काउंसिलर्स ने उसके विरोध में आरोप लगाए। पूछने पर अशोक ने कहा, “मेरे किए सामाजिक नवाचार उन्हें नापसंद हैं। वे चाहते हैं कि कुछ भी नया शुरू करने से पहले मैं उनकी मंजूरी लूं। उनका मानना है कि उन्हें बताए बिना मैं कैसे कोई अच्छा काम कर सकता हूं?” मुझे आज भी अशोक के चेहरे की मुस्कुराहट याद है। मुझे उसकी पत्नी और बेटी प्राजक्ता के साथ हुई बातचीत भी याद हैं।

फिर एक दिन अचानक अशोक की मृत्यु की सूचना मिली। प्राजक्ता ने फोन पर मुझे यह खबर दी। अशोक के मृत शरीर को देख मैं अपनी भावनाओं को व्यक्त नहीं कर सका। अरुण घाटे के बाद यह मेरे दूसरे प्रिय मित्र के जाने की बारी थी। प्राजक्ता ने मुझे बताया कि अशोक ने काम के बोझ की वजह से अपने स्वास्थ्य को बिल्कुल नजरंदाज किया। इतना गुणवान व्यक्ति, और कार्य के प्रति इतनी निष्ठा!

पुराने मुक्तांगन में दिन का इलाज समाप्त होने के बाद हमने एक दिन नए मुक्तांगन में शिफ्ट करने का मन बनाया। हमारे स्वयंसेवकों ने फर्नीचर और अन्य उपकरणों को ढोने का काम किया। एक मरीज ने ट्रक का इंतजाम किया। इस टीम में दोनों प्रकार के मरीज थे - जिनका इलाज हो चुका था और जिनका उपचार अभी चल रहा था। कुछ लोग अपने सिर पर सामान लादकर नई बिल्डिंग की ओर चलने लगे। अगर चाहते तो इस दौरान वो मुक्तांगन से फरार भी हो सकते थे, पर उनमें से किसी ने ऐसा नहीं किया।

जब शाम को नए मुक्तांगन में मैं अपना हाथ बंटाने पहुंचा तो लोगों ने मुझे आराम से कुर्सी पर बैठने को कहा। वहां हर व्यक्ति दिल लगाकर मेहनत कर रहा था। मैं बस बैठे-बैठे देख रहा था। पलंग गद्दे, लाकर्स, मेज-कुर्सियां यह सारा सामान मेरे सामने आ रहा था। इस सामग्री को हमने पिछले 15 सालों में इकट्ठा किया था।

धीरे-धीरे नए मुक्तांगन में सामान फिट होने लगा - पहले वार्ड, फिर किचन और ऑफिस। राजाराम ने इन गतिविधियों को इन शब्दों में बयां किया, “मरीजों के लिए शिफ्टिंग एक प्रकार की गुप-थेरेपी थी।”

जल्द ही हम नई बिल्डिंग के अभ्यस्त हो गए। शिरिष ने मरीजों के कमरों और पुस्तकालय के बीच में कांच के विभाजन (पार्टीशन) लगाए थे। मुक्ता उनसे नाखुश थी क्योंकि 'विथड्रावल' के समय कोई मरीज गुस्से, अथवा उत्तेजना में कांच को तोड़ सकता था। शिरिष ने कहा, "एक साल इंतजार करो। अगर कोई कांच तोड़ता है तो फिर मैं उसकी जगह कोई मजबूत पार्टीशन लगा दूंगा।" भाग्यवश, उसकी नौबत नहीं आई। बाद में बिल्डिंग में दो अन्य मंजिलें जोड़ी गयीं। उसके लिए एक अनाम उद्योगपति ने आर्थिक सहायता दी। वहां हमने महिलाओं के लिए एक विशेष केंद्र खोला। अमरीका में बसे मेरे मित्र अनिल देशपांडे ने उसके लिए अधिकांश पैसा उपलब्ध कराया। इसमें से कई कार्य, बहुत बाद में हुए।

मुक्तांगन को बनाने में अनेक लोगों ने सहयोग दिया। उनमें मेरे मित्र शरद और सुचेता तरडे का बहुत बड़ा हाथ था। उन्होंने मुक्तांगन की बाहरी दीवार पर एक शिल्प (स्कलप्चर) बनाया जिसमें उन्होंने मुक्तांगन का एक बड़ा परिवार दिखाया। यह शिल्प शांतिपूर्ण अस्तित्व को दर्शाता है। इस लोकप्रिय शिल्प की पृष्ठभूमि में अक्सर लोग फोटो खींचते हैं। पहले मरीज मुक्तांगन में भर्ती होने में हिचकिचाते थे। अब वही मरीज खुशी-खुशी मुक्तांगन में दाखिल होते हैं। वो मुक्तांगन के सकारात्मक और स्वस्थ वातावरण - शिल्प, खुले मंच और वहां की गर्मजोशी का हिस्सा होना चाहते हैं।

वास्तुशिल्प के लिहाज से मुक्तांगन का डिजाइन उपयोगिता के लिए बनाया गया है। इस पक्ष पर कई आर्किटेक्चरल जर्नल्स में लेख लिखे गए हैं। शिरिष ने इस प्रयोग के बारे में लिखा - कैसे मुक्तांगन का डिजाइन मरीजों के इलाज में सहायक होता है। हम भाग्यशाली थे - इस सुंदर डिजाइन का असर हम अपनी रोजमर्रा की जिंदगी में देख रहे थे। मुक्तांगन में आसमान की ओर खुले आंगन और अनेकों सुगंधित फूलों की क्यारियों के लिए मैं शिरिष का शुक्रगुजार हूं। हर गुरुवार को मुक्तांगन के एम्फीथियेटर में भीड़ जमा होती है। उस दिन परिवार के लोग और रिश्तेदार, मरीजों से मिलने आते हैं। मरीजों को बहुत प्यार से उनके चहेते, घर का भोजन खिलाते हैं। बच्चों का लोग बहुत लाड़-प्यार करते हैं और उन्हें गले लगाते हैं। इस मौके पर मरीजों के रिश्तेदार अवीभूत होकर रोने लगते हैं। अक्सर देखने वालों की भी आंखें भर आती हैं।

मुक्तांगन में हर प्रकार के इलाज पर चर्चा होती है। वहां किसी भी थेरेपी या इलाज को बंद आंखों से स्वीकार नहीं किया जाता है। सुनंदा और मैंने कभी भी किसी भी बेतुकी और फालतू बात को, न घर में और न ही मुक्तांगन में स्वीकार किया। हमने अपनी बेटियों को भी स्पर्धा के वातावरण से बचाया, न ही उनपर हमने शिक्षा के फैंसी विकल्प लादे। इसलिए हम मुक्तांगन में भी इधर-उधर के नकली मॉडल नहीं

थोपना चाहते थे। उदाहरण के लिए अधिकांश अस्पतालों में वार्ड सफेद रंग के होते हैं। वहां पलंग की चादरें, गिलाफ, और टाइल्स भी सफेद होते हैं। वहां फिनायल आदि की तेज गंध भी आती है। किसी भी अस्पताल में यह माहौल आदर्श कहा जा सकता है! हम नहीं चाहते थे कि मरीज अस्पताल को देखकर भयभीत हों और घबराएं। हम चाहते थे कि उन्हें अस्पताल, घर जैसा लगे। क्या हम घर में केवल सफेद चादरें ही बिछाते हैं? इसका उत्तर 'न' ही होगा। इसलिए हमने चादरों, कंबलों और फर्नीचर के कुशन आदि के ऐसे नमूने और रंग चुना जो आंखों को भाएं। मुक्तांगन को बहुत साफ, स्वच्छ रखा जाता है, बिल्कुल घर जैसे। हमारे मरीज बारी-बारी से कमरों को साफ करते हैं।

हम मरीजों को अपने पास रखना चाहते थे - भौतिक और भावनात्मक दोनों रूपों में। अक्सर अस्पतालों में डॉक्टरों और काउंसलर्स के अलग-अलग कमरे होते हैं। वो मरीजों से अपने निजी कमरों में, किसी निर्धारित तारीख को ही मिलते हैं। पर मुक्तांगन में, डॉक्टर अनौपचारिक रूप से मरीजों के साथ वार्ड में मिलकर बातचीत करते हैं। मरीज को डॉक्टर के कमरे तक ले जाने के लिए दो सहायक होते हैं जो मरीज की हर प्रकार की सहायता करते हैं। पर मरीज और डॉक्टर की मुलाकात अक्सर अनौपचारिक होती है।

मैं आपको अशोक पवार की कहानी सुनाना चाहता हूं। वो एक सीनियर कार्यकर्ता हैं जो मुक्ता और मेरे दफ्तर में बाहर से मिलने आए लोगों को देखते हैं। मुक्तांगन में आए नए आगंतुकों के लिए वो बेहतरीन गाइड हैं। अशोक ज्यादा पढ़े-लिखे नहीं हैं पर हरेक कोई उनसे प्रभावित होता है। अशोक एक मरीज की हैसियत से, सुनंदा को नाना पेट के क्लीनिक में मिले थे। उनके पिता पुलिस के रिटायर्ड कांस्टेबल थे। उस समय अशोक दारू के नशे में धुत्त रहते थे। उनमें दारू की दुकान तक चलकर जाने तक की शक्ति नहीं बची थी, इसलिए उनके पिता दारू खरीदकर लाते और अशोक को देते। अक्सर पिता को, अशोक के मुंह के पास का गिलास भी पकड़ना पड़ता था।

सुनंदा ने अशोक को मानसिक डिप्रेशन से निकालने के लिए पहले कुछ दवाईयां दीं। अशोक में बेहतरी के चिन्ह दिखने के बाद उनके पिता उन्हें नाना पेट क्लीनिक में लाने लगे। उस समय अशोक बिल्कुल क्षीण और कमजोर थे। एडिक्शन के कारण उनका वजन बहुत कम हो गया था। धीरे-धीरे अशोक खुद अपने आप क्लीनिक आने लगे। उनका वजन बढ़ा और फिर वो शहर के अन्य हिस्सों के भी चक्कर लगाने लगे। एक दिन अशोक हमें एक बस-स्टॉप पर दिखाई दिए। उन्हें स्वतंत्र रूप से और इधर-उधर आते-जाते देख हमें बहुत अच्छा लगा। मुक्तांगन शुरू होने के बाद सुनंदा

ने उन्हें वहां रोजाना आने को कहा। प्रतिदिन दो बसों बदलकर मुक्तांगन आना अशोक के लिए बहुत बड़ी बात थी।

अशोक की व्यक्तिगत जिंदगी काफी दुखदायी थी। दारू शुरू करने के बाद उनकी पत्नी और लड़का उसे छोड़कर चले गए थे। सुनंदा ने उसकी पत्नी को मुक्तांगन बुलाया। पत्नी को अशोक के स्थाई रूप से दारू छोड़ने का आश्वासन दिया गया। उसके बाद पत्नी कई बार मुक्तांगन आई। अंत में उसने अशोक के साथ दुबारा रहने का निर्णय लिया।

मुक्तांगन में मरीजों और मेडिकल स्टॉफ को हमने एक-दूसरे के बहुत करीब लाने का प्रयास किया। उनके बीच की दूरी को हमने कम किया। सामान्य अस्पतालों में, डॉक्टर की बात अंतिम सच मानी जाती है। पर अक्सर मरीज अपनी बीमारी के बारे में, अक्सर डॉक्टर से भी अधिक जानता है। पर मरीज खुद को व्यसन चक्र से उबार पाने असमर्थ होता है। मरीज के इलाज के समय हम हमेशा उसके बहुमूल्य सुझाव लेते हैं। हम इलाज करने का दावा नहीं करते, हम केवल लोगों को ठीक होने में मदद देते हैं। मुक्तांगन के लम्बे सफर में हमने यह सच सीखा है।

मुक्तांगन की यूनीफार्म का रोचक पक्ष मैं आपको जरूर बताना चाहूंगा। सामान्य अस्पतालों में मरीज अक्सर मोटे कपड़े की, हरी या भद्दे नीले रंग की यूनीफार्म पहनते हैं। मुक्तांगन में हम चाहते थे कि मरीज किसी वाहि्यात, अत्याचारी रंग की यूनीफार्म न पहनें। वो उस रंग के कपड़े पहनें जिसके साथ वो अपनी कोई पहचान बना सकें। इसलिए बहुत चिंतन-मनन के बाद हमने सफेद रंग चुना। सफेद रंग में डिजाइन और शेड्स की छूट थी। मरीज क्या पहनता है - सफेद कुर्ता, पजामा या कमीज यह उनकी मर्जी थी।

कुछ मरीजों को सफेद रंग पसंद नहीं आता है। उपचार के बाद वे अन्य रंगों के कपड़े पहनने के इच्छुक होते थे। पर अब इलाज के बाद कई मरीज स्वेच्छा से सफेद रंग के कपड़े पहनने लगे हैं। शायद सफेद कपड़े उन्हें संयम बनाए रखने में सहायक होते हैं।

ज्यादातर मरीज सक्रिय रूप से इलाज और थेरेपी में मदद करते हैं। वो सामुदायिक सहभागिता बढ़ाने के लिए नए विचार सुझाते हैं। उसका एक उदाहरण है मरीज के घर जाने के वक्त अनुष्ठानिक दीप प्रज्ज्वलन की परम्परा। उपचार के बाद घर जाने से पहले मरीज को कुछ औपचारिकचाएं पूरी करनी पड़ती हैं - जैसे हिसाब-किताब और पुस्तकालय की किताबें लौटाना आदि। एक बार चर्चा के दौरान हमारे दिमाग में एक विचार आया जिसे हमारे स्टॉफ ने आगे बढ़ाया। हमने मरीजों को अंतिम दिन एक

भावुक और यादगार विदाई देने का निर्णय लिया। उस दिन हर मरीज एक दीपक जलाता, जो आंतरिक ज्ञान-ज्योति का प्रतीक था। यह भारतीय परम्परा के बिल्कुल अनुकूल था। मुझे संत सोहीरोबा की याद आती है जिन्होंने अंदर विवेक के दीपक को सुरक्षित रखने की अपील की थी। मुक्तांगन में मरीजों ने जो विवेक और खुद पर जो नियंत्रण हासिल किया था, दीप-प्रज्ज्वलन उसका प्रतीक था।

हमारा हरेक समारोह एक प्रार्थना से शुरू होता है। सुनंदा का प्रिय गीत था, “वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीर पराई जाने रे” जिसका अर्थ है, “जो दूसरों का दुख और दर्द समझता है, वही एक सच्चा इंसान है।” महात्मा गांधी का यह प्रिय भजन था। कुछ लोग “वैष्णव” शब्द पर आपत्ति जताते हैं - क्योंकि हमारे यहां इसी नाम का एक संप्रदाय भी है। पर मुझे इस भजन की दूसरी पंक्ति ज्यादा पसंद थी - “पीर पराई जाने रे” जो दूसरों के कष्टों को महसूस न करें उसे खुद को इंसान कहने का कोई हक नहीं था। यह सरल, बिना लाग-लपेट का विचार मानव अस्तित्व का मर्म था। हमें आसपास अनेकों ऐसे लोग दिखते जो दूसरों के दुख-दर्द से बिल्कुल बेखबर रहते थे। दरअसल वे इंसान नहीं रोबोट्स थे जो धन-दौलत, सत्ता और प्रतिष्ठा के पीछे भाग रहे थे। हमें उम्मीद थी कि मुक्तांगन ऐसे अच्छे लोगों को पैदा करेगा जो दूसरों के प्रति सहानुभूति रखें। अगर इंसान में सहानुभूति और करुणा हो तो उसके बाकी कई अवगुण माफ किए जा सकते थे।

मुक्तांगन छोड़ रहे मरीजों को हम कुछ भेंट देना चाहते थे जिससे मुक्तांगन और उनके के बीच एक अटूट सम्बंध बना रहे। जो व्यक्ति शराब पर संयम रखता, उसे जन्मदिन पर एल्कोहलिक्स एनॉनिमस, एक प्लास्टिक टोकन भेंट करते थे। पिछले कई सालों में कार्ड का विचार बहुत आगे विकसित हुआ। पहले बना सरल कार्ड अब तीन-चार पन्नों का हो गया था। कार्ड में मरीज और मुक्तांगन की सम्पर्क जानकारी के साथ-साथ एक संदेश भी था: “प्रिय मरीज, हम चाहते हैं कि आप संयम बरतें। अगर आपको कभी हमारी जरूरत हो तो निस्संकोच हमसे सम्पर्क करें। हम आपके लिए हर समय हाजिर हैं।” लोगों ने सुझाव पर मरीज के दो फोटो भी कार्ड पर पास-पास चिपकाए गए। पहला फोटो भर्ती के वक्त का, और दूसरा डिचार्ज के समय का। दोनों फोटो का अंतर मरीज की सुधरी हालत दिखाता था। कई लोगों ने इसकी प्रशंसा की, क्योंकि भर्ती के वक्त मरीज का चेहरा अक्सर बुझा हुआ और वजन कम होता था, परन्तु 5 हफ्तों में, मुक्तांगन छोड़ते समय उनका वजन काफी बढ़ जाता था।

लोगों की संस्कृति से मेल खाती कुछ प्रार्थनाओं और श्लोकों का मरीज की विदाई के समय गाए जाते हैं। हमें लगा कि इससे मरीज के दिमाग पर अवश्य असर होगा।

मरीज खुद के सांस्कृतिक परिवेश में दिए गए संदेश को अधिक स्वीकार करेगा। मैंने ऐसी प्रार्थना की कुछ पंक्तियाँ भी लिखीं और उसमें मरीज से शांति और संयम बरतने की विनती की। प्रार्थना में मरीज के सम्पर्क में आने वाले तमाम लोगों की शुभकामनाओं का भी उल्लेख किया गया है। मरीज से एक नया जीवन शुरू करने की अपील की गई है। प्रार्थनाओं का बिल्कुल जादुई प्रभाव हुआ क्योंकि उन्होंने मरीज की अंतर्आत्मा को छुआ। सभी जानते हैं कि अधिकांश धर्मों का भक्ति संगीत, लोगों के दिलों को छूता है।

विदाई के लिए मैंने एक छोटा गीत भी लिखा। परिवार के सदस्य किस तत्परता से मरीज को स्वीकार करने को तैयार है उसमें उसका उल्लेख है। मरीज के घरवाले और रिश्तेदार उसकी काफी तारीफ करते हैं। इसमें एए का संदेश “इस पल को पूरी तरह जियो” और संयम बरतने की बात भी शामिल थी।

मैंने अपनी मित्र और लेखिका उमा विरूपाक्ष को यह विदाई गीत और कविता दिखाई। विरूपाक्ष एक संवेदनशील लेखिका हैं - उन्होंने विदाई के समय एक और अनुष्ठान जोड़ने का आग्रह किया। क्यों न विदाई के वक्त मरीजों की दायीं हथेली पर दही और चीनी का मिश्रण रखा जाए और फिर उन्हें एक अच्छी जिंदगी की शुभेच्छा दी जाए? इसका मतलब होगा - संयम के साथ खुशहाल जिंदगी की कामना। अब हम मुक्तांगन से जाने वाले हरेक व्यक्ति को दही-चीनी का प्रसाद देते हैं।

मैंने मरीजों के विदाई समारोह के लिए कुछ अन्य गीत भी लिखे थे। यशोदा ने उन्हें अपने दिल से गाया। उसकी स्पष्ट और सरल आवाज हरेक का दिल छूती थी।

विदाई के अंतिम शब्द पहले सुनंदा कहती थी, अब मुक्ता कहती है, “कृपा इस कार्ड को दिल के पास वाली बायीं जेब में रखें। अगर कभी आपको व्यसन की तीव्र इच्छा उठे तो इस कार्ड को पढ़ें। उससे आपका संयम बरकरार होगा।” कई ऐसे मित्र-मरीज हैं जो सुबह उठकर, और रात को सोने से पहले कार्ड को पढ़ते हैं। कुछ कार्ड पर लिखे गीतों को गाते हैं। एक मरीज का किस्सा बहुत दिलचस्प है। जैसे ही दारू के लिए वो जेब से पैसे निकाल रहा था वैसे ही उसका हाथ मुक्तांगन के कार्ड से छुआ। उसने तुरन्त अपना मन बदला और दारू बिना खरीदे दुकान से उतरा। कई मरीजों को इस कार्ड से सकून और शांति मिली है।

हमारे मरीज विदाई समारोह के अपने अनुभव, दूसरों को बताते हैं। शुरू में उनमें डर, मुक्तांगन के खिलाफ विरोध और वहां से निकल भागने की इच्छा होती थी। कुछ ने मुक्तांगन से पलायन करने के तरीके भी खोज निकाले थे। परन्तु हफ्ते भर में ही वो वहां अभ्यस्त हो गए थे। मुक्तांगन में 35 दिनों के प्रवास के दौरान कुछ मरीजों ने

जितने मित्र बनाए, उतने दोस्त उन्होंने पूरी जिंदगी में नहीं बनाए थे। कुछ लोग अपने जीवन में उतना पहले कभी नहीं हंसे, जितना वे मुक्तांगन में हंसे। वो भूल गए थे कि वो भी दिल खोलकर, ठहाके मारकर हंस सकते थे। मुक्तांगन में मिले प्रेम और गर्मजोशी की सभी प्रशंसा करते थे। ये कहानी-किस्से मुझे दिल से छूते हैं। सुनंदा की मृत्यु के बाद मुझे लगा कि मुक्तांगन अब पहले जैसा नहीं रहेगा, क्योंकि वहां अब सुनंदा की करुणा और ईमानदारी नहीं होगी। पर जब मैं मरीजों की इन मार्मिक कहानियों को सुनता हूं तो मेरी सारी शंकाएं हवा में उड़ जाती हैं।

हमारे कई मरीज और कार्यकर्ता मुक्तांगन की परम्परा में नए-नए विचार जोड़ते, और यही बात मुक्तांगन को एक खास जगह बनाती थी। इन विचारों को कब स्वीकार किया गया, मुझे इसका पता तक नहीं होता था। उसमें एक पहल थी रात के भोजन से पहले 20-मिनट तक मौन-व्रत। एल्कोहलिक्स एनॉनिमस में भी भोजन से पहले एक प्रार्थना सत्र होता था। एक बार जब मैं अचानक मुक्तांगन पहुंचा तो मैंने वहां मरीजों को चुपचाप आंखें बंद करे जमीन पर बैठे देखा। मैंने इसका कारण पूछा। वार्ड के इंचार्ज ने कहा, “हम भोजन से पहले 20-मिनट की मौन रखते हैं।” मैंने पूछा, “कब से?” जवाब मिला, “इसे तो काफी समय हो गया।” इन मरीजों को इस प्रकार चुपचाप देखकर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। इस पहल को किसने शुरू किया, यह किसी को पता नहीं, और शायद इसकी आवश्यकता भी नहीं थी।

कुछ लोगों ने “हास्य-क्लब” शुरू किया पर वो बहुत दिनों तक नहीं टिका।

मुक्तांगन में हम सभी नए विचारों का स्वागत करते और किसी बात को मना नहीं करते थे। हमने यह भी तय किया कि हमारी परम्पराओं से गैर-हिन्दु मरीजों को कोई कष्ट न हो। इसीलिए हमने कभी भी आरती शुरू नहीं की और न ही कभी परम्परागत गणेशोत्सव मनाया। पर हम सब साथ मिलकर दीवाली और नया वर्ष मनाते थे।

मुक्तांगन की जिमनेशियम भी एक सामूहिक प्रयास से शुरू हुई। हमारा एक मरीज बॉडी-बिल्डर था। वो सुबह तड़के उठता और रोजाना कसरत करता था। हमने उसके लिए कुछ जिम के उपकरण मंगाए। कुछ युवाओं ने वहां कुछ अन्य उपकरण भी फिट किए। बॉडी-बिल्डर के बहुत से चहेते थे और उससे नए मुक्तांगन में जिम की संस्कृति शुरू हुई। हरेक बैच में कुछ जिम के चहेते होते ही हैं और उससे यह परम्परा जारी रहती है।

उन दिनों ड्रग एडिक्ट्स के पुनर्वसन में संगीत-थेरेपी बहुत चर्चित थी। कई संस्थाएं इस थेरेपी की सिफारिश करती थीं। ऐसा दावा था संगीत के कुछ रागों का दारू और ड्रग एडिक्ट्स के मस्तिष्क पर सकारात्मक प्रभाव पड़ेगा। लोग बड़े आत्मविश्वास से

उनके लाभ का गुणगान करते थे। मुझे उन दावों पर कुछ शक था क्योंकि अगर सही इरादों के साथ संगीत का उपयोग नहीं किया गया तो फिर उसके सही परिणाम भी नहीं मिलते। मैंने प्रसिद्ध संगीतकार वसंतराव देशपांडे का उदाहरण दिया जिन्होंने “जोगिया राग” को कई तरीकों से गाया था। अक्सर राग के बोल एक विरोधात्मक संदेश देते थे। इसी प्रकार “राग भैरवी” भी अनेकों तरीकों से गाया जा सकता था - जो विशुद्ध प्रेम से लेकर दर्द तक का अहसास करा सकता था। मुझे लगा कि इस विषय को संगीतकारों के लिए छोड़ देना चाहिए। रागों का मरीजों पर क्या प्रभाव होता है? हम इस प्रयोग को करना चाहते थे। लोग उसका क्या मतलब निकालेंगे, इससे मुझे कुछ लेना-देना नहीं था। मैं बरसों से शास्त्रीय संगीत का भक्त था और मैंने अनेकों संगीत समारोहों में श्रोता जैसे भाग लिया था। पर मरीजों को इस प्रकार का कोई पूर्व अनुभव नहीं था। वे फिल्म संगीत के अभ्यस्त थे। क्या फिल्म संगीत सुनने वालों पर शास्त्रीय संगीत का कुछ असर होगा? इस पर मुझे शक था।

हर एक शनिवार की सुबह को हम एक संगीत सभा आयोजित करते थे। जिन गानों ने पहले मरीजों पर कुछ प्रभाव डाला था, उन्हें हमने चुना। हमारा उद्देश्य एडिक्ट्स के दिमाग पर असर डालना था इसलिए हम किसी भी प्रकार का संगीत ऊपर से थोपना नहीं चाहते थे। जैसे-जैसे संगीत की महफिलें आगे बढ़ी लोगों को उनमें रस आने लगा। संगीत का सकारात्मक प्रभाव होता है, इस गंभीर बात को लोग भूल गए? लोग अपने मनपसंद गीत गाने लगे - चाहें वो फिल्मी गीत हों, अथवा शास्त्रीय संगीत हो। एक उमरदराज व्यक्ति ने कहा कि उन्हें संगीत का कुछ ज्ञान नहीं था। पर दूसरों के प्रोत्साहन के बाद उन्होंने बहुत सुंदर आरती गायी। उन्होंने और कई अन्य लोगों ने, शायद पहली बार महफिल में लोगों के सामने गाया। आवाज की गुणवत्ता और संगीत की बाकी तकनीकी बातें यहां पर महत्वपूर्ण नहीं थीं। यह कोशिश संगीत को एक भावनात्मक बहाव का माध्यम बनाने की थी। हम मरीजों को संगीतज्ञ बनाना नहीं चाहते थे। यहां आवाज के नियंत्रण पर ज्यादा जोर नहीं था। उन साधारण लोगों के लिए संगीत एक मनोरंजन का साधन था। उच्च कोटि के शास्त्रीय संगीत का संसार उसे तुच्छ समझता था। टिकट लेकर शास्त्रीय संगीत सुनने वाले उसकी परवाह नहीं करते थे। परन्तु मुक्तांगन में गीत गाना या केवल गुनगुनाना भी एक इलाज या थेरेपी थी। इलाज को अगर छोड़ भी दें तो संगीत के कार्यक्रम में लोगों को बहुत आनंद आता था।

संगीत संध्याओं में मेरा एक निजी स्वार्थ था। लोकप्रिय फिल्मी गीतों से मुझे समकालीन संगीत के विषय में बहुत कुछ मालूम पड़ा था। ग्रामीण परिवेश से आने के कारण मैं ज्यादा फिल्में नहीं देख पाया था। पुणे आने के पश्चात मैंने ‘न्यू-वेव सिनेमा’

भी नहीं देखा था। मेरे पास फिल्में देखने के लिए पैसे ही नहीं थे। पर जैसे-जैसे संगीत महफिलों को सिलसिला आगे बढ़ा मुझे ऐसे तमाम गीत सुनने के मिले जिनका आधार शास्त्रीय संगीत था। जल्द ही मुझे लोकप्रिय फिल्मों के गीतों में छिपे रागों को पहचानने में मजा आने लगा। मैं लोगों से उसी राग पर आधारित अन्य फिल्मी गीत खोजने को कहता। फिर हममें से कोई वो गाना गाता और मैं वहां उसी तर्ज का एक अन्य गैर-फिल्मी गीत जोड़ देता। इस प्रकार मैं विभिन्न संगीतों की एकता के महत्व को, दिखा पाया। मरीजों को मैं यह समझाता कि संगीत मंजिल तक पहुंचने का एक साधन थी, वो खुद मंजिल नहीं थी। और ये साधन केवल सम्पन्न लोगों की बपौती नहीं थी। उन्हें रोजमर्रा की परिस्थितियों में उपयोग किया जा सकता था। मैंने अपने कुछ प्रिय फिल्मी गीत इकट्ठे किए और उनमें बार-बार “शिवरंजनी” एवं “यमन” राग को दिखाया। फिर मरीजों ने तुरन्त उन रागों में कुछ हिंदी और मराठी फिल्म गीतों के अंश जोड़े। मरीजों को इतने अधिक गाने आते होंगे, मुझे इसका पता नहीं था। कुछ लोग, लोकप्रिय मराठी गायक सुधीर फडके और मशहूर गज़ल गायक मेहदी हसन, की नकल उतारने की कोशिश करते। मुझे बाद में पता चला कि शराब का नशा करने वाले अपना बहुत सा वक्त गजले सुनने में बिताते थे। हमने गजलों को गले लगाया, परन्तु जो गजलें शराब पीने की बढ़ाई करतीं, दारू की महिमा का बखान करतीं, उन गजलों को हमने छोड़ दिया। मिसाल के लिए गुलाम अली द्वारा गाई हुई गजल - हंगामा है क्यों बरपा, थोड़ी सी पी ली है...। उसका अर्थ था - क्यों इतना शोर मचा रहे हो, मैंने थोड़ी सी शराब ही तो पी है, मैंने कोई चोरी नहीं की, कहीं डाका नहीं डाला। मुक्तांगन में हम ऐसी गजलों को नहीं गाते थे।

मुक्तांगन में मित्रों के कारण मेरे लिए गजलों का संसार खुला। मेरी डायरी गुलाम अली, मेहदी हसन और फरीदा खानुम की गजलों से भर गई। अगर मैंने अपने युवा मित्रों से गजलें नहीं सुनी होतीं तो मेरा जीवन अधूरा रह जाता। सुबह की संगीत सभा में बहुत सी प्रतिभाएं बाहर निकलीं। मुक्तांगन के हरेक बैच में कुछ ऐसे मरीज जरूर होते, जो कोई वाद्ययंत्र बजाते थे। उनके कारण लोगों की प्रतिभा में चार चांद लगे। कई मरीज अपने प्रिय गीतों की कॉपियां नए मरीजों के लिए छोड़ जाते थे।

डॉ. आनंद नाडकर्णी की उपस्थिति से कार्यक्रमों में एक जबरदस्त मनोरंजन का पुट आता था। वो सैंटा-क्लाज जैसे थे जिनके पास नवाचारों का एक बड़ा थैला था। वो न केवल मरीजों को, परन्तु सुनंदा और मुझमें भी नई जान फूंकते थे। एक बार उन्होंने एक बहुत सकारात्मक सामूहिक गतिविधि सोची। उन्होंने हमसे एक गीत लिखने को कहा जिसमें मुक्तांगन का प्रतीक चिन्ह - उड़ते पक्षी का समावेश हो। उन्होंने बोर्ड

पर दो अंतिम शब्द भी लिखे जो मुक्तांगन के दर्शन और सिद्धांत के द्योतक थे। फिर उन्होंने पहले की पंक्तियों की ताल वाले शब्द खोजने को कहा। जैसे-जैसे शब्द आए वे उन्हें लिखते गए। उसके बाद हमने धीरे-धीरे उन्हें एक क्रम में सजाया। यह क्रम, मुक्तांगन में किसी मरीज के आगमन के बाद की यात्रा दर्शाता था। आनंद के निर्देशन में सामूहिक रूप से यह कविता लिखी गई। इस प्रक्रिया में हम अपनी बातें, दूसरों के सामने रख पाए। उस कविता की रचना में हरेक सदस्य ने भाग लिया था।

जैसा मैंने पहले भी लिखा था, आनंद एक सुपरमानव थे। वो हर महीने मुक्तांगन आते और सबको खुशी और सृजना से भर देते। आनंद और सुनंदा ने मिलकर स्टॉफ उन्मुखीकरण का कार्यक्रम शुरू किया। इसके दौरान स्टॉफ से प्रश्न पूछने, अपनी बातें रखने को और उनपर चर्चा करने को कहा जाता था। काउंसलिंग सत्र कैसे आयोजित किए जाएं? आनंद उन्हें करके दिखाते थे। स्टॉफ को मरीज के दृष्टिकोण से काउंसलिंग देखने को कहा जाता था। इन सत्रों में आनंद मरीज का रोल-प्ले करते थे। बाद में उस सत्र के ऊपर खुली बहस और चर्चा होती थी। स्टॉफ में जो लोग बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे उन्हें भी आनंद की प्रभावशाली शैली से सिद्धांत और अभ्यास में, तालमेल बिठा पाते थे।

अब मैं आपको मुक्तांगन में भर्ती होने वाले एक संगीत निर्देशक राजीव का किस्सा बताऊंगा। अपने प्रवास के दौरान उन्होंने मुक्तांगन के कई गीतों को संगीत से संवारा। उसमें वो कविता भी शामिल थी जिसे हमने सामूहिक रूप से रचा था। इतिफाक से उस समय मरीजों में कई ऐसे लोग थे जो तरह-तरह के वाद्ययंत्र बजाते थे। उनकी एक बढ़िया संगीत टीम बनी जिसमें यशोदा भी शामिल थी। वे इस संगीत का एक ऑडियो कैसेट बनाना चाहते थे और उसकी रिकार्डिंग के लिए हमने एक संगीत स्टूडियो भी बुक किया। हमारे स्टॉफ और मरीज बहुत उत्साह से कैसेट बनाने का काम कर रहे थे। रिकार्डिंग से कई पहले अभ्यास किया गया। कहीं रिकार्डिंग के दिन मरीजों का मानसिक संतुलन बिगड़ न जाए, इसका विशेष ध्यान रखा गया। परन्तु सब कुछ ठीक-ठाक हुआ। संगीत ने सब लोगों को आपस में जोड़ा। यह कैसेट अब बिक्री के लिए उपलब्ध है। डिस्चार्ज के वक्त मरीज उसे अपने साथ घर ले जाते हैं। कई लोग, मानसिक राहत पाने के लिए कैसेट को रोज बजाते हैं।

मैं आपको संगीत निर्देशक राजीव के बारे में बता रहा था। उसके पिता एक सज्जन व्यक्ति थे। उनसे मेरी भेंट पुणे एयरपोर्ट पर हुई। उन्होंने मुझे अपने पुत्र के शराब एडिक्शन के बारे में बताया। क्योंकि मैं परिवार को पहले से जानता था इसलिए राजीव की लत के बारे में सुनकर मुझे दुख हुआ। राजीव बिना नागे रोजाना घर पर

शराब पीकर आता था। पिता से बचने के लिए उसने ऊपरी मंजिल पर चुपचाप पहुंचने के लिए, नीचे से एक सीढ़ी लगाई थी। एक दिन नशे में धुत्त, सीढ़ी चढ़ते हुए वो गिर पड़ा। उससे बहुत हंगामा खड़ा हुआ। पिताजी की इज्जत पर भी धब्बा लगा। इस घटना के पश्चात पिता ने राजीव को मुक्तांगन भेजा। तब तक पिता हमसे राजीव की लत के बारे में खुलकर बात करने को तैयार नहीं थे।

राजीव का स्वभाव एक अच्छे बच्चे जैसा था। वैसे वो एक सम्पन्न परिवार से आया था परन्तु उसने कभी भी बिगड़े नवाब जैसा व्यवहार नहीं किया। मुक्तांगन में उसने सभी काम किए और ऑडियो कैसेट बनाने में हमारी काफी तकनीकी सहायता भी की। संगीत उद्योग से आने के कारण वो रिहर्सल आदि को बहुत गम्भीरता से लेता था। पर वो अपनी लत को आसानी से छोड़ नहीं सका। वो ठीक होकर घर वापस जाता और शराब पीना शुरू कर देता था। पूछने पर उसके काउंसिलर ने कहा कि म्यूजिक इंडस्ट्री ही उसकी लत का मुख्य कारण थी। “संगीत की दुनिया काफी अजीबो-गरीब है। वहां ज्यादातर रिकार्डिंग और एडिटिंग देर रात तक होती है। राजीव के साथी वहां अक्सर शराब पीते थे। ऐसी परिस्थितियों में वो अपनी लत पर कैसे काबू रख सकता था?” काउंसिलर ने पूछा। बाद में राजीव ने अपनी स्थिति पर काबू पाया और उसने शराब पीना छोड़ दिया। मुक्तांगन में उसे शराब से मुक्ति मिली यह बात उसने बाहर किसी ने नहीं छिपाई। एक बार मैं उसे वैशाली रेस्ट्रॉ में मिला। वो वहां अपने मित्रों के साथ था। अगर वो चाहता तो वो मेरी अनदेखी कर सकता था। परन्तु वो गर्मजोशी के साथ आकर मुझसे मिला और उसने मेरे पैर छुए।

हाल ही में उसने मुक्तांगन के एक कार्यक्रम में भाग लिया। म्यूजिक इंडस्ट्री के तमाम सितारों जैसे उसने सोने के काफी गहने पहने थे - कुंडल और अनेकों प्रकार के गले के हार। जब मैंने उससे गहनों के बारे में पूछा तो उसने हंसते हुए कहा, “मुझे इनका काफी शौक है।” उसने मरीजों को मुक्तांगन में खुद के अनुभव सुनाए। “एक समय था जब शराब की खुशबू भी मुझे चिंतित और बेचैन कर देती थी। अब उसकी गंध तक से मुझे नफरत है।” यह सुनकर मुझे बड़ी खुशी हुई। उसे फिल्म उद्योग में बहुत काम मिल रहा था सुनकर और भी प्रसन्नता हुई।

हर महीने के अंतिम शनिवार को, मुक्तांगन में जन्मदिन उत्सव मनाया जाता था। यह कार्यक्रम सुनंदा को बहुत पसंद था। मुक्तांगन की ओर से यह एक सांकेतिक पहल थी। जिन मरीज ने भर्ती के पूरे एक साल तक संयम बरता और दारू एवं ड्रग्स का सेवन नहीं किया, उसका उस दिन सम्मान होता था। नशा न करने वालों के लिए यह काम आसान था। परन्तु एडिक्ट्स के लिए नशे को काबू में रखना वाकई एक

बड़ी बात थी। रिश्तेदारों और सगे-सम्बन्धियों को भी, एडिक्शन पर अंकुश रखने की कठिनाई का कोई अंदाज नहीं था। इसलिए एडिक्शन के चंगुल से खुद को मुक्त करने वालों का उन दिन हम सम्मान करते थे। जन्मदिन एक प्रकार से पुनर्जन्म का ही प्रतीक था, जो मरीजों के संयम को सलाम करता था। यह एए की परम्परा जैसा ही था। एए संयम रखने वाले मरीजों को एक मेडल प्रदान करते थे। एए बहुत से कार्यों में कुशलता के लिए भी मेडल देते थे, जबकि मुक्तांगन में यह उत्सव केवल संयम बरतने के लिए सुरक्षित था।

बहुत लोग इस दिन का बेसब्री से इंतजार करते थे। उस दिन महिलाएं अच्छी साड़ियां पहनती थीं। पुरुष सिर पर टोपी अथवा पगड़ी बांधते थे। उस दिन मरीजों के बूढ़े माता-पिता के साथ उनके बच्चे भी आते और पूरे मुक्तांगन में धमाचौकड़ी करते थे। मुझे सभी पुराने मरीजों के नाम याद नहीं रहते थे पर उनसे मिलने पर मैं उनके नाम और उम्र पूछता था। और फिर सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न: संयम रखते कितने वर्ष हुए? यानि मुक्तांगन छोड़कर संयम बरते कितने साल हुए? जिन्होंने पहले और दूसरे साल में कोई व्यसन नहीं किया था उनकी सबसे अधिक प्रशंसा की जाती थी, क्योंकि शुरू के वर्षों में खुद पर काबू रखना सबसे मुश्किल होता था।

सम्मान समारोह सरल होता था। एक ओर 12 सफेद कुर्सियां रखी होती थीं। पहले सुनंदा और मैं बीच में बैठते थे पर अब मेरे साथ मुक्ता बैठती है। जिन मरीजों का मुक्तांगन में अभी उपचार चल रहा था वे एक ओर बैठते थे। पूरा हॉल खचाखच भरा होता था। बच्चे अपने पिता की गोद में आकर बैठ जाते थे। साफ-सुथरे, बालों में तेल लगे बच्चों को पिता में गोद में बैठे देख बहुत अच्छा लगता था।

जब पुराने मरीज अपने अनुभव सुनाते तो उनसे बहुत कुछ सीखने को मिलता था। एक ने कहा, “मैं भी बिल्कुल आप जैसा ही था। आज जो सफेद कपड़े पहने मरीज हैं बिल्कुल उनके जैसा। जब मुझे पता चला कि संयम बरतने वालों का सम्मान होता है तो मैंने भी मन पक्का किया कि मैं भी अगले साल सम्मान के लिए सफेद कुर्सी पर बैठूंगा।” कुछ लोगों ने और भी खौफनाक किस्से सुनाए। मिसाल के लिए कुछ लोगों ने दारू खरीदने के लिए पैसे चुराए थे, कुछ ने लोगों ने मां मरने का झूठ बोलकर दारू के लिए पैसे मांगे थे। एक ने किचिन के बड़े बर्तन बेंचे थे, दूसरे ने अपनी बेटी की सोने की चेन खींची थी जिसके लिए उसे जेल जाना पड़ा था। “मेरे पिता सारे जीवन एक आदर्श शिक्षक रहे थे। जब वो मुझसे जेल में मिलने आए तो उन्हें देख मैं शर्म से मर ही गया,” एक मरीज ने भर्राई हुई आवाज में कहा।

कुछ ने कहा कि व्यसन छोड़ने के बाद ही रिश्तेदारों को उनकी नेकी और सच्चे जीवन जीने पर यकीन हुआ था। एक ने कहा, “एक बार मित्र मंडली में मैं दारू के गिलास को अपने मुंह तक लाया, पर मैं घूट को गटक नहीं सका।” दूसरे ने कहा, “जब लोगों को मालूम पड़ा कि मैं मुक्तांगन में ड्रग-मुक्ति का इलाज करा रहा हूँ तब मेरी नौकरी चली गई।” एक अन्य ने कहा, “जब मेरी पृष्ठभूमि के बारे में लोगों को पता चला, फिर वो मेरे साथ इज्जत से पेश आए।” एक ने कहा, “पहले मेरे पिता मेरा मुंह देखना नहीं चाहते थे, परन्तु अब वो दरवाजे पर खड़े मेरा इंतजार करते हैं।” दूसरे ने कहा, “पहले बच्चे मेरी परछाई से दूर भागते थे पर अब वो देखते ही, मुझसे चिपक जाते हैं।” जैसे-जैसे लोगों ने अपने कहानी-किस्से सुनाए वैसे-वैसे हमें लगा जैसे हमारे सामने अनेक रंगों में जीवन की धारा बह रही हो। मानवीय भावनाओं के सभी पक्ष - दर्द, पीड़ा, प्रेम, उम्मीद, निराशा, शर्म और गर्व इन व्यक्तिगत कहानियों में छलक रहे थे। इस मौके पर मरीजों के साथ-साथ उनके जीवनसाथियों और रिश्तेदारों ने भी अपने उदगार व्यक्त किए। अक्सर महिलाएं बोलने के लिए सामने आतीं पर फिर भावुक होकर माईक पकड़कर रोने लगतीं। क्योंकि वे एक एडिक्ट की अभ्यस्त थीं इसलिए पति की बदली छवि पर वे विश्वास करें या न करें, यह उन्हें समझ में नहीं आता था। बूढ़े मां-बाप अक्सर कोई गीत या कविता लिखते। ज्यादातर लोग कहते कि उन्हें उम्मीद नहीं थी कि उनका एडिक्ट रिश्तेदार कभी एक सामान्य जीवन जी पाएगा। इन सच्चे किस्सों को सुनकर हर कोई भावुक हो जाता था। इन किस्से-कहानियों की कुछ चरम सीमाएं होती थीं। कुछ लोग अकल्पनीय स्तरों तक चले जाते थे। कई लोग खुद की जन्मजात अच्छाई से प्रेरित होते थे। अनेक परिवार, पति के व्यसन से पूरी तरह तहस-नहस हो जाते थे। महिलाएं गाली खाने के बाद भी, अपने जीवन में नई शुरू करने की कोशिश करतीं थीं। ऐसे भी मर्द थे जो उपचार के बाद अपनी पत्नियों को खुश करने के प्रयास करते थे। लोग अपनी गलतियों को दोहराते क्यों हैं? यह लाख टके का सवाल है। लोग अपने अतीत से सीखते क्यों नहीं हैं? पर यह कहना आसान है, करना कठिन है। यह बात एडिक्शन तक ही सीमित नहीं है। लोग असली जीवन में भी उन्हीं गलतियों को बार-बार दोहराते हैं। ऐसा कहा जाता है कि मनुष्य एक तर्कसंगत जीव है। पर क्या यह वाकई में सच है? पर एक ही सकून है - अगर इंसान अपनी गलती स्वीकार कर ले तो फिर वो बहुत कुछ बरबादी ठीक कर सकता है। अगर कोई व्यक्ति चाहे तो वो सकारात्मक रूप से अपनी स्थिति को बदल सकता है।

मुक्तांगन में एक हस्तलिखित मासिक पत्रिका “मनोगत” निकाली जाती है। उसका अनुभव मैं आपको बताऊंगा। हमारे सभी मरीज और स्टॉफ इस पत्रिका में योगदान

करते हैं। मुक्तांगन में किसी एक व्यक्ति को, पत्रिका का सम्पादक चुना जाता है। जो लोग लिखने में रुचि दिखाते हैं उनकी एक सम्पादकीय मंडली बनती है। यह टीम सारी सामग्री तय करती है। उत्पादन सप्ताह में लेखक, कागज-पेन लेकर कोनों में बैठकर अपने लेख लिखते हैं। इससे एक स्वस्थ गम्भीर साहित्यिक माहौल बनता है। शनिवार के जन्मदिन समारोह के मुख्य अतिथि के हाथों पत्रिका का विमोचन होता है। लोगों के पढ़ने के लिए पत्रिका पुस्तकालय में रखी जाती है। हमने “मनोगत” के पिछले बीस साल के अंक संकलित किए हैं। यह पत्रिका जानकारी का एक खजाना है जिसमें मरीजों ने अपने व्यक्तिगत संस्मरण, कविताएं, चुटकूले, कार्टून आदि दर्ज हैं। नए मरीज इन अनुभवों से सीख सकते हैं। बाहरी दुनिया “मनोगत” का कैसे मूल्यांकन करेगी, यह हमें नहीं पता। पर अगर हम उत्पादन की क्वालिटी को छोड़ दें तो मुक्तांगन के लोग “मनोगत” का अपने नजरिए से मूल्यांकन करते हैं। मुक्तांगन की आंतरिक प्रशंसा के कारण ही पत्रिका चलती रही है। जन्मदिन समारोह पर “मनोगत” की सम्पादकीय मंडली का भी सत्कार किया जाता है। कुछ समय पहले हमने द्विमासिक पत्रिका “आनंदयात्री” छापना शुरू की है। इस पत्रिका को लोगों को डाक द्वारा भेजा जाता है। इससे बाहरी दुनिया को, मुक्तांगन के काम का पता चलता है।

हम एक विशेष पारितोषक वितरण समारोह करते हैं जिसमें इनाम हमेशा एक पेन होता है। यह पुरस्कार उन लोगों को दिया जाता है जो शतरंज, क्रिकेट, टेबिल-टेनिस और खेलों में दक्ष होते हैं। पुरस्कार वितरण के समय बंधू विशेष कमेंट्री देता है, “हमने अपने प्रियजनों को जीवन के शतरंज में मात दी है। परन्तु इस शतरंज के नियम अलग हैं। यहां बादशाह की मात के बाद भी खेल जारी रहता है।”

हम भिन्न-भिन्न चीजों के लिए पुरस्कार देते हैं। हम उन आयोजनों के लिए भी पुरस्कार देते हैं जिनके बारे में कभी किसी ने सुना तक नहीं। यहां उनमें से कुछ का उल्लेख है। आदर्श इलाज का पुरस्कार उसे मिलता है जिसने कष्टदायक ड्रग ‘विथड्राअल’ के समय किसी मरीज की सहायता की हो। उसे भी पुरस्कार मिलता है जिसने नियमितता से सभी कार्यक्रमों में भाग लिया हो, या फिर जो पी टी अथवा योग में सबसे दक्ष हो। “होनहार नवागंतुक” पुरस्कार उस नए मरीज को मिलता है जिसने सभी गतिविधियों में उत्साह से भाग लिया हो। उन लोगों को भी पुरस्कार मिलता है जो घर में आपातकालीन स्थिति होने के बावजूद, अपने इलाज के लिए मुक्तांगन लौटकर आए।

एक पुरस्कार “शैतान लड़के” के लिए होता है। यह पुरस्कार किसे मिले? इसका निर्णय लोग मौके पर करते हैं। “शैतान लड़के” के लिए जरूरी है कि उसने बहुत शरारतें की हों और उनसे लोगों का मनोरंजन हुआ हो। एक पुरस्कार उन लोगों के

लिए है जिन्होंने गुप-थेरेपी से बचने के लिए नए स्थान खोजे हों या मुक्तांगन से पलायन के नए रास्ते खोजे हों। इन पुरस्कारों का मुक्तांगन के प्रबंधकों के लिए विशेष महत्व है। छुपने के स्थान और भागने के रास्ते पता चलने के बाद हम उन्हें बंद कर सकते हैं। वैसे लोगों के छिपने और भागने को हम बहुत गम्भीरता से नहीं लेते हैं। कड़े नियम बनाने से उनका मजा किरकिरा हो जाता।

मुक्तांगन में मरीजों के वार्ड अक्सर मनोरंजन का केंद्र बनते हैं। वहां मामूली बहाना मिलते ही मरीज नाचने और गाने लगते हैं। उस समय वार्ड में मौजूद हार्मोनियम बहुत काम आता है। फिर उम्रदराज मोटे मरीज भी हिंदी फिल्मों की धुनों पर नाचते हैं। अक्सर मैं दर्शक जैसे वहां मौजूद होने की अनुमति मांगता हूं, “मुझे आपके नाच-गाने से ईर्ष्या हो रही है। क्या मैं अंदर आकर उसे देख सकता हूँ?” फिर सभी मरीज मिलकर एक आवाज में उत्तर देते हैं, “उसके लिए आपको मरीज जैसे भर्ती होना पड़ेगा।” मैं खुशी से अपनी हार स्वीकार करता हूं।

मुक्तांगन में हरेक व्यक्ति एक हीरा है। हर बुधवार को इन लोगों से मिलकर मुझे बहुत खुशी होती है। कुछ लोग मेरी चेतना में सदा के लिए अंकित हो गए हैं। मिसाल के लिए प्रकाश वायंगनकर बिना ऊबे, बड़ी नियमितता से अपना काम करता है। जब लोग मुक्तांगन में पूछताछ करने आते हैं तो वो उन्हें पूरी जानकारी देता है और भर्ती की तारीख भी बताता है। उसके अशिष्ट व्यवहार से संस्था की भारी बदनामी होती। वो वेटिंग लिस्ट और दाखिले की तारीखों के साथ जूझता है। वो मरीज को जल्दी भर्ती करने की घूस ले सकता था। क्योंकि बहुत से रिश्तेदार अपने मरीजों को किसी भी कीमत पर दाखिल करवाना चाहते हैं। प्रकाश का काम काफी तनावपूर्ण है। पर दबाव की स्थिति में भी वो अच्छा काम करता है। उसने कभी कोई गलत तरीका नहीं अपनाया। इस नेक इंसान की आज तक किसी ने शिकायत नहीं की है। वो तनावग्रस्त रिश्तेदारों को अच्छी तरह समझाता है। उसे कभी भी गुस्सा नहीं आता है और वो प्रत्येक के साथ शिष्टता से पेश आता है। सेवानिवृत्ति के बाद भी वो वही काम करने मुक्तांगन वापस आया।

मुझे जॉन की भी याद है। प्रकाश की तरह जॉन भी बहुत करीने से अपना काम करता था। वो थेरेपी के दौरान 150 लोगों को सम्भालता था। ड्रग और शराब के व्यसन वाले इतने सारे मरीजों की चुप्पी पर हमें अक्सर अचरज होता था। कामचोर मरीजों से भी काम करवाने में जॉन माहिर था। सुबह वो सभी मरीजों को नियत समय पर उठाता था। वो आपसी झगड़ों को अच्छी तरह सुलझाता था। जब जॉन मुक्तांगन में आया तो उसे बहुत जल्दी गुस्सा आता था। उसकी पत्नी ने हमसे उसकी शिकायत की थी। पर

मुक्तांगन में आकर जॉन पूरी तरह बदल गया। शुरू में कुछ लोगों को जॉन पसंद नहीं आया। पर बाहर से कठोर दिखने वाला जॉन वाकई में बहुत दयालू आदमी था। एक मरीज ने कहा, “मुझे उसके साथ कोई और समस्या नहीं है परन्तु भोजन परोसते समय वो इतना गम्भीर चेहरा क्यों बनाता है?” बाद में मैंने जॉन से कहा, “मित्र, थोड़ा हंसा करो।” अब जब भी मुझे जॉन दूर से दिखता तो मैं उसने हंसने की याद दिलाता और फिर वो खिलखिला कर हंसता। अब बाद पूरे दिन जॉन के चेहरे पर हंसी देखी जा सकती थी।

मुझे एक अन्य मरीज की याद है जो कोल्हापुर का रहने वाला था। वो हरेक का दोस्त था, सब लोग उसे चाहते और उसकी बात सुनते थे। मुक्तांगन में नितिन कैसे आया यह एक रोचक कथा है। उसके उम्रदराज सेवानिवृत्त पिता को समझ में नहीं आया कि वे नितिन की दारू की लत को कैसे छुड़वाएं। नितिन को पहले कई बार मुक्तांगन में दाखिल किया गया था परन्तु उससे उस पर कोई खास फर्क नहीं पड़ा था। कोल्हापुर में आयोजित क्षेत्रीय मीटिंग में मेरी नितिन के दुखी पिता से भेंट हुई। उन्होंने कहा कि वो नितिन की खराब आदतों से परेशान आ चुके थे और अब उसे सम्भालने के लिए उनके पास पैसे भी नहीं थे। मुझे बहुत बुरा लगा। मैं नितिन को अपने साथ मुक्तांगन लाया, जिससे उसके पिता परखर्च का बोझ कम हो।

धीरे-धीरे नितिन ठीक हुआ और उसके बाद मुक्तांगन के काम में हाथ बंटाने लगा। उसके माता-पिता कोल्हापुर में आयोजित बैठकों में भाग लेने लगे। काफी समय के बाद उनके चेहरों पर हंसी वापस लौटी।

विनय राजोपाध्ये भी मुक्तांगन का एक अन्य मित्र हैं। मुक्तांगन पहुंचते ही वो मेरा थैला उठाता है। मैं अपना हल्का थैला देना नहीं चाहता हूं परन्तु उसने इसे अपना नियम बना लिया है। विनय एक सुंदर चित्रकार है। दारू में डूबने से पहले उसके चित्र मशहूर पत्रिकाओं में छपते थे। परन्तु एडिक्शन से उसकी व्यक्तिगत और पेशेवर जिंदगी पर बहुत खराब असर पड़ा। विनय का एक एक्सीडेंट हुआ और उसकी मृत्यु की गलत खबर अखबारों में छपी। इस दुर्घटना में उसके सिर में चोट आई थी जिससे उसका व्यवहार बिल्कुल बदल गया था। मुक्तांगन के उपचार के वो ठीक हो जाता परन्तु घर जाकर अगले दिन से दुबारा शराब पीना शुरू कर देता था। उसकी बूढ़ी मां ने विनय के देखभाल की जिम्मेदारी हमारे ऊपर छोड़ दी। विनय ने मुक्तांगन के आधिकारिक चित्रकार के रूप में बहुत अच्छा काम किया। जब कभी भी पुणे में कोई चित्र प्रदर्शनी होती तब मुक्ता विनय को उसके ड्रग निवारण कार्यक्रम के 20 विशाल पोस्टर्स - “क्रिएशन” के साथ भेजती। नाटक करते समय हम इन पोस्टर्स को पृष्ठभूमि जैसे उपयोग करते थे।

विनय की बहुत सुंदर लिखाई थी। वो अपनी सुंदर हस्तलिपि में मेरी नई कविताओं और प्रार्थनाओं को दीवार पर लिखता था। वो मेरे भाषणों के अच्छे अंशों को भी चुनता था। उदाहरण के लिए, “जब सब्जी काट रहे हो तो समझो जैसे तुम अपना अहम काट रहे हो। जब तुम बर्तन धो रहे हो तो समझो तुम अपना मन साफ कर रहे हो।” मैंने कभी यह बातें कही होंगी। मैं उन्हें कहकर भूल गया परन्तु विनय ने उनका अच्छा उपयोग किया। हर दो महीने में छपने वाली पत्रिका “आनंदयात्री” का सुंदर कवर भी विनय ही बनाता है। जब वो कोई लिखने योग्य बातें जानना चाहता है तो वो मेरे पास आता है। कई बार उसके पूछने के बाद ही मुझे वो बातें सूझती थीं।

शेखर पुरंदरे भी एक नेक इंसान है - जिम्मेदार, शांत और अपने काम में बेहद कुशल। वो बहुत अच्छी काउंसिलिंग करता है और रिकार्ड्स भी अच्छी तरह सम्भालता है। केंद्रीय सरकार को भेजने वाली फाइलों और कागजातों को वो तैयार करता है। कभी इस काम को मैं करता था और मुझे उसमें बहुत मुश्किलें आती थीं। शेखर उसी काम को बहुत आसानी और कुशलता से करता है।

अब मैं प्रफुल्ला मोहिते पर आता हूं। वो फुला आत्या के नाम से लोकप्रिय हैं और महिलाओं के वार्ड की इंचार्ज हैं। वो हरेक की आंटी हैं। वो मेरी छोटी बहन हैं। मुक्ता उन्हें आंटी बुलाती है इसलिए सभी ने उन्हें आंटी बुलाना शुरू कर दिया। उनकी कहानी काफी असाधारण है। 18 वर्ष की उम्र में उन्होंने घर छोड़कर उस लड़के से विवाह किया जिसे वो चाहती थीं। परन्तु उस आदमी के शराबी निकलने के कारण रिश्ता बहुत दिनों नहीं चला। वो बहुत परेशान करता था। अक्सर वो बच्चों के साथ फुला को घर से निकाल देता था। फिर दोनों बच्चे और फुला घर के दरवाजे पर रात बिताते थे। जब कभी वो मेरे घर आती तो मैं उनके चेहरे पर चोटों के निशान के बारे में पूछता था। तब वो झूठमूठ गिरने का बहाना बना देती थी। पर जब हमें उसके पति के अत्याचारों का पता चला तब हमने फुला को बच्चों के साथ सोलापुर में उसकी बहन के पास भेज दिया। हमें डर था कहीं उसका पति सोलापुर जाकर उसे परेशान न करे। परन्तु पुलिस इंस्पेक्टर प्रकाश पवार ने हमारी समस्या सुलझा दी। उसने घर के बाहर एक पुलिसमैन तैनात कर दिया। बाद में फुला के पति का देहांत हो गया। फुला ने कुछ छोटी-मोटी नौकरी करके बच्चों को बड़ा किया।

एक बार मैं सोलापुर एक मीटिंग के लिए गया। वहां फुला हमारे केंद्र में बहुत अच्छा काम कर रही थीं। वो मरीजों से बातचीत करने में बहुत सक्रिय और कुशल थीं। मैं उनकी कुशलताओं से बहुत खुश हुआ। बाद में मुक्ता की अनुमति के बाद मैं फुला को मुक्तांगन लाया। फुला, पुणे में हमारे साथ रह सकती थीं और समय-समय

पर सोलापुर जाकर वहां का काम भी देख सकती थीं। मुक्ता को यह विचार पसंद आया। तब तक फुला की बेटी का विवाह हो गया था और बेटे की कम्प्यूटर शिक्षा पूरी हो चुकी थी। तब फुला ने हमारे साथ काम करना शुरू किया। क्योंकि उनका घर मुक्तांगन के बिल्कुल पास था इसलिए वो शाम को देर तक काम कर सकती थीं।

फुला बहुत कम बोलती हैं, परन्तु हरेक कोई उनकी गर्मजोशी को महसूस कर सकता है। मरीजों की सेवा करने का उनका एक खास अंदाज है। किसी मरीज की देखभाल शुरू करके वो उसे पूरी तरह निभाती हैं। वो मरीज के घर जाती हैं और उसे अपना व्यक्तिगत समय देती हैं। जब तक मरीज ठीक नहीं हो जाता है वो अपनी ओर से पूरा प्रयास करती रहती हैं। इंदौर के एक एडिक्ट लड़के को पूरी तरह फुला ने ही ठीक किया। लड़का पूरी तरह ठीक होने के बाद अब मुक्तांगन में काम करता है। उसकी मां अक्सर उससे मिलने आती है। एक बार मैंने उसकी मां से पूछा, “आपका बेटा कैसा है?” उन्होंने मुस्कराते हुए उत्तर दिया, “वो मेरा बेटा नहीं है, अब वो फुला आंटी का बेटा है।”

फुला बहुत अच्छा भोजन पकाती हैं। सहचरी का ग्रुप हमारे किचिन में काम करता है। फुला उनकी मदद करती हैं। फुला के सुझावों से समूह की भोजन बनाने की कुशलताएं बढ़ी हैं और यह रोज के खाने में भी स्पष्ट दिखता है। फुला ने महिलाओं के वार्ड को बिल्कुल साफ-सुथरा बनाया है। पर्दे, चादरें, गिलाफ वहां सबकुछ एकदम स्वच्छ और साफ होता है। जब मैं महिलाओं के वार्ड की सफाई की प्रशंसा करता हूं तब वे कहती हैं, “इसका सारा श्रेय फुला आंटी को है। हम यहां पर उनके ही कारण हैं।” तब मुझे चेहरे पर चोटों के निशान वाली फुला याद आती है। आज वो मुक्तांगन में पुख्ता तरीके से खुद अपने पैरों पर खड़ी है।

मुझे अरुणा की भी याद है। वो भी एक शराबी पति की क्रूरता का शिकार थी। कुछ समय पहले उसके पति का देहांत हुआ और उसे सामान्य होने में कुछ समय लगा। व्यक्तिगत अनुभवों ने उसे अधिक मजबूत बनाया और वो दूसरों साथ सहानुभूति व्यक्त कर सकती है। अरुणा की काउंसिलिंग में एक अतिरिक्त मानवीय तत्व होता है।

वंदना कुलकर्णी भी एक अच्छी कार्यकर्ता है। वो अखबारों और पत्रिकाओं में वैवाहिक मुद्दों पर लिखती है। जिन मरीजों के जीवन में वैवाहिक मुश्किलें होती हैं वे वंदना से सम्पर्क करते हैं। वंदना के आने से पहले हमें इस बात का कोई अंदाज नहीं था कि उस जैसे व्यक्ति की हमारे यहां जरूरत भी होगी।

कुछ ऐसे भी लोग हैं जो मुक्तांगन के साथ अनायास ही जुड़ गए। अनीता मोडक ने अपने मित्र भास्कर मोरे की सिफारिश की। अब मोरे, मुक्तांगन में फुलटाइम काउंसिलर है। जब उसने मुक्तांगन में काम शुरू किया तो वो सिर्फ एक छात्र था।

कुछ मित्र मुझे कुछ विशेष अवसरों पर ही मिलते हैं। महेंद्र एक तेज लड़का है जिसमें साहित्य को सराहने की अच्छी क्षमता है। जब कभी मैं कुछ रोचक लिखता हूँ तब मैं उसे घर बुलाता हूँ। वो सुबह जल्दी आकर मेरे लेख पढ़ना शुरू करता है। वो समूहों के साथ बातचीत करने में भी कुशल है और लिखने में भी। पर वो शराब की लत पर संयम नहीं रख पाता है। मैं उसे बहुत चाहता हूँ परन्तु उसे बार-बार शराब पीते देख दुखी भी होता हूँ। जब उस पर एडिक्शन का भूत सवार होता है तो फिर वो मरी हुई स्थिति में एक कोने में बैठा रहता है। परन्तु संयम के समय फिर से उसके गुण वापस आ जाते हैं। मुझे यह परिवर्तन बिल्कुल समझ में नहीं आता है। डॉ. आनंद नाडकर्णी ने महेंद्र की काफी मदद की। “तुम मुझे अपने पिता की मृत्यु के बाद बाबा बुलाते हो। तुम्हारे यहां बहुत से मित्र हैं। आनंद भी तुम्हें बहुत चाहता है। जब तुम्हें पीने की तलब लगती है तब हम में से किसी को बुलाते क्यों नहीं हो?” “गलती हो गई। अगली बार मैं याद रखूंगा।” महेंद्र की ईमानदारी और सच्चाई मेरे दिल को छूती है। इसलिए मैं उस पर कभी गुस्सा नहीं होता हूँ। वो एक बहुत सरल और दिल का साफ इंसान है। बस वो अपनी दारू की समस्या पर काबू नहीं पा सका है। महेंद्र जैसे व्यक्ति से मिलकर मुझे लगता है कि मैं दुनिया के बारे में कितना कम जानता हूँ। पर शायद सबकुछ जानने और सत्तावादी होने से मेरी वर्तमान स्थिति ही बेहतर है। मैंने महेंद्र को उसकी आदतों के साथ स्वीकार किया है। उसे हर कुछ महीनों बाद मदद की जरूरत पड़ती है और तब मैं उसकी सहायता करता हूँ। अब उसके बार-बार शराब शुरू करने की मैं फिक्र नहीं करता हूँ पर जिस दौरान वो संयम रखता है उसका आदर करता हूँ। हाल में उसकी तबियत ठीक रही है। कुछ समय पहले वो मेरे यहां आया और उसने मेरे कुछ लेख पढ़े। उस दिन हमें कुछ खाने का दिल करा। इससे पहले हम कुछ कहते वो बाहर से जाकर खाना ले भी आया। जब मैंने उसे पैसे देने की कोशिश की तो उसने कहा, “मेरे पिता भी इसी प्रकार खाना मंगाते थे।” उसके बाद आगे मैंने कुछ नहीं कहा।

मुझे अंकुश दरवेश भी बहुत अच्छा लगता है। वो हमारी सभी तकनीकी समस्याओं का हल है। अगर कुछ वायरिंग और प्लम्बिंग में गड़बड़ होती है तो अंकुश को उसका हल जरूर पता होता है!

एक अन्य अच्छा कार्यकर्ता है सफेद बालों और हरी आंखों वाला संजय भगत। वो बहुत ही सज्जन व्यक्ति है और मुक्तांगन पहुंचने पर हमेशा मेरा अभिनंदन करता है। उसे कभी एक बहुराष्ट्रीय कम्पनी में ऊंचा वेतन मिलता था। वो कई देशों में काम कर चुका था। दारू की लत के कारण ही वो मुक्तांगन के सम्पर्क में आया। उपचार

होने के बाद वो मुक्तांगन में ही काम करने लगा। अब वो मुक्ता का सबसे कुशल सहायक है। वो नई दिल्ली स्थित केंद्रीय सरकार के लिए रपटें लिखने में बहुत कुशल है। वो नियमित रूप से खपोली स्थित रिलायंस फ़ैक्ट्री की कॉलोनी में जाता है। वहां वो मरीजों को देखता है। साथ-साथ वो सभी स्तरों के मैनेजर्स और उच्च अफसरों के लिए ट्रेनिंग आयोजित करता है। संजय का कई कम्पनियों से सम्पर्क है। जब भी वो किसी कम्पनी में जाता है वो उसे मुक्तांगन परिवार से जोड़ने की कोशिश करता है। जैसे वो बहुत लोगों से मिलता है उसी तरह वो इंटरनेट पर भी बहुत सक्रिय है। मेरा भाषण सुनने के बाद लोग अक्सर मेरा बायोडेटा और फोटो आदि मांगते हैं। मेरे पास वो सब नहीं होता है। यह लोग फिर संजय से सम्पर्क करते हैं और वो जो चाहते हैं उन्हें मिल जाता है।

मैंने एक बार संजय से मुक्तांगन में पिछले पांच सालों में आए मरीजों की जानकारी की तालिका बनाने को कहा। मैं जानना चाहता था कि उनमें से कितने खुद को एडिक्शन से मुक्त रख पाए थे। उसने उनके घरों से सम्पर्क किया, मरीजों से विस्तृत जानकारी इकट्ठी की, और मात्र एक महीने में मुझे संपूर्ण जानकारी उपलब्ध कराई। इन तथ्यों के अनुसार 70-प्रतिशत लोगों का पूरी तरह इलाज हुआ था। मुझे इन आंकड़ों पर यकीन नहीं हुआ और मैंने संजय से लिखित में उनकी पुष्टि करने को कहा। उसने हामी भरी और काम पर लग गया। कुछ दिनों बाद मैं संजय से, पहले के मरीजों के बारे में भी, जानकारी इकट्ठी करने को कहूंगा। देखता हूं कि वो क्या करता है। जहां एक ओर वो कम्प्यूटर, इंटरनेट आदि में दक्ष है वहीं वो आफ्टर-केयर के साधारण मरीजों के साथ भी बहुत कुशलता से पेश आता है।

अब मैं आपको किचिन यूनिट के बारे में बताऊंगा। वहां ज्यादातर लोग बनियान और हॉफ-पेंट पहनते हैं और उनकी दाढ़ी बड़ी होती है। वो बहुत अच्छे कार्यकर्ता हैं और आत्मविश्वास से भरे हैं। अक्सर वो बहुत भारी-भरकम उबलती हुई दाल के बर्तन उठाकर कहीं और रखते हैं फिर भट्ठी पर दूसरा बर्तन रखते हैं। किचिन में तापमान बहुत अधिक होने के बावजूद वो बिना किसी शिकायत के वहां काम करते हैं। जब कभी मैं वहां जाता हूं मेरा लोग प्रेम से अभिनंदन करते हैं।

हमारे ज्यादातर स्वयंसेवी पहले किचिन में काम शुरू करते हैं और फिर बाद में दूसरे कार्य करते हैं। उन्हें किचिन में मेहनत-मशक्कत करवाने के पीछे अच्छे कारण हैं। किचिन की नियमितता और कठिन परिश्रम के अभ्यस्त होने के बाद वो किसी भी अन्य कार्य को आसानी से कर पाते हैं। उसके बाद उन्हें अन्य कार्यों के लिए चुना जाता है - वो ऑफिस में सहायक का काम या फिर ग्रुप थेरेपी में मदद करते हैं।

अगर वो ग्रुप थेरेपी में अच्छा प्रदर्शन करते हैं तो फिर वो काउंसिलर बन सकते हैं। मुक्तांगन में मरीज क्योंकि अनेक प्रकार के काम करते हैं इसलिए वे श्रम का महत्व समझते हैं। मुक्तांगन में आने वाले दर्शक मरीजों की सभ्यता, काम में लगन को देख दंग रह जाते हैं। हम दशकों की प्रतिक्रियाओं को अधिक वजन नहीं देते हैं क्योंकि हमें लगता है सभी लोग मूल रूप से अच्छे होते हैं। कई बार उनकी अच्छाई पर धूल जम जाती है। मुक्तांगन बस उस धूल को झाड़ने का काम करता है।

केंद्रीय सरकार के एक अफसर मुक्तांगन में इतने सारे स्वयंसेवकों को देखकर बहुत खुश हुए। उन्होंने कहा, “मुक्तांगन में मुझे दूसरी श्रेणी के स्वयंसेवकों को देखकर बहुत अच्छा लगा। अन्य संस्थाओं में ऐसा नहीं होता है।” तभी मैंने किचिन में काम कर रहे स्वयंसेवकों को तुरन्त बाहर बुलाया। वे सब किचिन में काम कर रहे थे। उनके कपड़े गंदे थे, शरीर पसीने से लथपथ था। जब वो अफसर के सामने खड़े हुए तो मैंने कहा, “देखिए, तीसरी श्रेणी के स्वयंसेवक आपके सामने खड़े हैं। आने वाले समय में ये लोग मुक्तांगन को और आगे ले जाएंगे।” अफसर बड़े अचरज से मुझे और सुनंदा को देखते रहे।

जैसे कांच के मछलीघर में मछली के साथ होता है वैसे ही अतीत के तमाम बिम्ब मेरी निगाहों के सामने तैरते हैं। पल के सूक्ष्म क्षण में, हजारों बिम्ब और यादें मेरे दिमाग में आती-जाती हैं। इन सभी बिम्बों में मुझे सुनंदा का चेहरा दिखाई देता है। उसकी मृत्यु को अब बहुत साल बीत गए फिर भी उसकी यादें मेरे सामने उभर कर आती हैं। मुझे ही नहीं मुक्तांगन में अन्य लोगों को भी सुनंदा की याद आती है। मैं उससे बात करता हूँ, उसका मत पूछता हूँ और उससे परामर्श लेता हूँ। जब हम किसी इंस्पेक्शन में पास होते हैं या फिर कोई मरीज पूरी तरह स्वस्थ होता है तो सुनंदा खुशी में सदैव मेरे साथ होती है।

सुनंदा काफी पतली-दुबली थी और उस समय के मापदण्डों के अनुसार बहुत सुंदर भी नहीं थी। वो ओजस्वी वक्ता नहीं थी, न ही उसने मुक्तांगन के बारे में उसने कोई लेख लिखे। सार्वजनिक मंचों पर वो कभी सक्रिय नहीं थी, और ऐसे मौकों पर वो मुझे ही आगे धकेलती थी। उसके दुर्लभ गुणों का बखान करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं। उसे दुनिया से कोई अपेक्षा नहीं थी। वो प्रशंसा की भूखी नहीं थी। परन्तु वो धीरे-धीरे करके इतनी ऊंची उठी कि उसकी सफलता को देख मैं भी दंग रह गया। मेरे लिए सुनंदा एक शक्ति का स्रोत है। उसने सिखाया कि अच्छा जीवन जीने के लिए बाहरी आडम्बरों की जरूरत नहीं होती। अगर आप के काम में ईमानदारी और निष्ठा होगी तो परिणाम जरूर अच्छे होंगे।

कई बार स्वयंसेवक अपना काम छोड़कर मुझसे सुनंदा मैडम के बारे में पूछते हैं। उससे मैं द्रवित होता हूँ। मैं उनसे पूछता हूँ: “तुम मैडम के बारे में क्या जानते हो?” उन्हें मैडम के बारे में बहुत कुछ पता होता है क्योंकि स्टॉफ से वो जो कोई कहानियाँ या वर्णन सुनते हैं, उनमें सुनंदा मैडम की छवि स्पष्ट उभर कर आती है। कुछ मरीज सुनंदा के साथ बिताए अपने अनुभव भी सुनाते हैं। इससे मुझे भी खुशी मिलती है। सुनंदा मेरे दिल में बसी है इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। परन्तु उसका प्रभाव इतने लोगों पर पड़ा है यह प्रसन्नता की बात है। जब मैं सुनंदा के बारे में कोई कहानी सुनाता हूँ तो श्रोताओं के चेहरे पर खुशी छा जाती है। मेरे लिए उस दृश्य का वर्णन करना मुश्किल होगा।

अध्याय - 7

“हमें गलती बताएं, हम उन्हें सुधारेंगे।”

किसी संस्था को चलाना, सीधा-सरल काम नहीं है। अक्सर उसमें कई दिक्कतें आती हैं। अगर यह मुश्किलें संस्था के शुरू के सालों में आती हैं तो फिर संस्था के बंद होने की सम्भावना बन जाती है। अगर मुश्किलें संस्था के चलने के कुछ सालों बाद आती हैं, तो फिर संस्था उन्हें झेलने में ज्यादा सक्षम होती है। मुक्तांगन में हमें अपनी यात्रा के मध्य में एक झटका लगा जिसने हमें बुरी तरह से हिलाया। हमें उम्मीद नहीं थी कि एक अच्छा मित्र हमारी पीठ में छुरा भोंकेगा और हमें उसके नतीजे भुगतने होंगे।

अब मैं विस्तार से बताऊंगा। मैं रमेश शिंदे से मिला। उन्हें पुणे के आपराधिक जगत की गहरी जानकारी थी और पुलिस विभाग में उनकी अच्छी घुसपैठ थी। एक ओर वो खुद काली-करतूतें करते थे, पर साथ-साथ जनआंदोलनों का समर्थन भी करते थे। हम दोनों में अच्छी मित्रता हुई। उन्होंने कई पुलिस अफसरों और अपराधियों से मुझे मिलवाया। आपराधिक जगत में मेरी शैक्षणिक रुचि थी क्योंकि मुक्तांगन के कई मरीज आपराधिक पृष्ठभूमि से आए थे।

पुणे के मध्य में शिंदे का एक बड़ा हॉल था जिसके उपयोग की अनुमति उसने हमें दी। वो स्थान हमारे मरीजों का मिलन बिन्दु बना और कार्डसिलिंग सेंटर भी। शिंदे ने हमारे ट्रस्टी बोर्ड की कुछ बैठकों में भी भाग लिया। पर हमें जल्दी ही महसूस हुआ कि उसकी मौजूदगी से हमारे मरीजों को कार्डसिलिंग में बाधा आ रही थी। उसने हमारे स्वयंसेवियों और मरीजों से अपने व्यक्तिगत काम करवाने शुरू किए। सुनंदा को यह बिल्कुल पसंद नहीं आया। तब हमने शिंदे की जगह को छोड़ दिया और लोकमान्यनगर में एक अन्य स्थान पर मिलने लगे। अब हम शिंदे से दूर थे और खुश भी।

शिंदे अब भी मुझ से कभी-कभी मिलने आता था, पर ज्यादा बार नहीं। कुछ दिनों बाद एक मरीज हमारे पास दौड़ता हुए आया। उसके मित्र ने मुक्तांगन के सिर पर मंडरा रही विपत्ति से उसे आगाह किया था। कौन सी आपदा? क्या ग्रांट से सम्बंधित? ऐसा तो चलता ही था।

उसके बाद जो कुछ घटा वो असामान्य था। एक बोरी भर के कागजात हमारे दरवाजे पर आकर पटक गए। रमेश शिंदे ने हमारे खिलाफ चैरिटी कमिश्नर के यहां शिकायत दर्ज की थी। आरोप था कि मुक्तांगन कई भ्रष्ट और गैरकानूनी कार्य करती थी और संस्था का संविधान बिल्कुल तानाशाही था। इन आरोपों को सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं दिए गए थे। शिंदे ने मुक्तांगन के लिए एक नए संविधान का प्रस्ताव भी दिया था और उसमें अपना नाम एक ट्रस्टी जैसे घुसाया था। उस दस्तावेज को देख कर पहले तो मुझे यकीन ही नहीं हुआ। फिर मुझे लगा कि शिंदे ने हमसे विश्वासघात कर हम पर पीछे से वार किया था। मुक्तांगन का संविधान एडवोकेट ए डी काले के परामर्श से बना था। हमारे संविधान को चैरिटी कमिश्नर ने अपनी स्वीकृति दी थी।

राम शेलके उस समय मुक्तांगन के अध्यक्ष थे। वो प्रसिद्ध मराठी लेखिका शांता शेलके के भाई थे। हमने शिंदे से शिकायतों का कारण पूछने की सोची। यह हमें ठीक नहीं लगा क्योंकि शिकायत दर्ज करने से पहले शिंदे ने हमसे बातचीत तक नहीं की थी। इसके बावजूद हम दोनों के एक मित्र, सुरेंद्र पाटिल ने सुलह कराने की कोशिश की। उसने मुझे और शिंदे को खाने पर बुलाया जिससे कि आपस में कुछ चर्चा हो सके। परन्तु बैठक में उस विषय पर कोई चर्चा ही नहीं हुई। हममें उनसे एक शब्द भी बोलने की इच्छा नहीं थी। मुक्तांगन पर लगे झूठे आरोपों से हम बहुत विचलित थे। अभी तक किसी ने हमारी ईमानदारी पर कभी कुछ शक नहीं किया था। फिर एक करीबी मित्र द्वारा इस प्रकार के आरोप लगाना असहनीय था। दूसरे शिंदे को अपनी गलती का कोई मलाल नहीं था, उसने अपने व्यवहार के लिए एक बार भी हमसे माफी नहीं मांगी।

एक शाम हम एडवोकेट काले के घर गए। उन्होंने शिंदे द्वारा हमारे खिलाफ पूरी चार्जशीट पढ़ी। मैं उनके सामने ऐसे बैठा, जैसे मरीज डॉक्टर के पास अपने रोग निदान के लिए बैठता है। कुछ देर बाद उन्होंने मुझे कुछ कोरे कागज दिए और चार्जशीट के हरेक बिन्दु पर अपने पक्ष की सफाई लिखने को कहा। वो बताते गए और मैं लिखता गया। यह एक कानूनी दस्तावेज था और उसके तकनीकी शब्दों को पढ़कर मेरा सिर चकराने लगा। धीरे-धीरे करके मैंने अपने सारे तर्क लिखे। जैसे-जैसे मैंने हरेक आरोप का जबाब लिखा वैसे-वैसे मेरी मानसिक अवस्था सुधरती गई, बिल्कुल वैसे ही जैसे ड्रिप लगने के बाद किसी मरीज की हालत सुधरती है। जब मैंने कानूनी भाषा में अपने पक्ष के सारे तर्क और उत्तर लिख डाले तब मुझे कुछ राहत महसूस हुई।

एक अंग्रेजी के अखबार ने हमारे खिलाफ चार्जशीट की खबर जरूर छापी, परन्तु किसी भी मराठी अखबार ने ऐसा नहीं किया। जब मैंने एक पत्रकार से इसका कारण

जानना चाहा तो उसने कहा, “हम मात्र आरोप नहीं छापते हैं। हम कोर्ट के अंतिम निर्णय, अथवा अंतरिम स्टे-आर्डर को ही महत्व देते हैं।” अंग्रेजी अखबार में छपी एक मात्र खबर को शिंदे ने खूब भुनाया। उसने उस खबर की प्रतिलिपियां बनाकर उन्हें बहुत से लोगों और दफ्तरों में भेजा। उसने उन्हें शायद दिल्ली भी भेजा हो। उसने उसे राज्य के स्वास्थ्य विभाग को भी भेजा। उसका पत्र मेरे मित्र अरुण घाटे को मिला (जिसके बारे में मैंने पहले लिखा है)। शिंदे ने मुक्तांगन का प्रतीक चिन्ह (लोगो) आदि चुराकर अपने लिए एक विशेष लेटरहेड बनवाया था। अरुण ने हमें अंत तक केस को लड़ने की सलाह दी। हमने अपने सारे कागजात जमा किए। चार्टर्ड अकाउंटेंट ने हमारे सारे बहीखाते तैयार किए। शिंदे ने हमारे अकाउंटेंट से हिसाब-किताब में त्रुटियां खोजने को कहा था।

इस घटना का दुख मैंने अपने सभी मित्रों को बताया। उनके अनुसार इस प्रकार के प्रकरण और कानूनी उलझनें आजकल आए दिन होती थीं। “गैर-सामाजिक तत्व सामाजिक संस्थाओं और समूहों को इस प्रकार परेशान करते हैं।” एक मित्र ने मुझे इसके कई उदाहरण दिए - जहां सामाजिक संस्थाओं को गलत लोग परेशान कर रहे थे। इस सारी जानकारी से मुझे बहुत कुछ समझ में आया। पुणे में बहुत साल रहने के बाद भी मैं अपने शहर के इस पक्ष से अनभिज्ञ था। शिंदे के प्रकरण से मुझे बहुत कुछ सीखने को मिला।

मुकदमेबाजी में मेरा बहुत श्रम गया। यह दौर मेरे लिए बहुत कठिन था। हर महीने एक तारीख लगती थी और तब चैरिटी कमिशनर के दफ्तर में हमारी मौजूदगी अनिवार्य होती थी। हम तीनों - शेलके, एडवोकेट काले और मैं चैरिटी कमिशनर के दफ्तर के गलियारे में एक सकरी बेन्च पर बैठे रहते थे। काले ने चैरिटी कमिशनर के पद से सेवानिवृत्त होकर, इस क्षेत्र में वकालत नहीं करने का निर्णय लिया था। वो उच्च कोर्ट में कार्यरत थे। परन्तु मित्र की हैसियत से इस केस में उन्होंने मेरा पूरा साथ निभाया। चैरिटी कमिशनर के दफ्तर में उन्हें कई लोग तुरन्त पहचान जाते। तब काले मुस्करा कर उनका अभिवादन करते।

शिंदे की कोर्ट में गैरहाजिरी के कारण कई तारीखें लगीं और गईं। दिन ढलते समय, शिंदे का वकील उनका मेडिकल सर्टिफिकेट पेश कर देता था। हम तीनों किसी तरह अपना दिन गुजारते थे। फिर कमिशनर हमें अगले महीने, दोपहर के समय की एक नई तारीख देता। शिंदे ने भी केस के लिए काफी कागजात तैयार कराए थे। उसने हमें फंसाने के लिए वकीलों का एक ग्रुप तैयार किया था। उनमें से एक महिला वकील मेरी मित्र थीं और हमने कई जनआंदोलनों में साथ भाग लिया था। बाद में उन्हें बहुत

शोहरत मिली। कई साल बात जब मुझे वो एक सार्वजनिक समारोह में मिलीं तो उन्होंने कहा, “शिंदे का प्रतिनिधित्व करके मैंने बहुत गलती की।”

चैरिटी कमिश्नर के दफ्तर में हर महीने हाजिरी ने मेरे सामने एक नई दुनिया खोली। हर रोज वहां सैकड़ों लोग अपने केसों के लिए आते थे। दफ्तर बहुत छोटा था और काम करने वाले लोग भी कम थे। उस काल में बने हजारों स्वयंसेवी संगठनों और संस्थाओं का यहीं पंजीयन हुआ होगा, यह देख मुझे ताज्जुब हुआ। वो दफ्तर हमारे केस को कैसे सुलझा सकता था? वहां मुझे एक मित्र मिला जो बॉडी-बिल्डर था। “तुम यहां कैसे?” मैंने उससे पूछा। “हमारी संस्था के लोगों में मतभेद हैं,” उसने मुझसे कहा। गांव में स्थित मंदिर ट्रस्ट के वहां बहुत लोग थे। दफ्तर में मुझे बहुत सारी महिलाएं दिखाई दीं। इसका कारण था सरकार का वो अध्यादेश जिसके अनुसार ग्रांट मिलने से पहले उनका पंजीयन जरूरी था। बहुत पहले हमें किसी अन्य अनुदान के लिए चैरिटी कमिश्नर से एक सर्टिफिकेट की जरूरत थी। तब दफ्तर में मुक्तांगन के अपडेटेड हिसाब-किताब को देखकर मैं दंग रह गया। पागलपन के उस माहौल में कुछ बातें ठीक भी थीं।

हमारे केस में जैसे ही सुनवाई की तारीख पास आती मुझे बेचैनी होने लगती थी। जब केस स्थगित होता और नई तारीख मिलती तो मैं खुशी से उछल पड़ता था। मुझे बताया गया कि केस के दौरान अगर मुझे विदेश जाना पड़े तो मुझे उसके लिए कोर्ट की अनुमति लेनी होगी। विदेश जाने में मेरी कोई रुचि नहीं थी यह अलग बात थी। पर मेरी आवाजाही पर पाबंदी लगने से मुझे घुटन महसूस हुई। सुनवाई की तारीख वाले दिन मेरा पुणे में रहना अनिवार्य था, उस दिन मैं किसी भाषण अथवा सार्वजनिक कार्यक्रम के लिए बाहर नहीं जा सकता था।

अक्सर कानून उन्हीं लोगों पर लागू होता है जो उसे गम्भीरता से लेते हैं। मैं भी झूठे मेडिकल सर्टिफिकेट कोर्ट को देकर इन बंदिशों से निजात पा सकता था। पर मैं उस मिट्टी का नहीं बना था।

कोर्ट के बाहर सकरी बेन्च पर दिन भर खाली बैठे रहने की नाराजगी और कुढ़न का वर्णन करना मुश्किल है। मेरे दोनों साथियों को भी उसे झेलना पड़ रहा था इसका भी मुझे बेहद मलाल था। मैं कोर्ट में उसी निराशा का अहसास कर रहा था जिसे मैंने सुनंदा के ट्रांसफर आर्डर के समय महसूस किया था। उसका मैंने पहले सविस्तार वर्णन किया है। मुझे लगा कि अपने देश में सामाजिक कार्य करने की सजा तो मुझे मिलनी ही चाहिए। क्योंकि मैंने जीवन में कुछ अलग करने की कोशिश की थी क्या इसलिए लोगों को मुझे परेशान करने का अधिकार था? इस बात पर मैं हंसा और परिस्थिति

को हल्के-फुल्के अंदाज में देख पाया। उससे मुझे काफी बल मिला और फिर मैं केस को बार-बार स्थगन से परेशान नहीं हुआ।

एक शुभ दिन चैरिटी कमिश्नर ने हमें अपने कमरे में बुलाया। “दोनों पक्षों के वकील कहां हैं? आज मैं इस केस की सुनवाई करूंगा।” उसके बाद मामला तेजी से आगे बढ़ा। शिंदे के वकील ने नया मेडिकल सर्टिफिकेट पेश किया। पर जज ने उसे अस्वीकार किया। “मैं तुम्हारे व्यवहार से आश्चर्यचकित हूं। यह तीनों अभियुक्त मुझे हर तारीख पर बाहर बैठे हुए दिखते हैं। और शिकायत करने वाला पक्ष हमेशा गायब होता है। ऐसे मामलों में अक्सर दोषी पक्ष केस में देरी करता है। परन्तु यहां तो शिकायतकर्ता विलम्ब कर रहा है। यह अजीब है।”

उसके बाद जज ने शिंदे के वकील से तमाम प्रश्न पूछे। उनके आरोपों के विरोधाभास स्पष्ट उभर कर आए। जज ने उनके सारे आरोपों को खारिज किया और उनके लिए अलग से केस दर्ज करने को कहा। पंद्रह मिनट के अंदर केस का निर्णय हो गया। मुझे बहुत शांति मिली और खुशी के मारे मुझे नाचने का दिल किया। एडवोकेट काले को लगा कि केस का निर्णय योग्यता पर न कि तकनीकी आधार पर होना चाहिए था, क्योंकि शिंदे के आरोप बहुत ही सतही थे। परन्तु उस समय वो कानूनी बातें मुझे कुछ पल्ले नहीं पड़ रही थीं। मैं एक दुखी अध्याय के खत्म होने से खुश था। शिंदे ने केस की कोई अपील दर्ज नहीं की। उसके वकील ने उसे ऐसा न करने की सलाह दी। बाद में वकील ने मुझे यह बताया, “मैंने शिंदे से कहा कि केस में जो उस दिन हुआ उससे आगे कुछ अपेक्षा नहीं करनी चाहिए।”

उसके बाद से मैंने शिंदे के साथ सभी सम्बंध तोड़ दिए। सुनंदा की मृत्यु के बाद वो मुझसे मिलने आया। जिस गली में वो रहता था मैं बाद में उस गली से कभी गुजरा तक नहीं। बहुत सालों बाद उसने मुझे फोन किया, “मेरे एक फ्लैट में रुचि है। तुम्हारी जान-पहचान का एक अफसर है जो उसमें मदद कर सकता है। कृपा सिफारिश करो।” मैंने उत्तर में कहा, “मैं आपसे जीवन में कोई सम्बंध रखना नहीं चाहता। हम गलती से कभी मिले। अच्छा हो कि हम एक-दूसरे से दूर रहें, और भूल जाएं कि हम एक-दूसरे को कभी जानते थे।”

इस घटना से मुझे गहरा सदमा पहुंचा। मैं इस दर्दनाक घटना का वर्णन नहीं करना चाहता था, परन्तु यादें हमेशा सुखद नहीं होती हैं। सुखद और दुखद यादें जिंदगी का दस्तूर हैं। उनसे ही हमारी जिंदगी पूरी होती है। इस घटना के बाद से हम अपने कार्य को बहुत सूक्ष्मता से देखने लगे। हम बैठकों में ट्रस्टी की हर छोटी बात को नोट करते। अपने हिसाब-किताब में ज्यादा निगरानी बरतते। हमने सभी सम्भव रजिस्टर भरे - जिसमें

सरकार द्वारा ‘अनिवार्य’ और ‘स्वैच्छिक’ दोनों प्रकार के रजिस्टर शामिल थे। पहले कई चीजें हम कैश में खरीदते पर अब हम हर वस्तु चेक से खरीदने लगे। हमारी जैसी तमाम संस्थाएं अपने वार्षिक खातों को अपडेट नहीं करती हैं। अब हम मासिक अपडेट करने लगे और अपने ‘डेड-स्टॉक रजिस्टर’ को भी अपडेट करने लगे। काम को सुचारू रूप से जारी रखने के लिए हमने विशेषज्ञों की सलाह ली। शिंदे की घटना ने हमें झकझोरा, हमें नींद से जगाया। उसके लिए हम शिंदे के शुक्रगुजार थे।

शिंदे ने हमारे लिए एक अन्य समस्या खड़ी की। उसने एक झूठे बंगाली नाम का उपयोग कर समाज कल्याण विभाग के नए निदेशक श्री सतीश गवई से मुक्तांगन के भ्रष्ट कारनामों की जांच कराने का आग्रह किया। सतीश गवई ने तहकीकात के लिए अफसरों को मुक्तांगन भेजा। उन्होंने हम से बहुत सवाल पूछे। मुक्तांगन के खातों में कुछ अनियमितताएं पाई गईं। पर किसी भी पूर्व इंस्पेक्शन में उन मुद्दों को पहले कभी नहीं उठाया गया था। ज्यादातर गलतियां जानकारी के अभाव के कारण हुई थीं। स्पष्ट था कि हमारी नियत बिल्कुल साफ थी। हमने उनके सभी प्रश्नों का ईमानदारी से उत्तर दिया। गवई ने एक और बार मुक्तांगन का निरीक्षण करवाया। इस बार उनके इंस्पेक्टर ने हमें अच्छे काम के लिए शाबाशी दी। बाद में जब गवई मुक्तांगन के एक समारोह में शामिल हुए तो उन्होंने कहा, “मैं खुश हूं कि मैंने कोई गलत कदम नहीं उठाया, नहीं तो एक ईमानदार सामाजिक संस्था को नुकसान पहुंचता।” अब गवई हमारे अच्छे मित्र हैं।

अब हम अपने रजिस्टर नियमितता से भरते हैं। हमारे कुछ स्टॉफ मेम्बरों ने 9001 आईएसओ सर्टिफिकेट लेने का सुझाव दिया। उसके लिए उन्होंने साल भर लम्बी तैयारी की। मैं इस सर्टिफिकेट के पक्ष में नहीं था क्योंकि मरीजों और उनके रिश्तेदारों के चेहरों की खुशी मेरे लिए आईएसओ सर्टिफिकेट से कहीं अधिक मूल्यवान थी। पर मुक्ता को लगा कि आईएसओ सर्टिफिकेट से मुक्तांगन की प्रणालियों की गुणवत्ता बढ़ेगी। फिर हमने आईएसओ सर्टिफिकेट की प्रक्रिया में भाग लिया। आईएसओ के अफसर पूरे एक साल तक मुक्तांगन आते रहे और हरेक रजिस्टर और प्रविष्टि का निरीक्षण करते रहे। उन्होंने हमारी गलतियां सुझाईं और हमने उन्हें सुधारा। उसको बाद आईएसओ कमेटी ने हमें सर्टिफिकेट प्रदान किया। भारत में मुक्तांगन ड्रग मुक्ति क्षेत्र में कार्य करने वाली पहली संस्था बनी जो आईएसओ सर्टिफिकेट से सम्मानित है।

पहले मैं कहता था, “हमारा काम देखो, तुम हमारी गलतियां क्यों दिखा रहे हो?” अब मैं कहता हूं, “कृपा हमारी गलतियां बताएं। हमें उन्हें सुधारने का मौका मिलेगा।” हमें पता है कि कोई भी चीज त्रुटिहीन नहीं होती है। शोरूम से निकलने वाली मंहगी

कारों में भी दोष होते हैं। मुक्तांगन में जो लोग हमारी गलतियां बताते हैं हम उनका स्वागत करते हैं। ऐसे लोग हमें पूर्ण गुणवत्ता की ओर ले जाते हैं।

मैं एक अन्य घटना का जिक्र करूंगा जिसने हमें सुधारने में मदद दी। यह दुखद घटना एक प्रिय मित्र के साथ जुड़ी है इसलिए मैं उसका बयां करना नहीं चाहता था। पर आनंद ने मुझे उसे सुनाने का आग्रह किया। उसके अनुसार ऐसी दुखद यादों को दबाने की बजाए उन्हें दूसरों को सुनाना चाहिए। उस व्यक्ति का नाम था सुहास देवकर। वो मेरे कॉलेज के नजदीकी दोस्त का भाई था। वो न तो किसी क्लास में जाता और न ही किसी से बात करता था। पर वो कई चीजों में बहुत कुशल था। वो एक अच्छा चित्रकार था, और कई वाद्ययंत्र बजाता था। वो एक अच्छा लेखक था और यह हुनर उसकी कहानियों में साफ झलकता था। मैंने उसकी एक कहानी एक पत्रिका के सम्पादक को भेजी। कहानी छपी और पाठकों ने उसे बहुत सराहा। जब मैंने सुहास को यह खुशखबरी सुनाई तो उसकी प्रतिक्रिया बिल्कुल अजीब निकली। उसने लिखना ही बंद कर दिया। सुनंदा ने उसके बदलते मिजाजों (मूड स्विंग्स) को बर्दाश्त किया और उसके साथ अच्छा व्यवहार किया। इसी कारण वो हमारा मित्र बना रहा।

मुक्तांगन की स्थापना के बाद सुनंदा ने सुहास से मुक्तांगन में काम करने को कहा। उसने काम शुरू किया और उसे अपना काम बहुत पसंद आया। उसने बहुत अच्छा काम भी किया। एक समय पर उसे सुनंदा के बाद मुक्तांगन का कार्यभार सौंपने की बात सोची जा रही थी। सुहास के मूड स्विंग्स - यानि मिजाज बदलना जारी था, परन्तु सुनंदा उन्हें नियंत्रण में रख सकती थी।

आनंद नाडकर्णी ने एक कोर-ग्रुप बनाया जिसका कार्य मुक्तांगन के काम को सुधारना था। सुहास उस ग्रुप का प्रमुख था। उसका काम सबसे चर्चा के बाद सुझाव देना था। तभी सुनंदा का देहान्त हुआ। उसके बाद ही हम सुहास के व्यक्तित्व के अन्य पक्ष देख पाए। उसने कोर-ग्रुप को एक नियंत्रण का औजार बनाया और फिर वो दाएं-बाएं सबको आदेश देने लगा। मुक्ता स्टॉफ सदस्य थी, पर इस अभद्रता की आदी नहीं थी। यह कोर-ग्रुप अब पुराने स्टॉफ को परेशान करने लगा। जब कोर-ग्रुप ने मेरे और सुनंदा के लिए अपशब्द उपयोग किए तो हमारे पुराने स्वयंसेवक तुषार ने उन पर जवाबी हमला किया। उसके बाद कोर-ग्रुप हड़ताल पर बैठा। उसके सदस्य कुर्सियों पर मुक्तांगन के दरवाजे पर बैठ गए और तुषार से माफी की मांग करने लगे।

जब मुझे इस घटना के बारे में पता चला तब मैंने तुषार को अपने घर बुलाया और उससे एक क्षमा-याचना लिखने को कहा। तुषार किसी भी पत्र पर हस्ताक्षर करने को तैयार था। “आपके लिए मैं कहीं पर भी हस्ताक्षर करूंगा।” तुषार का पत्र लेकर

मैं मुक्तांगन गया। वहां पर सुहास और उसके साथियों ने मुझे पहचानने से भी इंकार किया, मुस्कुराने की बात दूर रही। मैं ऊपर लाइब्रेरी में गया और वहां मैंने सब लोगों की एक मीटिंग बुलाई। धरना देने वालों को भी बुलाया गया। उनके कुछ बोलने से पहले ही मैंने उन्हें तुषार की लिखित क्षमा-याचना दिखाई। फिर मैंने उनसे पूछा, “आपको मरीजों और उनके रिश्तेदारों के सामने अपनी भावनाओं को इतनी तीव्रता से प्रदर्शित करने की जरूरत क्यों महसूस हुई? आप लोग हड़ताल पर गए? किस लिए? आपकी हड़ताल तब मान्य होती अगर मैं आपकी मांगों को सुनने से इंकार करता। पर मैं पुणे में ही था और आपकी शिकायतें सुनने को बिल्कुल तैयार था। काम करवाने का क्या आपको कोई सभ्य तरीका समझ में नहीं आया?” शुरुआत के इन शब्दों के साथ मैंने जोड़ा, “इस संस्था के ट्रस्टी की हैसियत से, और चैरिटी कमिशनर द्वारा मुझे दिए अधिकार से, मैं अभी इस कोर-ग्रुप को खारिज करता हूं। मेरे आदेश को कोई चुनौती नहीं दे सकता है, और मुझे यह फैसला लेने का पूरा अधिकार है।” मैंने कुछ और जोड़ा, “जो लोग मुक्तांगन छोड़कर जाना चाहते हों वो अभी जा सकते हैं। जो लोग यहां काम करना चाहते हैं हम उनकी मदद से मुक्तांगन को चलाएंगे।”

हे भगवान, यह शब्द मेरे मुंह से कैसे निकले? अगर वो लोग छोड़ गए होते तो फिर मैं मुक्तांगन को कैसे चलाता? सुनंदा के जाने के बाद यह बड़ा काम मैं अकेले बिल्कुल नहीं कर पाता। पर मुझे इस प्रकार अपनी भावनाएं व्यक्त करना जरूरी था। हमने निर्णय लिया था कि हम मुक्तांगन में अनियमितताएं बर्दाश्त नहीं करेंगे, चाहें उसकी हमें कोई भी कीमत चुकानी पड़े। चाहें राह में कितनी भी कठिनाईयां आएँ फिर भी हम सच्चे रास्ते पर चलने में विश्वास रखते थे।

हमने सुहास को लम्बे अवकाश पर भेजा। वो जल्द ही वापस लौटा और उसने माफी मांगी, परन्तु मुक्तांगन के ट्रस्टी ने मुझे उसे दुबारा वापस लेने से मना किया था। मैंने सुहास को वापस नहीं लिया, फिर भी अब हम-दोनों के बीच अच्छे सम्बंध हैं। वो अब किसी अन्य क्षेत्र में काम करता है पर अपना कुछ समय ड्रग्स मुक्ति और पुनर्वसन के लिए भी निकालता है। मैं अक्सर उसकी हड़ताल के बारे में सोचता हूं। मुझे कुछ आश्चर्य नहीं होता है क्योंकि अक्सर उसका मिजाज और व्यवहार बदलता रहता था। परन्तु मुझे अन्य स्वयंसेवियों के ऊपर अचरज होता है क्योंकि वो मेरे बच्चों जैसे थे। उन्होंने मुझे क्यों धोखा दिया? क्या सुनंदा की मृत्यु के बाद उनका मन बदल गया? क्या कुछ गलत संदेशों के कारण उन्होंने ऐसा किया? क्या वफादारी कोई चीज होती है? सुनंदा ने सुहास के लिए कितना कुछ किया था। क्या सुहास, सुनंदा के सारे अहसान भूल गया? सुनंदा ने उसे एक जानलेवा बीमारी से बचाया था। उसे कुछ तो आभार मानना चाहिए था?

अब सुहास एक बंद अध्याय है। उसने मुझे खुद को समझने का एक मौका दिया। मैं एक विनम्र और सहनशील इंसान हूँ और किसी को दुख नहीं पहुँचा सकता हूँ। क्या मेरे अंदर सच को सच कहने की शक्ति थी? मेरे अंदर वो ऊर्जा कहां से आई? वो शक्ति सामान्यतः कहां चली जाती है? चलो, मैंने उस घटना से कुछ तो सीखा।

जब मैं संस्था की समस्याओं से जूझ रहा था तभी मेरे कुछ परम मित्रों का निधन हो गया। इन मित्रों का जाना मेरे लिए बहुत दुखदायी था। श्री वी डी देशपांडे - हमारे बहुत करीबी मित्र और सलाहकार, दुनिया छोड़कर चले गए। इस नुकसान की भरपाई नहीं की जा सकती थी। बहुत मुश्किल परिस्थितियों में भी - कैंसर के बावजूद उन्होंने अपना मानसिक संतुलन नहीं खोया। पत्नी की मृत्यु पर भी वो अविचलित रहे। वो कई ग्रामीण उत्थान संगठनों के साथ जुड़े थे और ग्रामीण समस्याओं के विषय में बहुत संवेदनशील थे। वो जो करते उसे दिलोजान से करते। वो सुनंदा के बहुत करीबी मित्र और विश्वासपात्र थे। उनकी मृत्यु के अंतिम क्षणों तक सुनंदा उनके पास थी।

अध्यक्ष की हैसियत से देशपांडे, मुक्तांगन की गतिविधियों में एक अनुशासन लाए थे। किसी निर्णय पर भरोसा होने के बावजूद मैं उनकी राय मांगता था। पूरी बात सुनने के बाद वो उसपर चिंतन-मनन करके ही अपना मत देते, जिसमें वो उसके अनदेखे पक्षों पर प्रकाश डालते थे। क्योंकि उनका मत तर्क पर आधारित होता था, इसलिए उनकी राय हमेशा बहुत मूल्यवान होती थी। वो भावनाओं से प्रभावित नहीं होते थे। जब उन्हें अपनी मृत्यु का आभास हुआ तब उन्होंने मुक्तांगन में हमारी सहायता के लिए अपने एक मित्र ए पी कुलकर्णी का नाम सुझाया। कुलकर्णी का भी उसी प्रकार का एक प्रबुद्ध दृष्टिकोण था। उनकी रुचि शोध प्रकल्पों, ग्रामीण योजना और विकास में थी। वो आज भी हमारे अध्यक्ष हैं।

राम शेलके की मृत्यु से भी मुझे बहुत धक्का लगा। वो एक अच्छे मित्र और नेक इंसान थे। वो हृदय रोग से पीड़ित थे। उसका जिक्र उन्होंने केवल मुझ से किया था। परिवार के सदस्यों को भी उसके बारे में नहीं मालूम था। देहान्त के बाद ही उनके परिवारजनों को मैंने उनके रोग के बारे में बताया। तीसरी मृत्यु सुनंदा की थी, जिसकी क्षति मेरे लिए शब्दों में बयां करना मुश्किल है। सुनंदा के न होने से मेरे जीवन में जो शून्य पैदा हुआ, यह पुस्तक उसकी गवाही है। सुनंदा की मित्र और क्लासमेट चित्रा, और अपने क्लासमेट माधव काले के समर्थन के कारण ही मैं उन दुखों को झेल सका। माधव काले ने हमेशा से ही मुक्तांगन को समर्थन दिया। आर्थिक कठिनाईयों में माधव हमारी बहुत सहायता करते। पर अब मुक्तांगन की उन पर उतनी निर्भरता नहीं रही है।

इन सालों में हमारे कई मरीजों का भी देहांत हुआ। फॉलो-अप के दौरान ही हम इन तथ्यों को इकट्ठा कर पाए। पहले हम फॉलो-अप के दौरान केवल मरीजों का संयम ही दर्ज करते थे, पर अब हम उनकी मृत्यु भी अपने रजिस्ट्रों में दर्ज करते हैं। इसका कारण साफ है। ड्रग्स और शराब से मुक्ति के बाद भी, मरीज का शरीर बहुत कमजोर हो जाता है और वे जल्दी गुजर जाते हैं। कब और क्यों किसी मरीज की मृत्यु हुई यह जानकारी सहायक होती है। व्यसन-मुक्ति के बाद मरीज को भविष्य में क्या रोग हो सकते हैं, हमें उसका भी अंदाज मिलता है। अक्सर पुनर्वसन वाले मरीजों के रिश्तेदार इस बात से संतुष्ट होते हैं कि मरीज की मृत्यु व्यसन-मुक्ति के बहुत बाद में हुई। मृत्यु हमेशा ही रहस्यमय होती है। जब कोई दुनिया से चला जाता है तब हमें जीवन की क्षणिकता का आभास होता है।

मुझे मराठी के एक प्रोफेसर की याद है जो अपनी हस्तलिपि के कारण बहुत लोकप्रिय थे। दूसरे मरीज उनसे अक्सर अपनी व्यक्तिगत चिट्ठियां लिखवाते थे। पर मुक्तांगन में पहले दिन प्रोफेसर साहब की हालत इतनी खराब थी कि वो अपने हस्ताक्षर भी नहीं कर पाए। उनके हाथ हिल रहे थे और दूसरे लोगों को उन्हें सहारा देना पड़ा। अंत में हस्ताक्षर की बजाए उनके अंगूठे का ठप्पा लिया गया। परन्तु जल्द ही वो ठीक हुए और उनकी हस्तलिपि स्थाई हो गई। किसी संत जैसे वो सभी के दोस्त थे। विदाई वाले दिन वार्ड के सभी लोग उन्हें मेन गेट तक छोड़ने गए। सभी की आंखों में आंसू थे। एक वर्ष बाद हमें उनके देहान्त की खबर मिली। उसके बाद उनकी पत्नी मुक्तांगन आई। “पिछला साल मेरे लिए इतना अच्छा रहा कि मैं उसकी याद करते-करते अपना बाकी जीवन गुजार सकती हूँ।” उनकी मृत्यु ने हमें जीवन के रहस्यों पर सोचने को मजबूर किया। उस जैसे सज्जन व्यक्ति को शराब की लत कैसे लगी? उन्होंने विवाह के इतने वर्ष इस लत में क्यों गंवाए? उनकी सज्जनता उन्हें आगे क्यों नहीं ले जा पाई? जिंदगी जीने के लिए और क्या चाहिए?

गंगाधर का रहस्य भी अजीब था। वो कोल्हापुर में रहता था और जब मैं फॉलो-अप के लिए वहां जाता तो वो मेरी बहुत मदद करता था और मेरा प्रवास बहुत आरामदेह बनाता था। उसने अपनी पुरानी फियेट कार पर काफी पैसा खर्च उसे दुरुस्त किया जिससे कि वो मुझे उसमें इधर-उधर ले जा सके। वो मेरे हरेक काम के लिए तैयार रहता - चाहें सस्ती कोल्हापुरी ज्वेलरी खरीदनी हो या फिर सामाजिक कार्यकर्ता नसीमा हुज़रुक के उचगांव स्थित घर जाना हो। वो हमारी सभी बैठकों की प्रेरक शक्ति था और वो बीमार मरीजों से मेरा परिचय कराने का विशेष प्रयास करता था। व्यसन-मुक्त होने के बाद उसने इंश्योरेन्स एजेंट का काम किया। उसका सारा श्रेय उसने

मुक्तांगन को दिया। तब तक उसकी बेटी की औपचारिक शिक्षा समाप्त हो चुकी थी, और पति-पत्नी अब एक खुशहाल रिटायर्ड जिंदगी जीने की सोच रहे थे। पर तभी उसे गुर्दे में कैंसर का पता चला। सभी को धक्का लगा। पर जब हम उसे मिले तब गंगाधर मुस्कुरा रहा था। वो अपनी पत्नी को बीमारी के कुछ मजेदार पक्ष बताकर सांत्वना दे रहा था। मुक्तांगन में रहने से वो बहुत आशावादी बन गया था। उसने हमसे कहा, “गनीमत है एक ही गुर्दे में कैंसर हुआ है। अभी दूसरा तो ठीक-ठाक है, वो अच्छा काम करेगा। जिगर का अथवा मस्तिष्क का कैंसर कहीं ज्यादा खतरनाक होता।” उसने हमे आश्वासन करते हुए कहा, “गनीमत है कि नशा छोड़ने के बाद मुझे कैंसर हुआ। अगर पहले हुआ होता तो मुझे कोई नहीं जानता और मैं किसी गटर में जाकर मरता। अब मैं इज्जत के साथ मर सकता हूं।” वो इस बात से बहुत खुश था कि बिना किसी व्यसन के, वो सात साल संयम से गुजार पाया था। उसने अपनी पत्नी से कहा, “मैडम, मेरी मृत्यु के बाद पूरा मुक्तांगन तुम्हारी सहायता के लिए खड़ा होगा। क्या कभी तुमने कल्पना की थी कि मैं सात साल तक नशे से मुक्त होकर जियूंगा।” मुझे गंगाधर के उन विवेकशील शब्दों पर विश्वास नहीं हुआ। एक वक्त वो बिल्कुल भीरू था और चुपचाप रहता था। उसमें मुक्तांगन की सच्ची आत्मा का समावेश हुआ था। वो सुनंदा का सच्चा बेटा था जो मरते दम तक हंसता और मुस्कुराता रहा। मृत्यु में भी उसके जीवन का विवेक झलक रहा था। वो मुझे बहुत चाहता था। कुछ लोग उसे मेरा ‘भक्त हनुमान’ कहते थे - एक ऐसा चेला जो मुझसे भगवान राम जैसा व्यवहार करता था। पर सच्चाई यह है कि मैंने इस चेले के जीवन और मृत्यु से बहुत कुछ सीखा।

मुझे कोल्हापुर की एक महिला की भी याद है। उसके पति को कभी शराब का एडिक्शन था। एए की तकनीक से पति ठीक हो गया था पर पत्नी कोल्हापुर में ड्रग्स-मुक्ति का काम करती रही। वो ग्रुप-थेरेपी में बहुत अच्छा कार्य करती थीं। दारू के जो मरीज ठीक नहीं होते थे वो उनमें विशेष रुचि लेती थी। वो मुश्किलें जानते हुए भी उन्हें अपने घर ले जाती थी। उससे बहुत लोगों को आराम मिलता था। उसकी सहायता से बहुत से लोग एडिक्शन छोड़ पाए थे। वो कुछ लोगों को मुक्तांगन भी भेजती थी। वो शनिवार के समारोह में कुछ मरीजों को अपने साथ मुक्तांगन लाती थी। वो एक अच्छी मेजबान थीं और चाहतीं थीं कि मैं उनके घर आऊं। मुझे उनके घर का स्वादिष्ट भोजन याद है। फिर हमें उनके कैंसर की खबर मिली। पर उन्होंने काम करना बंद नहीं किया। मुझे उनमें सुनंदा और गंगाधर की काम करने का मनोभाव नजर आया। उसे आप एक अच्छी मौत कह सकते हैं। काश, हरेक को ऐसी मौत मिले!

क्या इन मृत्युओं को टाला जा सकता था? यह अच्छे लोग हमेशा के लिए चले गए थे परन्तु वो हम पर एक अमिट छाप भी छोड़ गए थे। एक ऐसी ही मृत्यु मुम्बई के एक डॉक्टर की है। वो मुक्तांगन में दाखिल हुए थे। कुछ समय बाद उनका एडिक्शन ठीक हुआ। सब कुछ ठीक-ठाक चल रहा था। डॉक्टर दम्पति हमारी मासिक मीटिंग्स में नियमित रूप से आते। दोनों बहुत खुशमिजाज और हंसमुख थे।

धीरे-धीरे उन्होंने आना बंद कर दिया। हम इसके अभ्यस्त थे क्योंकि उपचार के बाद मरीज अपनी जिंदगी में व्यस्त हो जाते और तब शुरुआत की मीटिंग्स का आकर्षण भी लुप्त हो जाता था। हम लोगों के जीवन की व्यस्तता को समझते थे। परन्तु इस डॉक्टर मित्र के बारे में हमें बहुत दर्दनाक खबर मिली। उनका देहान्त हो गया था। हम इसका कारण नहीं समझ सके। सबकुछ ठीक चल रहा था और उन्हें कोई बीमारी भी नहीं थी। कुछ समय बाद मैंने हिम्मत करके उनकी पत्नी को फोन किया। वो शांत थीं। “मुझे नहीं पता था कि उन्हें गुटके की लत थी। हम दोनों एक साथ बहुत कम समय ही बिताते थे। फिर उन्होंने मुझसे इस खतरनाक लत का कभी जिक्र भी नहीं किया। हम लोग अपना-अपना काम खत्म करने के बाद रात को ही मिलते थे।” एक बार दोनों कहीं छुट्टी मनाने गए थे। वहां पत्नी को उनके गाल पर एक गहरा धब्बा दिखाई दिया। उनका शक सही साबित हुआ। तुरन्त अस्पताल में ऑपरेशन हुआ। पर उसके तुरन्त बाद ही उनकी मृत्यु हो गई।

मुझे गुटका बनाने वाले उद्योगपतियों से बहुत चिढ़ है। गुटके के इशतहारों में दिखाई धन-दौलत और विलासिता मुझसे सहन नहीं होती है। यह जानलेवा पाऊच भला क्या समृद्धि ला सकते हैं? वो लोगों को मृत्यु की कगार पर लाकर खड़ा कर देते हैं। वो कितनी और मौतों को श्रेय लेना चाहते हैं? जब मैं पान-सिगरेट की दुकानों पर गुटके के पाऊचों की लड़ियां लटकी देखता हूं तो वो मुझे फांसी का फंदा नजर आती हैं। गुटके द्वारा मरे लोगों की विधवाएं अपना बाकी जीवन कैसे बिताएं क्या इसका उत्तर इन उद्योगपतियों के पास है? मुझे बताया गया है कि टाटा मेमोरियल कैंसर अस्पताल में एक वार्ड सिर्फ गुटके के मरीजों के लिए आरक्षित किया गया है। कितनी भयंकर स्थिति है!

मुझे एक अन्य मित्र दिलीप पोरवाल की याद है जो मारवाड़ी समाज से आता था। वो मुक्तांगन का सबसे कुशल एकाउंटेंट था। एक मरीज के कंधों पर हमने इतनी बड़ी जिम्मेदारी कैसे डाली, लोग ताज्जुब करते थे। पर दिलीप में अच्छा काम जारी रखा। दिलीप सिगरेट पीता था। जब मुझे उसके गले में कुछ गड़बड़ दिखी तो मैंने उसे कैंसर विशेषज्ञ डॉ. अनुराधा सोवनी के पास भेजा जहां जांच में उसे ‘ओरल कैंसर’

निकला। कैंसर तम्बाकू के अत्यधिक सेवन के कारण ही हुआ था। जिस दिन दिलीप के कैंसर का पता चला, उसी दिन उसकी पत्नी कल्पना ने मुझे फोन पर बताया, “बाबा, वो अभी भी सिगरेट पी रहा है।” मैंने उसे इस गैरजिम्मेदार हरकत पर उसे डांटा। “कल मेरा अस्पताल में दाखिला होगा। मैं बहुत तनाव में हूँ। कृपा मुझे यह अंतिम सिगरेट पीने दें।” मेरे पास जबाब के लिए शब्द नहीं थे। मैंने तम्बाकू में मौजूद ‘निकोटीन’ की शक्ति को सलाम किया। तम्बाकू सेवन करने वालों को, अपनी गिरफ्त में लेती थी। सिगरेट पीने वाले उस आनंद को भला कैसे नकार सकते थे? हाँ, मृत्यु में भी वो उसे अपने गले लगाते थे। ‘निकोटीन’ शक्ति की उनके दिमाग पर कितनी जबरदस्त पकड़ थी! उसके नशे में इंसान अपनी पत्नी, बच्चों और सगे-सम्बन्धियों, सबको भूल जाता था।

अगले दिन दिलीप की सर्जरी हुई। उसके गले में भोजन की नली को काटा गया था। उसे घर लाया गया पर उसकी रेडियेशन थेरेपी इलैक्स अस्पताल में जारी रही। कुछ दिनों बाद उसने मुक्तांगन में दुबारा काम शुरू किया। हमारे एक स्वयंसेवी ने बताया कि इलैक्स अस्पताल से मुक्तांगन आते वक्त दिलीप सिगरेट पीता था। वो एक स्थान पर अपना स्कूटर रोककर सिगरेट पीता था। यह खुलासा दिल हिलाने वाला था। एक बार मैंने फिर से ‘निकोटीन’ को सलाम किया।

निपानी, कर्नाटक राज्य में एक जिला है जहाँ बहुत तम्बाकू पैदा होती है। वहाँ तम्बाकू के खेतों में बाढ़ नहीं लगाई जाती है। रोचक बात यह है कि गाय-मवेशी तम्बाकू के पौधों को कभी खाते नहीं हैं। जानवरों को तम्बाकू के पत्ते छूते तक नहीं हैं इसलिए तम्बाकू के खेतों में बाढ़ की जरूरत नहीं होती है। जो बात जानवरों को पता है वो मनुष्यों को क्यों नहीं समझ आती? जिस चीज ने दिलीप को धीरे-धीरे करके अंदर से खाया, उससे उसे नफरत क्यों नहीं हुई? दिलीप की बाकी सर्जरी में मैं उसके साथ रहा। हाथ पकड़कर उसे सहारा देता रहा। दिलीप लाचारी में मुझे देखता रहा। कैंसर उसके गले के अन्य भागों में फैल गया था। वो जो कुछ खाता वो सीधा उसके सीने में जाता। उससे उसके फेफड़ों में प्लूरिसी हो गई। हर दिन उसकी हालत और बिगड़ती गई। एक दिन उसके ससुर ने मुझसे तुरन्त आने को कहा। मैं तेजी से कार में अस्पताल पहुँचा। वहाँ डॉक्टर मुझे एक ओर ले गए और उन्होंने बताया कि अब दिलीप का अंत करीब था। कुछ देर पश्चात डॉक्टर ने कहा, “वो स्वर्ग सिधार गया है। हम आपके आने का इंतजार कर रहे थे। क्योंकि यह खबर परिवार वालों को देने की हममे हिम्मत नहीं थी इसलिए हमने उसे वेंटीलेटर पर रखा था।” मैंने बाहर जाकर परिवार वालों को यह दुखद सूचना दी। यह काम मुझे करना ही था, वैसे मैं

भी दिल का कमजोर व्यक्ति हूं। मुझे अस्पतालों में मरीजों से जाकर मिलना अच्छा नहीं लगता है। परन्तु इस सच मैं कैसे नकार सकता था?

दिलीप की पत्नी को ठीक होने में काफी समय लगा। वो अक्सर मेरे घर आती और फिर रोने लगती थी। एक बार मैंने नाराज होकर उसे डांटा, “अगर तुमने रोना बंद नहीं किया, तो तुम्हारी बेटियों का क्या होगा?” उसके बाद उसे असलियत का पता चला। आज वो अपने पैरों पर खड़ी है और एक ब्यूटी सैलून चलाती है और अन्य छोटे-मोटे काम करती है। उसकी बड़ी बेटी की हाल में ही शादी हुई और दूसरी अच्छी नौकरी में है। अब दिलीप की मृत्यु को दस साल बीत चुके हैं। उसके परिवार का जीवन काफी आगे बढ़ा है।

पहले मुक्तांगन ने तम्बाकू का सेवन करने वालों पर नर्म रुख अपनाया था। अन्य पुनर्वसन केंद्रों में भी ऐसी ही नीति होती है। क्योंकि जिस मरीज ने शराब छोड़ने का मन बनाया हो, उससे अन्य व्यसन छोड़ने का आग्रह नहीं करना चाहिए। बहुत सारी बंदिशों से मामला बिगड़ने की सम्भावना थी। परन्तु यह तर्क सही नहीं है। दिलीप की और अन्य लोगों की मृत्यु ने, तम्बाकू के जहरीले सत्य को साफ कर दिया था। एक समय, सुनंदा ने मुक्तांगन से तम्बाकू को पूरी तरह बहिष्कार करने की सोची थी। पर स्टॉफ के विरोध से वो पहल फेल हो गई। परन्तु मुक्ता ने तम्बाकू के हरेक व्यसन का मुक्तांगन में बहिष्कार किया। हमें इस निर्णय के दुष्परिणाम सुझाए गए। उससे धीरे-धीरे मुक्तांगन में मरीजों की संख्या घट सकती थी। मरीज तम्बाकू का चोरी-छिपे सेवन कर सकते थे। पर इस बार हम अपने निर्णय पर डटे रहे। मुक्ता, किसी भी कीमत पर सुनंदा के सपने को साकार करना चाहती थी। मुक्ता ने स्टॉफ को सुनंदा मैडम के तम्बाकू मुक्त मुक्तांगन के बारे में बताया। सुनंदा के सपने को सार्थक करने के लिए पूरे स्टॉफ ने मुक्तांगन को तम्बाकू मुक्त बनाने में अपना सहयोग दिया। यह काम आसान न था, क्योंकि अक्सर मरीजों के रिश्तेदार तम्बाकू को छिपाकर मुक्तांगन लाते थे। मरीज टिफिन डिब्बों में तम्बाकू छिपाकर लाने का आग्रह रिश्तेदारों से करते थे। इसलिए हमने मुक्तांगन में आने वाले प्रत्येक टिफिन बॉक्स का निरीक्षण करने का निर्णय लिया। आज हम मुक्तांगन को, तम्बाकू से लगभग मुक्त करने का दावा कर सकते हैं।

इस पर्यावरण मित्र, तम्बाकू मुक्त परिवेश का श्रेय हमारे स्वयंसेवकों संजय बाबर और अंशुक दरवेश को जाता है। वो बिना किसी को परेशान करे सख्ती से सुरक्षा जांच करते हैं। अब मरीज दारू के साथ-साथ तम्बाकू और सिगरेट जैसे अन्य व्यसनों को भी छोड़ने की कसम खाते हैं। शरीर को स्थाई नुकसान पहुंचाने से पहले वो अच्छी

सेहत के लिए इन व्यसनों को छोड़ना चाहते हैं। उनमें से एक मरीज ने कहा, “मैं बाबा से सिगरेट छोड़ने के लिए एक दिन मेडल लूंगा। अभी मैंने दारू छोड़ी है, पर काम अभी भी अधूरा है।” मुक्तांगन उन मित्रों का सम्मान करता है जो दारू, ड्रग्स के साथ-साथ अन्य व्यसन भी छोड़ते हैं। हम इन मित्रों का सार्वजनिक रूप से फूल भेंट करके उनका सम्मान करते हैं। हम तपकीर (नसवार) छोड़ने वालों का भी सम्मान करते हैं। इससे साफ होता है कि न केवल दारू पर हरेक व्यसन शरीर के लिए हानिकारक होता है।

जब कोई मरीज दारू और ड्रग्स के साथ-साथ तम्बाकू और सिगरेट भी छोड़ता है उसके मन की शक्ति को देखकर मुझे अपार प्रसन्नता होती है।

मैं आपसे व्यसनों द्वारा लाए कष्ट और मृत्यु का जिक्र कर रहा था। इन परिस्थितियों से निबट पाना बहुत मुश्किल होता है परन्तु जिंदगी में कष्ट के अवसर अक्सर आते हैं। आम जीवन में भी अनेकों कष्ट आते हैं और उनसे हम शांति रखकर ही झेल पाते हैं। समय के साथ - साथ दुख भी कम हो जाता है। मैं यहां पर आपको एक किस्सा सुनाऊंगा। कुछ को शायद यह तुच्छ लगे पर इसमें भी एक सबक है। मैं एक मरीज-मित्र तुषार सम्पत के साथ कार में यात्रा कर रहा था। तुषार एक युवा है और उसमें असीम ऊर्जा है। हम ट्रैफिक में फंस गए थे और गाड़ी चींटी की चाल से आगे बढ़ रही थी। कुछ देर बाद हमारी कार सामने वाली रिक्शा से टक्कर खाई, पर रिक्शा को कोई नुकसान नहीं हुआ। रिक्शा ड्राइवर नीचे उतरकर हमें गालियां देने लगा। मैंने उससे माफी मांगी और नजदीक के गैरेज में उसकी रिक्शा की मरम्मत के पैसे देने का वादा किया। परन्तु दुष्ट ड्राइवर हम पर चीखता-चिल्लाता रहा। तुषार से यह बरदाश्त नहीं हुआ। उसने ड्राइवर को गम्भीर परिणाम की चेतावनी दी। फिर ड्राइवर हमसे लड़ने को तैयार हो गया। मैंने हाथ जोड़कर माफी मांगी और बीच-बचाव किया, “कृपा मेरे बेटे की गलती को माफ करो। मैं उसकी जगह माफी मांग रहा हूं। चलो आगे बढ़ें।” ड्राइवर ने मेरी माफी स्वीकार की परन्तु वो तुषार का बर्ताव बहुत मुश्किल से ही बर्दाश्त कर पाया। बड़ी मुश्किल से हम उस भीड़ से बाहर निकले।

तुषार गाड़ी में बैठे-बैठे गुस्से से आग-बबूला हो रहा था। उसने कहा कि हमें माफी नहीं मांगनी चाहिए थी क्योंकि गलती हमारी नहीं थी। वो ड्राइवर बिना बात के लड़ रहा था।

मैंने तुषार से कहा, “ट्रैफिक जैम में हुई तू-तू, मैं-मैं को जल्दी खत्म करने में ही भलाई थी। हमारी लड़ाई के कारण अन्य लोगों को क्यों नुकसान पहुंचे? हमारा मुख्य काम क्या है - ट्रैफिक संचालन करना या फिर मुक्तांगन चलाना? अगर ट्रैफिक संचालन करना है तो यहीं उतरो, नहीं तो मेरे साथ मुक्तांगन चलो।”

तुषार मुस्कुराया। उसका गुस्सा रफूचक्कर हो गया और हम मुक्तांगन के प्रेरक समारोह के बारे में बातचीत करने लगे। उसने बाद में यह किस्सा अन्य लोगों को बताया, “हमारा बाबा एक ‘भारी’ आदमी है।”

अनियंत्रित गुस्सा मरीजों के दुबारा से एडिक्शन की ओर मुड़ने का एक प्रमुख कारण है। मरीज जल्द ही अपने गुस्से पर नियंत्रण खो देते हैं। अक्सर गुस्से के कारण वैध होते हैं परन्तु उन्हें इस बात का पता नहीं होता है कि यह गुस्सा उन्हें एडिक्शन की ओर ले जाता है। पुनर्वसन के काल में हम उनसे संयम बरतने की अपील करते हैं। जैसे व्रत में लोग किसी विशेष दिन भोजन नहीं करते हैं वैसे ही हम अपने मरीजों से आराम करने और किसी भी विरोध से बचने की सलाह देते हैं। “आप छोटी सी लड़ाई जीत कर व्यसन-मुक्ति के बड़े युद्ध को क्यों हारना चाहते हैं? कुछ देर के लिए अपने अंदर के दुश्मन को पहचानो और कुछ देर के लिए बाहरी दुनिया से हारो। लोगों से माफी मांगो और आगे बढ़ो,” यह सलाह हम मरीजों को देते हैं।

मैं ‘माफी’ के महत्व को समझाने के लिए अक्सर अपने व्यक्तिगत जीवन के उदाहरण देता हूँ। “एक बार सुनंदा से झगड़े के बाद मैंने उससे सौ बार ‘सॉरी’ कहा। अगले दिन सुबह तक मामला शांत हो गया। हम दोनों टहलने के लिए गए और सुनंदा ने अपनी गलती मानी। क्या फर्क पड़ता है, गलती किसकी थी, मैंने उससे मजाक में कहा। वो मुस्कुराई। मुझे जो मिला उसका शब्दों में वर्णन करना मुश्किल है।” मैंने लोगों को कई ऐसी कहानियाँ सुनाईं। “अगर उस दिन मैं लड़ाई जारी रखता तो मुझे बाद के सुनहरे क्षण अनुभव करने का कभी भी मौका नहीं मिलता। लड़ते रहने से मैं भविष्य में लड़ाई-झगड़े के बीज बोता।”

फैक्ट्री में काम करने वाला एक व्यक्ति बार-बार दारू के चक्र में फँस रहा था। ‘रिलैप्स’ में मरीज को दुबारा से पाँच हफ्ते का इलाज करवाना पड़ता है, जबकि ‘स्लिप’ को काउंसिलिंग से ठीक किया जा सकता है। वो व्यक्ति अपना संयम बरकरार नहीं रख सका। खोजबीन के बाद पता चला कि गुस्से के कारण वो इंसान, दारू की ओर उन्मुख होता था। इलाज के बाद जब वो दुबारा काम के लिए जाता तो उसके सहकर्मी उसे चिढ़ाते, “खबरदार! यह वो महान आत्मा है जिसने दारू की एक बूंद तक न चखने की कसम खाई है। आपको पता है वो कहां से आया है? वो मानसिक चिकित्सालय (मुक्तांगन पहले वहां स्थित था) से आया है! अब आप उसकी बातें सुनिए। इससे पहले उसने न जाने कितने लोगों को फंसाया है।”

उससे झगड़ा शुरू हो जाता जो बाद में दारू के सत्र में बदलता। हमने उस व्यक्ति से स्थिति का इस प्रकार सामने करने की सलाह दी, “गुस्सा मत हो। अपनी शांति

बरकरार रखो। जब वो तुम पर आरोप लगाए तो हाथ जोड़कर उनसे हार मान लो। उनके लगाए आरोपों को स्वीकार करने से पहले उन्हें सबूत देने को कहो। उनसे विनती करो कि अब तुम नई तरह से अपनी जिंदगी शुरू करने के इच्छुक हो, और उसके लिए तुम्हें उन साथियों की मदद की जरूरत है।” कामगार ने फैक्ट्री में जाकर यही रणनीति अपनाई और फिर वो मुस्कुराता हुआ वापस आया। उसने बताया, “मैंने जब वो बातें कहीं तो मेरे सहकर्मियों को उच्च वोल्टेज का शॉक लगा। वो मेरे पास आए और उन्होंने मुझसे सहानुभूति जताई। उन्होंने मुक्तांगन के बारे में जानकारी हासिल की और फिर यूनियन लीडर ने अन्य साथियों को मुझे अपने अनुभव सुनाने को कहा।” उसने आगे बताया, “फैक्ट्री मेरे चार ऐसे साथी हैं जो अब मुक्तांगन आना चाहते हैं और मैं अब उनकी काउंसिलिंग कर रहा हूँ।” सही दिशा में परिवर्तन देख हम सबको बहुत खुशी हुई। असल में जिंदगी के पथ को बदलना काफी आसान काम होता है!

इलाज के समय मरीज अपने-अपने तरीकों से गुस्सा जाहिर करते हैं। कुछ हाथापाई करते हैं तो कुछ परोसे गए भोजन को लात मारते हैं। इसके मूल में उनका गुस्सा और विशाल अहम होता है। अहम ही लोगों को मुश्किल बनने के लिए मजबूर करता है। वो अपने विचारों के अलावा किसी और की बात स्वीकार नहीं कर सकता है। इस प्रकार के केसों के साथ हम विवेक और चतुराई से पेश आते हैं। मैं उनसे पूछता हूँ कि क्या दुनिया में ऐसा कोई व्यक्ति है जिसके पास सारे प्रश्नों के उत्तर हो। इससे उनकी उत्सुकता जगती है और यही उनकी सीख का आधार बनता है। तब उनमें वैकल्पिक मतों को सुनने की समझदारी पनपती है। फिर उनकी प्रतिक्रियाओं में सकारात्मक बदल आती है। उनसे पत्नियां मुंहफट्ट होकर यह प्रश्न पूछती हैं, “अगर आप खुद को इतना काबिल समझते हैं तो फिर इस समस्या में जनाब फंसे ही क्यों? जब हमने रोका, तो आपने हमारी बात क्यों नहीं सुनी?” तब वो नाराज नहीं होते हैं। तब मरीज हमसे कहते हैं, “आपके सहयोग के कारण ही हमारी महिलाएं इतनी निडर बनी हैं।”

एक उच्च अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त मरीज भर्ती के तीन दिनों बाद सुनंदा के पास गया। उसने मुक्तांगन को बेहतर बनाने के सुझावों को तीन पन्नों पर टाइप किया था। “मैंने पिछले कुछ दिनों में मुक्तांगन का अध्ययन किया है और उसे बेहतर बनाने के यह मेरे सुझाव हैं।” सुनंदा ने उन पन्नों को बिना पढ़े एक तरफ रख दिया। उसके बाद उस आदमी ने आश्चर्य से पूछा, “आप इन सुझावों को पढ़ना तक नहीं चाहती हैं?” सुनंदा ने जबाब दिया, “मुक्तांगन को सुधारने के बारे में हम बाद में विचार करेंगे। पहले हम आपकी गाड़ी को पटरी पर लाने के बारे में सोचेंगे।” यह कितनी विडम्बना

है इस पढ़े-लिखे इंसान को अपनी जिंदगी की प्राथमिकताओं के बारे में कितनी कम समझ थी। वो अपने अलावा किसी दूसरी बात को देखने में असमर्थ था। अच्छी शिक्षा और ऊंची डिग्रियों से क्या फायदा अगर व्यक्ति की खुद को सुधारने में कोई रुचि न हो? मुझे हर कक्षा में अव्वल अंक लाने वालों की याद आती है। वो पढ़ाई में सफलता के अभ्यस्त हो जाते हैं। हरेक सफलता से उनका अहम फूलता है। परन्तु एक झटके में यह अहम धूल चाटने लगता है। जिंदगी के बहाव में कैसे बहना है यह सीखने का उन्हें कभी अवसर नहीं मिलता है। जीवन जीने की कला हरेक को जरूर सीखनी चाहिए। मेरा जैसा व्यक्ति - जिसने स्कूल में शिक्षकों की और घर में माता-पिता की मार खाई हो इस कला को आसानी से सीख जाता है। हम जिंदगी की भट्टी में तपकर मजबूत हुए हैं।

मुझे भारतीय दार्शनिक जे कृष्णमूर्ति के विचारों ने बहुत प्रभावित किया: “प्रेम और अहम दोनों एक साथ, शांति से मौजूद नहीं रह सकते।” यह वास्तव में सच है! जब तक हम अपने अहम को त्याग नहीं देंगे तब तक हम किसी से कैसे सच्चा प्रेम कर सकते हैं? बच्चों के साथ खेलते वक्त हमें अपने अहम को दूर रखना पड़ता है। सुनंदा ने मरीजों के साथ बातचीत में अपनी सायकिलैट्री की डिग्री को अलग रखा। उसने उनको, अपने समान समझा। इसलिए वो मरीजों और उनकी परिस्थितियों को समझ पाई।

जो ‘अहम’ अक्सर मुक्तांगन के काम में आड़े आता है - वो है पतियों का पुरुष ‘अहम’। परम्परागत माहौल में पतियों को पैतृक सत्ता अधिकार में मिलती है। घर में उनकी ही बात मानी जाती है। वो भला अपनी सत्ता को कैसे छोड़ सकते हैं? निर्णय लेने की उनकी आदत पड़ जाती है। हमारे एक मित्र की पत्नी किसी के घर में नौकरानी का काम करती थी। घर की पूरी जिम्मेदारी उसके कंधों पर थी। पति उसे पीटता था। उसके हाथों और चेहरे पर रोजाना पिटाई के निशान दिखते थे। अलग-अलग घरों में काम करते समय वो अपनी चोटों को छिपाती थी। घर की समस्याओं के कारण वो अक्सर काम पर लेट होती थी। लोगों को यह अच्छा नहीं लगता था पर किसी ने भी उससे लेट आने का कारण नहीं पूछा। हमारा समाज अक्सर घरेलू मामलों में दखल नहीं देता है। अगर पड़ोसी की बीबी पिट रही हो तो मैं उसमें क्यों दखलंदाजी दूँ? मैं पड़ोसी द्वारा, जानवरों पर किए अत्याचार के खिलाफ केस दर्ज कर सकता हूँ परन्तु पड़ोस की बीबियों के साथ हुआ बर्ताव पब्लिक डोमेन में नहीं आता है। क्या वो व्यक्तिगत और निजी है? ऐसा रवैया उच्च वर्ग के पड़ोस में भी देखा जाता है। हो सकता वहाँ झगड़ों में हाथापाई न होती हो, परन्तु वैसे गरीब और अमीर रिहाईशी इलाकों में कुछ खास अंतर नहीं होता है। लड़ाई तो लड़ाई ही होती है।

पतियों के अहम की बात करें तो क्रोध प्रबंधन के कई पहलू होते हैं। क्रोध अनेक रूपों में व्यक्त होता है। मिसाल के लिए मरीज रात के समय पीने के बाद भयंकर रूप से लड़ता है। परन्तु सुबह तक वो उनके बारे में पूरी तरह भूल जाता है। कुछ पत्नियां के अनुसार उनके क्रोधी पति वाकई में 'अच्छे लोग' हैं। पति कई बार अपने गलत बर्ताव के लिए सैकड़ों बार माफी मांगते हैं। एक पत्नी ने मुझे बताया, "मुझे समझ में नहीं आता कि मैं 'मुझे माफ करो' की बात पर यकीन करूं या न करूं, या फिर उसके पहले के व्यवहार को गलत मानूं। मुझे यह सब नौटंकी लगता है।"

इन पत्नियों से हम कहते हैं कि जब तक सुबह के समय पति क्षमाशील हो उस मौके का भरपूर लाभ उठाओ। वो सबसे सुनहरा मौका है पति को मुक्तांगन जैसे स्थानों पर लाने का। "अगर आप वाकई में क्षमा चाहते हैं तो हम मुक्तांगन में कार्सिलर्स से जाकर मिलें।" पत्नियों की यह प्रतिक्रिया होनी चाहिए।

मैंने मरीजों के दारू और ड्रग्स के प्रभाव में बदले मिजाज को देखा है और उनके ऊपर कविताएं लिखी हैं। इन छंदों से पत्नियों को अपने पतियों को बेहतर तरीके से समझने में मदद मिलती है। जब मरीजों में दारू का नशा उतरता है तो उन्हें नशे में क्रोध की स्थिति बिल्कुल याद नहीं रहती है। वो बीते अतीत को बिल्कुल भूल जाते हैं। और दारू की बोलत खुलने के बाद वो खुद को पीने से रोक नहीं पाते हैं। यह बेबसी उनकी बीमारी का मूल है। एडिक्ट के आसपास के लोगों को इसे समझना चाहिए।

एक मरीज ने इस दुविधा को अच्छी तरह व्यक्त किया, "बाबा, सुबह का वक्त मेरे लिए भय का समय होता है, और रात का समय अन्य लोगों के लिए डर का वक्त होता है। सुबह उठके मैं पिछली रात को खुद किए गए नाश का जायजा लेता हूं। क्या मैंने अपनी पत्नी को पीटा? नहीं, क्योंकि उसके माथे पर कोई पट्टी नहीं बंधी है? क्या टेलिवीजन सही-सलामत है? क्या मैंने उसे तोड़ा? मुझे कुछ याद नहीं रहता। क्या मेरा पड़ोसी सड़क पर था? क्या मैं उससे नमस्ते कहूँ? क्या पिछले रात मैंने पड़ोसी को नशे में गालियां तो नहीं दीं?" जिस व्यक्ति के दिमाग में सुबह को इतने सारे प्रश्न हों, उसके साथ मेरी सहानुभूति होती है।

कई मरीज ऊपर से नीचे तक कर्ज में डूबे होते हैं। कब और कौन उन्हें आकर पकड़ लेगा उन्हें इसका डर सताता रहता है। वो अपने कर्जदारों से मुंह छिपाने की कोशिश करते हैं। इससे उनमें तनाव पैदा होता है जिससे निजात पाने के लिए वो शराब पीते हैं। ऐसा ही कर्ज में डूबा मरीज, एक बार सुनंदा के पास आया। सुनंदा ने उससे अपने ऊपर कर्ज का पूरा लेखा-जोखा लिखने को कहा। कर्ज की लम्बी सूची थी और

उससे मरीज डरा था क्योंकि नौकरी से निकाल दिए जाने से वो बेरोजगार था। सुनंदा ने मरीज से समस्या से भागने को नहीं उसे सुलझाने को कहा। “जिन लोगों से तुमने कर्जा लिया है उनसे जाकर मिलो। उनसे कहो कि अभी तुम बेरोजगार हो, पर दारू छूटने के और उपचार के बाद तुम उनकी रकम लौटा दोगे।” उस व्यक्ति को सुनंदा की बात पर विश्वास नहीं हुआ। “मैं उनसे अकेले जाकर कैसे मिलूं? मैं उनका कर्ज कैसे लौटाऊंगा?” यह उसके प्रश्न थे। पर अंत में उसने अपने कर्जदारों से मिलने का निश्चय किया। एक दिन वो मुस्कुराते हुए सुनंदा के पास आया, “मेरे कुछ दोस्तों ने कर्ज माफ कर दिया। उनके लिए मेरी अच्छी सेहत ज्यादा जरूरी थी। उन्होंने मुझसे पिछली बातें भूल जाने को कहा। कुछ ने मुझे अपनी सहूलियत से कर्ज लौटाने को कहा।” ऐसे अच्छे लोग भी दुनिया में हैं, यह सुनकर मुझे बहुत अच्छा लगा। लोगों की अच्छाई में मेरा विश्वास और पक्का हुआ। सुनंदा मरीजों को असलियत के साथ जूझना सिखाती थी। वो मरीजों को उनकी असलियत से निबटने की रणनीतियां सिखाती थी। जो कर्ज में होते: उनसे कर्ज की सूची बनवाती। जो लोग दूसरों से झगड़ते थे: उनसे पूरी घटना को विस्तार में लिखवाती! वो वाकई में नए-नए हल खोज निकालती थी।

कुछ मरीज कोर्ट-कचहरी में लगे केंसों के कारण ड्रग्स और दारू शुरू करते हैं। इन मरीजों पर छोटे-मोटे जुर्मों के कारण भिन्न अदालतों में केस चल रहे होते हैं। इससे उनके मन में बहुत तनाव होता है। ऐसा ही एक मरीज नासिक से आया था। नशे के दौरान उसने अपने घर के चार-पांच बर्तन बेंच डाले थे। भाई ने उसके खिलाफ केस दर्ज किया। उसकी वजह से वो कुछ समय में लॉक-अप में रहा। छूटने के बाद वो मुक्तांगन आया। इलाज अच्छी तरह पूरा होने के बाद वो मुक्तांगन में काम करने लगा। केस सुनवाई के लिए नासिक की अदालत में पहुंचा। मुजरिम को पेशी के लिए पुणे से नासिक जाना था। रोचक बात यह थी कि मुजरिम का यात्रा खर्च, उसके द्वारा चुराए बर्तनों से कहीं ज्यादा था। मंहगे होने के अलावा, यात्रा के दौरान मरीज द्वारा शराब पिए जाने की बहुत सम्भावना थी। अंत में मैं इस दुश्चक्र को बर्दाश्त नहीं कर पाया। मैं नासिक में जाकर वहां महिला जज से मिला और उन्हें मैंने केस की ‘व्यक्तिगत’ सच्ची कहानी सुनाई। वो सुनकर विचलित हुईं और कुछ गुस्सा भी। मैंने कानूनी सजा देने को कहा और साथ में केस समाप्त करने की विनती की, जिससे कि मरीज दारू न पिए। जज ने मरीज के पक्ष में फैसला दिया और उससे मरीज का तनाव खत्म हुआ।

कुछ मरीज सरकारी कर्मचारी होते हैं। उनकी एक अलग ही समस्या होती है। वेतन में से उनके द्वारा कर्ज ली गई रकम की किश्तें कटती रहती हैं। एडिक्शन से

मामला और खराब हो जाता है। इतनी कम तनख्वाह में वे घर-गृहस्थी नहीं चला पाते हैं। मुझे राज्य परिवहन निगम के एक ड्राइवर की याद है जो दापोली में काम करता था। उसने खासतौर पर पुणे का मार्ग मांगा था जिससे कि वो मुक्तांगन आ-जा सके। वो वहां मुझसे और काउंसिलर्स से मिलता और अपनी व्यथा बताता। उसने एक बार हमें अपनी लम्बी पे-स्लिप दिखाई जिसमें अधिकांश रकम पिछले कर्ज को चुकाने के लिए काटी गई थी। कर्ज चुकाने के बाद घर ले जाने के लिए बहुत कम रकम ही बचती थी। पर इलाज होने के बाद वो धीरे-धीरे कर्ज चुकाता गया। उस दिन मुझे लम्बी पे-स्लिप दिखाई। अब उसे पूरी तनख्वाह मिली थी।

बहुत से लोग केवल अपनी आजीविका चला पाते हैं, पर वहां कुछ सफलता की कहानियां भी होती हैं। इन लोगों ने संघर्ष करके जीवन में नाम कमाया, इसलिए मेरे दिल में उनके लिए विशेष स्थान है। मुझे उनकी सफलता पर नाज है। वैसे लोग ऐसी चीजें खरीदते हैं जिनकी मैं खास परवाह नहीं करता हूं। मिसाल के लिए उपचार खत्म होने के बाद जब मरीजों ने स्कूटर और मोटरसाइकिलें खरीदीं तो मुझे अच्छा लगा। एक मरीज अशोक वैद्य ने मुक्तांगन के चिन्ह को अपने नए स्कूटर पर पेन्ट किया। मुझे यह बातें अच्छी लगीं। ऐसे लोग चाहते हैं कि मुक्तांगन उनकी आर्थिक स्थिरता पर विशेष ध्यान दे। और क्यों नहीं? क्योंकि बाहरी दुनिया के लिए तो वो मात्र एक स्कूटर है और उसमें गर्व की क्या बात बड़ी है? पर हमें पता है कि स्कूटर, एक सुधरे हुए एडिक्ट के जीवन में कितना मायने रखता है। मुझे याद है सुवर्णा की खुशी की जब उसका सुधरा हुआ पति उसके लिए नई ज्वेलरी खरीद कर लाया। ज्वेलरी बहुत मंहगी नहीं थी, परन्तु पति की भावनाएं मायने रखती थीं।

अगर उपचार के बाद मरीज पैसे जोड़कर कुछ नया खरीदते हैं तो हम उसे एक नई जिंदगी की शुरुआत मानते हैं। भौतिक चीजें एकत्र करना ही सफलता का एकमात्र मूल्यांकन नहीं है। पर निश्चित तौर पर स्थिति के सामान्य होने का यह एक इशारा है। मुझे एक बहुत पढ़े-लिखे कम्पनी अफसर की याद है जिसने दारू के एडिक्शन के बाद अपना सबकुछ खो दिया। दारू छोड़ने के बाद उसे समझ नहीं आया कि वो अपने जीवन में क्या करे। उसकी पत्नी उसे छोड़कर चली गई थी। सुनंदा ने कोशिश करके उसका एक कमरे का फ्लैट वापस दिलवाया, जिसपर रिश्तेदारों ने कब्जा कर लिया था। परन्तु अब उसे आजीविका के लिए कुछ करना था। डिग्रियां अब उसके किसी काम की नहीं थीं। उसकी ख्याति मिट्टी में मिल गई थी। सुनंदा ने उससे पूछा कि क्या वो शुरू में कोई छोटा-मोटा काम करेगा। राजी होने पर वो लक्ष्मी रोड पर एक आईसक्रीम दुकान में सहायक बना। एक बार जब हम दोनों उस इलाके में थे तब

उसने हमें एक-एक आईसक्रीम खिलाई। छोटी नौकरी करने में उसे कोई शर्म नहीं थी। उसने दुकान मालिक का विश्वास जीता। हम दुकान के मालिक से भी मिले। बाद में उसे एक ट्रेवल कम्पनी में काम करने का अवसर मिला। उसने वहां अच्छा काम किया और धीरे-धीरे मैनेजर के पद तक पहुंचा। आज वो खुद एक एजेंसी का मालिक है और शादीशुदा है। नया स्कूटर या घर खरीदने के बाद वो हमेशा हमें उसके बारे में बताता है। उसने जो भौतिक चीजें एकत्रित कीं, उनपर मुझे गर्व था। वो बुनियादी चीजें थीं और उपभोक्ता संस्कृति का द्योतक नहीं थीं। इनसे उसकी आर्थिक स्थिरता का भी आभास हुआ। उसकी खोई इज्जत अब वापस लौट आई थी।

जब कोई मरीज घर आकर कहता है, “बाबा, मैंने एक नई कार खरीदी है। चलें, मैं आपको कार में पहली सवारी देना चाहता हूं।” तब मैं सातवें आसमान पर पहुंच जाता हूं। उस कार में सवारी करना मुझे दुनिया की सबसे मंहगी मरसिडीज कार से बेहतर लगता है। मरीज द्वारा कार दिखाने की आतुरता का मैं स्वागत करता हूं। ऐसे मौकों पर मैं खुद को मुक्तांगन के सबसे अच्छे तत्वों का प्रतिनिधि समझता हूं। वो मरीज अपने कृत्य से मुक्तांगन संस्था की प्रतिष्ठा स्थापित कर रहा था और मैं मुक्तांगन परिवार की ओर से उसकी पीठ थपथपाता हूं।

मालूम नहीं क्यों पर मुझे अभी बिहार से आए अरुणोदय की याद है। वो एक सज्जन, शिक्षित व्यक्ति था जिसने एडिक्शन के बावजूद अपनी अच्छाई कायम रखी। ऐसे लोग नशा-मुक्ति के उपचार के दौरान भी किसी को तकलीफ नहीं पहुंचाते हैं। अरुणोदय, इंजीनियरिंग का युवा छात्र था परन्तु वो एडिक्शन के कारण अपनी डिग्री पूरी नहीं कर पाया था। पोलियो के कारण वो थोड़ा लंगड़ा कर चलता था। मुक्तांगन में आकर उसने पूरी तरह दारू छोड़ दी। ऐसा लगता था कि उसने कभी नशा किया ही न हो। बाद की जिंदगी में भी उसने अच्छा काम किया। वो पुणे के पास चिंचवड में बस गया और वहां उसने इंजीनियरिंग के क्लासेज शुरू किए। खुद की इंजीनियरिंग पढ़ाई समाप्त न कर पाने के बावजूद वो एक बहुत लोकप्रिय टीचर बना। हरेक साल उसके क्लासेज की मांग बढ़ती गई। आज पुणे में उसके क्लासेज को उच्च गुणवत्ता का माना जाता है। उसने इंजीनियरिंग पर कुछ पुस्तकें भी लिखी हैं जो कई कालेजों ने अपने पाठ्यक्रम में शामिल की हैं। यह अच्छी सफलता की निशानी है।

अरुणोदय की तरह भारत के अन्य राज्यों से कई मित्र मुक्तांगन में उपचार के लिए आए हैं। जम्मू और कश्मीर से एक लड़का अपने इलाज के लिए आया। जब उसका सफलतापूर्वक इलाज हो गया फिर उसी राज्य से कई अन्य बच्चे भी आए। गोवा और गुजरात राज्यों से छात्र मुक्तांगन में अक्सर मरीज आते हैं। पर एक बार

उत्तर-पूर्वी के राज्यों - नागालैंड और मनीपुर से हमारे यहां कई मरीज आए। इन राज्यों के युवाओं को हेरोइन बहुत आसानी से उपलब्ध होती है। यह ड्रग वहां पड़ोस के देश म्यानमार से आती है। शुद्ध क्वालिटी की यह हेरोइन बहुत आसानी से पानी में घुल जाती है। उसके बाद लोग उसे अपने शरीर में इंजेक्ट करते हैं। एक-दूसरे के सिरिंज उपयोग करने के कारण यह मरीज एचआईवी से इंफेक्ट हो जाते हैं। एचआईवी से निपटना हमारे लिए बहुत मुश्किल था क्योंकि समाज में इस रोग को लेकर अभी भी बहुत भ्रांतियां मौजूद थीं। पहले इस प्रकार के केसों का मुक्तांगन में आना काफी सामान्य बात थी।

मुझे उत्तरी-पूर्व के एक अच्छे डील-डौल वाले व्यक्ति से बातचीत अच्छी तरह याद है। उसका नाम स्पंदन था। उसे देखकर मुझे यकीन नहीं हुआ कि वो भी एचआईवी का शिकार था। ड्रग 'विथड्राअल' में उसे बहुत मुश्किलें आईं और अक्सर उसे तीन-चार हेलपर पकड़ कर रखते थे। पर उस अवस्था के बाद वो शांत हो गया। वो एक धनी परिवार से था इसलिए मुझे अचरज हुआ कि उसने दूसरे लोगों की सिरिंज क्यों उपयोग की। "तुमने सिरिंज इस्तेमाल में अतिरिक्त सुरक्षा क्यों नहीं बरती? तुम नई सिरिंज आसानी से खरीद सकते थे?" मैंने एक बार उससे पूछा। उसने उत्तर दिया, "जिंदगी में गड़बड़ी और अव्यवस्था के कारण मुझे यह इंफेक्शन हुआ, साधनों के अभाव के कारण नहीं। हमें उन गुप्त ठिकानों के संदेश मिलते थे जहां पर ड्रग्स उपलब्ध थीं। हम वहां पर दौड़ कर जाते और ड्रग्स की चाहत को पूरा करते। ड्रग्स को लेने का उन्माद इतना ज्यादा होता, कि सिरिंज स्टरलाइज्ड है या नहीं, इसे पता करने का किसी को ध्यान ही नहीं रहता। एक सिरिंज को कई मित्र इस्तेमाल करते थे। अगर पुलिस का छापा पड़ता तो वहां भगदड़ मच जाती। हमें बस ड्रग की तलब थी, और ऐसे पागलपन के माहौल में ही मुझे इंफेक्शन हुआ।"

इलाज के बाद स्पंदन अपने घर नहीं लौट पाया क्योंकि उसके घरवालों ने उसे लेने से इंकार कर दिया। हमने उसे छोटी-मोटी नौकरियां दिलवाकर उसका पुणे में पुनर्वास करने का प्रयास किया। वो मेहनती था और जल्द ही ऊपर उठा। उसने एक सेल्समैन से शुरुआत की और फिर एक कम्पनी का बड़ा अफसर बना। एक बाद वो मुझे एयरपोर्ट पर मिला। स्पंदन सूट-बूट पहने था। उसे खुश देखना मेरे लिए सबसे बड़ा पुरस्कार था। एचआईवी से ग्रस्त होने के बावजूद वो जीवन का पूर्ण आनंद ले रहा था। यह देखकर मुझे अपार प्रसन्नता हुई।

जब हमें पता चला कि ड्रग्स और दारू के मरीजों में एचआईवी इंफेक्शन सामान्य बात है तब हमने काउंसिलिंग के समय एचआईवी के टेस्ट को अनिवार्य बना दिया।

मरीजों की पृष्ठभूमि को देखने के बाद हम एचआईवी मरीजों की काउंसिलिंग करते और फिर इस अनिवार्य टेस्ट को करते। हमने मुक्तांगन की प्रचार-प्रसार सामग्री में भी एचआईवी टेस्ट की आवश्यकता का उल्लेख किया। एचआईवी टेस्ट मुक्तांगन में पहली बार किया जा रहा था। बाद में किसी ने हमें एचआईवी टेस्टिंग और एंडस के संक्रमण पर एक फिल्म बनाने के लिए धन दिया। हमारे मित्र सुमित्रा भावे और सुनील सुकथनकर ने इस फिल्म का निर्देशन किया। हम इस फिल्म को अनेकों बार दिखा चुके हैं। फिल्म का नाम था ‘बेवक्त बारिश’।

मुझे स्पंदन और उसका कभी-न-हारने वाला, स्वभाव याद है। उसने संघर्ष करके खुद अपने जीवन को गढ़ा। उसने अपनी बीमारी को स्वीकार किया, किसी से नहीं छिपाया। जिन लोगों ने उसे स्वीकार नहीं किया उनके खिलाफ भी उसने कोई असंतोष व्यक्त नहीं किया। एयरपोर्ट पर जब वो मुझे मिला तो उसने झुककर मेरे पैर छुए। लोग उसके इस कृत्य को देखकर दंग रह गए। उसने जीवन में जो कुछ हासिल किया उसके सम्मान में मुझे उसके पैर छूने चाहिए थे।

मुक्तांगन में लोग मुझे ‘बाबा’ बुलाते हैं। इसके बारे में आपको कुछ बताऊंगा। पत्रकार सुधीर गाडगिल ने एक साक्षात्कार में मुझ से पूछा कि मैं क्यों लोगों को अपने पैर छूने देता हूं, जबकि मुझे खुद उन परम्परागत हिन्दू और अन्य धर्म के बाबाओं से नफरत है जो अनुयायियों को पैर छूने देते हैं। उन्होंने पूछा, “आपको यह बाबा अच्छे नहीं लगते हैं फिर भी आप अपने शिष्यों को पैर छूने देते हैं। क्या इसमें विरोधाभास नहीं है? क्या आप ‘बाबा’ शब्द का अनुमोदन करते हैं, जिसका अर्थ होता है – सब का पिता।” दरअसल मैं खुद अपनी मर्जी से ‘बाबा’ नहीं बना, यह बात मुझ पर लादी गई। मेरी बेटियां मुझे बाबा बुलाती थीं, और राजाराम भी। लोग मेरी उम्र, दाढ़ी-मूंछ, सफेद बालों, आदि के कारण भी मुझे बाबा बुलाने लगे। लोग अपना आदर व्यक्त करने के लिए भारतीय परम्परा के अनुसार मेरे पैर भी छूने लगे। मैंने कई बार लोगों को पैर छूने से मना किया। जब मैं एक युवक को पैर छूने से रोक नहीं पाया, तब मैंने बदले में उसके पैर छुए। यह उसे अच्छा नहीं लगा। लोगों ने बताया कि उस युवक को यह बहुत बुरा लगा। उसके बाद मैंने निर्णय लिया कि मैं किसी को भी पैर छूने से नहीं रोकूंगा। अगर यह करना लोगों को अच्छा लगे, तो हम क्यों उन्हें मना करें? हर इंसान के खुशी हासिल करने के अपने-अपने तरीके होते हैं।

बहुत से मरीज मेरे पैर छूने आते हैं और मैं उन्हें यह करने से मना करता हूं। मैं परम्परागत पैर छूने के विचार के खिलाफ था। मैंने कई संतों के उदाहरण दिए थे जिसमें गाडगे महाराज शामिल थे, जिन्होंने अपने शिष्यों को पैर छूने की अनुमति कभी

नहीं दी। पर मैंने पाया कि अक्सर पैर छूकर मरीज के बर्ताव और हालत में कुछ सुधार होता था। एक मरीज की पत्नी ने मुझे इन शब्दों में बताया, “मेरे पति को पैर छूने दो। वो कभी किसी के सामने नहीं झुकता है। कम-से-कम एक बार उसे अपने ‘अहम’ को झुकने दो।” यह शब्द अपना मन बनाने के लिए मेरे लिए काफी थे। अगर कोई अपना आभार इस प्रकार व्यक्त करना चाहता था तो मुझे उसे रोकने का क्या अधिकार था? क्या यह मरीज के स्वास्थ्य के लिए अच्छा नहीं है कि वो इस तरह से खुद को व्यक्त करे? मैंने अपनी पूर्व मान्यता त्याग दी। अगर युवा लोग पैर छूकर आभार व्यक्त करते हैं तो उन्हें करने दो। पर जब मरीजों के माता-पिता ने भी मेरे पैर छूना शुरू किए तो यह बात मुझे अच्छी नहीं लगी। अभी तक मैं अपने माता-पिता के पैर कभी नहीं छुए थे। अब मैंने यह शुरू कर दिया है और इससे उन्हें काफी आश्चर्य होता है। जो लोग मुझे दुनिया में लाए थे, उनके प्रति आभार प्रकट करने का यह मेरा तरीका था। उन्होंने मुसीबतों में भी मेरा साथ दिया था। उन्होंने मुझे विवेक दिया था अपने आभार को मैं एक उपयुक्त सांस्कृतिक रूप में व्यक्त करना चाहता था। शब्दों में व्यक्त करने की बजाए मुझे पैर छूकर आभार व्यक्त करना अच्छा लगा। इससे मेरे माता-पिता बहुत खुश हुए। मैंने अपने सास-ससुर के पैर भी छुए - बेटी के साथ शादी करने का आभार व्यक्त किया। अब मैं अपने से सभी बड़ों के पैर छूता हूँ और सुबह को अपनी मां के पैर छूकर उनका आशीर्वाद प्राप्त करता हूँ। जब वो मुझे यह पुराना भारतीय तरीका उपयोग करते देखती हैं तो वो बहुत खुश होती हैं।

अब मैं पुराने विषय पर वापस आऊंगा। तनाव और परेशानियों के कारण लोग शराब पीने लगते हैं। एडिक्ट्स, दारू को तनाव से मुक्ति पाने का तरीका मानते हैं। जब वो दारू से मुक्त होते हैं तो फिर परिस्थिति और जटिल हो जाती है। अब क्योंकि दारू में उन्हें सकून नहीं मिलता है इससे उनमें तनाव और बढ़ जाता है। पर इन एडिक्ट्स को एक बात फिर भी समझ में नहीं आती है कि दारू उनकी समस्याओं का समाधान नहीं है। हरेक के जीवन में तनाव होते हैं। जब कभी मैं मेरे व्यक्तिगत जीवन अथवा मुक्तांगन में कोई परेशानी आती है तो तनाव के कारण उससे मेरी नींद में खलल पड़ती है। उससे निबटने के लिए मुझे बस अच्छी नींद चाहिए होती है। ताजा होने के बाद मैं उस समस्या से दुगुनी ऊर्जा से निबट सकता हूँ। तनाव की स्थिति में या मैं अपने मित्रों की सलाह लेता हूँ या फिर खुद उससे निबटने की सोचता हूँ। समस्याओं का मुझपर भी प्रभाव होता है, परन्तु मैं कुछ समय के बाद उनका हल खोज पाता हूँ। अपने आसपास के लोगों के लिए भी मेरी यही सलाह होती है। झटका लगने दो, उसपर सोच-विचार करो पर बिने गिरे या मरे उसे हल करो।

अपने छात्र दिनों से ही मैंने समस्याओं से निबटने की अपनी तकनीकें इजाद की हैं। एक समय था जब परीक्षा-पत्र देखकर ही मेरे होश उड़ जाते थे। पर मैंने उनका एक हल निकाला। प्रश्नों को पढ़ने के बाद मैं पांच मिनट तक बिल्कुल शांत बैठता था। उसके बाद मैं परीक्षा पत्र को तीन हिस्सों में बांटता - वे प्रश्न जिनका जवाब देना असम्भव था, जिन प्रश्नों को करना सम्भव था, और वे प्रश्न जो बहुत आसान थे। अंतिम वर्ग से शुरू करके मैं बीच की कोटि पर आता, और फिर सबसे मुश्किल प्रश्नों को हल करने का प्रयास करता। अगर मैं कठिन प्रश्नों को सबसे पहले हल करता तो उससे मेरा हौसला गिरता और शायद मैं आसान प्रश्नों में भी गलती कर बैठता। यह वो गुर हैं जिन्हें जिंदगी की परीक्षा में भी आजमाया जा सकता है। मैं अपने मित्रों से जीवन की समस्याओं को भी इसी प्रकार के तीन वर्गों में बांटने की सलाह देता हूं। और बहुत परेशान न होने की बजाए जैसे-जैसे मुश्किलें आएँ वैसे-वैसे उन्हें हल करने की सलाह देता हूं। हमें खुद को समस्या से बड़ा होना चाहिए नहीं तो उसका भार हमारे जीवन के हर पहलू पर पड़ेगा। एक वो भी वक्त था जब मैं मेडिकल डिग्री की परीक्षा से भागना चाहता था। मुझे लगा कि मैं फेल हो जाऊंगा और उससे काफी बदनामी होगी। परन्तु अंतिम क्षण में मुझमें नई चेतना का संचार हुआ और मैंने परीक्षा देने का निर्णय लिया। गनीमत है कि मैं इस प्रकार उदासी से बच पाया। हरेक को अपनी समस्याएं सुलझाने की खुद एक रणनीति बनानी चाहिए। उदाहरण के लिए हम मरीजों से उनके कर्ज को कागज पर लिखने को कहते हैं। इससे उनकी परेशानियां सीमित हो जाती हैं, नहीं तो यह समस्या उन्हें कभी न सुलझने वाली लगती थी। समस्या की प्रकृति और उसकी तादाद को आंको जिससे कि तुम्हारी पूरी जिंदगी बरबाद न हो।

ऐसा नहीं है कि यह विवेक मुझे एक झटके में समझ में आया। मुझे इस सत्य को साकार करने के लिए बोधी वृक्ष के नीचे बैठने की जरूरत नहीं पड़ी। यह मुक्तांगन में आने वाले हजारों मरीजों का सामूहिक विवेक है। यह विवेक रोजमर्रा के संघर्षों और परिस्थितियों से उभर कर निकला है। इस व्यावहारिक ज्ञान की कोई सीमा नहीं है। मैं पिछले पच्चीस वर्षों से अपने मरीजों से सीख रहा हूं, पर फिर भी मेरी शिक्षा अधूरी है। यही जीवन के सबक हैं - जो किताबों में नहीं मिलता है और जो कभी समाप्त नहीं होता है। इस सीख ने हमको भी गढ़ा है, हमें एक-दूसरे के साथ जीना सीखा है और हमें अपनी व्यक्तिगत कमजोरियां छोड़ना सिखाया है। मुक्तांगन के सभी मित्रों के लिए एक मरीज की यह टिप्पणी बेहद शिक्षाप्रद है, “यहां मेरी जो देखभाल हुई, मुझे जो प्रेम मिला वो मुझे जीवन में और कहीं नहीं मिला।” जब मैं इस प्रकार के शब्द किसी मरीज के मुंह से सुनता हूं तो मुझे लगता है कि हम सचमुच सुनंदा के दिखाए करुणा और सहानुभूति के पथ पर चल रहे हैं।

अध्याय - 8

फॉली-अप और दूसरी के साथ बांटना

जिन मरीजों को मुक्तांगन में उनकी इच्छा के खिलाफ लाया जाता है वे व्यसन की समस्या से बिल्कुल इंकार करते हैं। खुद पर लगे दारू और ड्रग्स के आरोपों पर उनकी एक खास प्रतिक्रिया होती है। उनके साथ बातचीत में एक स्पष्ट नमूना उभरता है। पहले वो सच को अस्वीकार करते हैं। “नहीं, कभी नहीं! मैंने जीवन में कभी दारू नहीं पी!” जब हम उनके सगे-सम्बंधियों की शिकायतें गिनाते हैं तो फिर वो शांति से कहते हैं, “थोड़ी सी, और वो भी कभी-कभी।” जब रोज शराब पीने का आरोप उनपर लगाया जाता है तो उनकी प्रतिक्रिया उग्र होती है, “इस दुनिया में कौन नहीं पीता है? पूरी दुनिया शराब पीती है। आप मुझे ही क्यों दोष दे रहे हैं? मैं किसी को कष्ट नहीं पहुंचाता हूं। पीने के बाद मैं घर आकर बस सो जाता हूं।” यह सुनने के बाद हम कहते हैं, “नहीं, आप रोज रात को अपनी पत्नी को पीटते हैं।” उसके बाद मरीज बहुत उग्र होते हैं और अपशब्द उपयोग करने लगते हैं।

एडिक्शन के उपचार के दौरान हम मरीजों को सांत्वना देते हैं। हम कहते हैं कि झूठ और दिखावा उनकी दारू की लत के कारण हैं। “आप झूठ नहीं बोल रहे हैं। शराब आपको झूठ बोलने के लिए मजबूर कर रही है।” इन मरीजों की जिंदगी दारू पर ही केंद्रित होती है। दारू ही उनका मुख्य आकर्षण होता है। जो दारू नहीं पीते वो उनके मित्र नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार जो दारू के खिलाफ होते हैं वो उनके दुश्मन होते हैं। दारू बंद करने की हर अपील वो अनसुनी करते हैं। ड्रग एडिक्ट्स तो दारू के लत वालों से भी बदतर होते हैं। वो अपने पड़ोस से कहीं आते जाते नहीं हैं। नई जगह पर नियमित ड्रग्स मिलें, या न मिलें? इस बात की उन्हें शंका होती है। एक ड्रग एडिक्ट बहुत आग्रह के बाद, अनिच्छा से एक शादी में औरंगाबाद गया। वो ड्रग्स का स्टॉक साथ लेकर गया। ड्रग्स खत्म होने के बाद वो औरंगाबाद में उन्हें तलाशता रहा। ड्रग्स न मिलने पर वो रिश्तेदारों को बिना बताए मुम्बई चला गया। ड्रग्स के आंतरिक दबाव को रोक पाने की असफलता से वो अपने रिश्तेदारों को किस परेशानी में डाल रहा था उसकी उसे कुछ सुध नहीं थी।

मुम्बई के ड्रग्स एडिक्ट्स को माल मिलने का पक्का स्थान पता होता है। एक एडिक्ट ने मुझसे कहा, “रेल्वे स्टेशन जाओ और वहां तुम जो चाहोगे वो तुम्हें मिलेगा। वहां तुम्हें जरूर कोई ड्रग्स बेचने वाला मिल जाएगा। विक्रेता चेहरा देखकर तुम्हें पहचान जाएगा। वो पास में आकर तुमसे पूछेगा।” विक्रेता, ग्राहक को कैसे पहचान जाता है? यह रोचक बात है। असल में एडिक्ट को पहचानना बहुत कठिन नहीं होता है - दुबला शरीर, आंखों के चारों ओर काले धब्बे, काले ओंठ आदि। इन लक्षणों से एडिक्ट तुरन्त पहचान में आता है।

एडिक्ट्स की बात में कुछ सच्चाई भी होती है। अगर दुनिया में सभी लोग पियक्कड़ हैं तो फिर हम कुछ चंद लोगों पर ही अपना ध्यान क्यों केंद्रित करें। यह सच है कि शराब पीने वाले सभी लोग, एडिक्ट्स नहीं होते हैं। एए ने शराब पीने वालों को चार भिन्न कोटियों में बांटा है। ‘सोशल ड्रिंक्स’ किसी सामाजिक अवसर पर सीमित मात्रा में शराब पीते हैं। वे आमंत्रित किए जाने पर ही शराब पीते हैं। कुछ सोशल ड्रिंक्स धीरे-धीरे ‘योजनाबद्ध ड्रिंक्स’ बन जाते हैं और वे अपने मित्रों और परिवार के साथ दारू पार्टियों की सुनिश्चित योजना बनाते हैं। उनके लिए रोज दारू पीना, एक नियम जैसा बन जाता है। जो लोग रोज, आदतन दारू पीते हैं उन्हें ‘आदतन ड्रिंक्स’ कहते हैं। जब व्यक्ति इस आदत से पूरी तरह ग्रस्त होता है तब एक एडिक्ट पैदा होता है। वैसे यह चार अलग कोटियां हैं, पर इनके बीच की सीमा अक्सर काफी धुंधली होती है। कुछ ‘सोशल ड्रिंक्स’ के लिए शराब जल्द ही एक एडिक्शन बन जाती है। कुछ लोग जीवन भर ‘सोशल ड्रिंक्स’ बने रहते हैं जबकि कुछ लोग बहुत जल्दी से एडिक्शन की ओर बढ़ते हैं। कुछ लोगों को एक समूह से दूसरे में जाने में काफी वक्त लगता है, जबकि कुछ बहुत जल्दी से एडिक्ट बन जाते हैं।

एक वैश्विक अनुमान के अनुसार, 100 ‘सोशल ड्रिंक्स’ में करीब 13 एडिक्ट्स होते हैं। भारत के लिए यह आंकड़ा कुछ अधिक है, और यहां 100 ‘सोशल ड्रिंक्स’ में से करीब 20 एडिक्ट्स होते हैं। यह कोई अच्छी बात नहीं है। असल में यह बड़ी चिंताजनक स्थिति है। कोई भी इसके चंगुल में फंस सकता है। कब कौन दारू के जाल में फंसेगा, कुछ कहा नहीं जा सकता है। ऐसे बहुत लोग हैं जो उसके आकर्षण से सालों तक बरी रह सकते हैं, पर फिर उसके चंगुल में दुबारा फंस जाते हैं। यह खतरों से भरा जाल है। उससे जितना दूर रहा जाए उतना ही अच्छा है।

मुक्तांगन शुरू होने से पहले हमने दारू के एक इलाज के बारे सुना था जिसे डॉक्टरी के कोर्स में पढ़ाया जाता था। उसे ‘डाइसल्फीराम’ कहते हैं। इसका भगवान राम से कुछ लेना-देना नहीं है। यह दवा, शराब के प्रति संवेदनशील होती है। दवा

लेने के बाद अगर कोई दारू पीता है तो उसमें एक अप्रिय प्रतिक्रिया पैदा होती है। 'डाइसल्फीराम' के कारण जब अल्कोहल, एसीटेलडीहाइड चरण में होती है तब उसके ऑक्सीडेशन पर रोक लग जाती है। इसे 'एंटाब्यूज' थेरेपी भी कहते हैं। इससे शरीर अल्कोहल जब्ज नहीं कर पाता है और शराब पीने के बाद मरीज को बहुत अप्रिय महसूस होता है। इस दवा की गोलियों का प्रभाव अस्थायी होता है। कुछ समय बाद दवा का असर उतर जाता है। हमारे मरीजों पर इस दवा का कोई अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। एक ने बताया कि उसने गोली खाने का बहाना बनाकर अपनी पत्नी को धोखा दिया। दूसरे ने कहा, "दोपहर के भोजन तक गोली का प्रभाव उतर जाता था। इसलिए मैं गोलियों के बीच की अवधि में दारू पीता था।"

एडिक्ट्स अपने खास लहजे में इन किस्सों को सुनाते हैं। वो दारू की बोतलों को उनके माप के अनुसार 'क्वाटर' या 'खम्बा' बुलाते हैं। हमें इस प्रकार की खाली बोतलें पूरे शहर में बिखरी हुई दिखती हैं। कुछ लोग दारू को बिना पानी मिलाए ही पीते हैं। पियक्कड़ों की एक विशेष शब्दावली होती है जो खूब प्रचलित है। सुनंदा ने उसके कई शब्द सीखे थे। काउंसिलिंग के दौरान सुनंदा उन शब्दों का उपयोग कर मरीजों को आश्चर्यचकित करती थी।

'डाइसल्फीराम' का इलाज असल में काफी कष्टप्रद होता है। शुरू के मेडिकल परीक्षणों के सामान्य निकलने के बाद, मरीज को दवा की पहले 'डोज' के लिए अस्पताल में भर्ती कराया जाता है। मरीज जिस किस्म की दारू पीता है उसके साथ-साथ उसे 'डाइसल्फीराम' भी दी जाती है। इससे मरीज के शरीर में 'डाइसल्फीराम - अल्कोहल' प्रतिक्रिया होती है। प्रतिक्रिया 'डाइसल्फीराम' और अल्कोहल की मात्रा पर निर्भर होती है, और उसका असर शरीर में, दवा और दारू के जब्ज होने तक रहता है। प्रतिक्रिया की तीव्रता भिन्न लोगों में अलग-अलग होती है। गम्भीर प्रतिक्रिया में मरीज में मिचली, दर्द, शरीर कांपना, दिल के दौरे के साथ मृत्यु भी हो सकती है। इसलिए मरीजों से हम इस दवा से परहेज करने को कहते हैं। उसकी तुलना में मुक्तांगन की 'विथड्राअल' थेरेपी, कहीं अधिक सुरक्षित है। उसमें कम समय लगता है और साथ में मरीज को देखभाल के लिए एक 'सपोर्ट सिस्टम' भी मिलता है। उससे मरीज एक बड़े परिवार का सदस्य बनता है जो 'रिलैप्स' के समय उसकी सहायता करता है। परिवार की देखभाल का विकल्प कोई गोली नहीं हो सकती है।

'एंटाब्यूज' जैसी ही एक अन्य ड्रग - 'मैथाडोन', हेरोइन के लिए भी उपलब्ध है। 'मैथाडोन पुनर्वसन' कार्यक्रम अमरीका और यूरोप में बहुत प्रचलित है। मैथाडोन एक ऐसी दवा है जिसका रासायनिक ढांचा लगभग हेरोइन जैसा होता है। पर उससे

हेरोइन जैसा नशा पैदा नहीं होता है। शरीर के जिन रिसैप्टर्स पर दवाएं काम करती हैं, उन्हीं रिसैप्टर्स को मैथाडोन 'ब्लॉक' करती है। मैथाडोन, मरीज की हालत को स्थिर और स्थायी बनाती है। मैथाडोन मरीज में हेरोइन, मॉर्फीन और अन्य ड्रग्स से पैदा हुए जश्न के प्रभाव को खत्म करती है। इसलिए मैथाडोन के उपयुक्त मात्रा में उपयोग द्वारा, मरीज पर हानिकारक ड्रग्स के प्रभाव को कम किया, अथवा रोका जा सकता है। पर इस दवा से भी एडिक्शन होता है। जिन देशों में मैथाडोन आसानी से खुले में उपलब्ध थी, वहां पर मरीज मैथाडोन के एडिक्ट बन गए। कितनी अजीब बात है कि वहां बड़ी मात्रा में मरीजों को एंटी-एडिक्शन दवाई की लत लग गई थी। हौलेन्ड के एक मरीज ने अपनी व्यथा को इन शब्दों में स्पष्ट रूप से व्यक्त किया, "ड्रग्स को छोड़ना, मैथाडोन छोड़ने से कहीं आसान है। काश सरकार हमें ड्रग्स देती, जिससे कि हम मैथाडोन को छोड़ पाते। हम ड्रग्स बाद में छोड़ सकते थे, पर अब तो मैथाडोन ने हमारी जिंदगी को नर्क बना दिया है।" इस तर्कहीन अनुभव को सुनकर मैं बहुत बेचैन हुआ।

मुक्तांगन व्यसन-मुक्ति और पुनर्वसन के काम को, बहुत अच्छी तरह कर रहा है। हम कभी भी सम्पूर्ण इलाज का दावा नहीं करते। मरीज के पूरी तरह ठीक होने की भी कोई गारंटी नहीं देते। हम केवल 100-प्रतिशत सहयोग और देखभाल का आश्वासन देते। मुझे खुशी है कि मुक्तांगन के उपचार में एडिक्शन-मुक्ति की कोई दवा शामिल नहीं है। इन मंहगी दवाओं को बहुत कम मरीज ही खरीद पाते। अगर हम व्यसन-मुक्ति का विशुद्ध 'डॉक्टरी' इलाज खोजते तो हमारा पूरा कार्यक्रम डॉक्टर केंद्रित हो जाता। मुक्तांगन में कुछ मरीजों को डॉक्टर, दवाई भी देते हैं परन्तु यह उनके सम्पूर्ण उपचार का एक छोटा भाग होता है। मुक्तांगन में डॉक्टर और कम पढ़े स्वयंसेवी मिलकर एक टीम बनाते हैं। यह टीम वैकल्पिक और व्यावहारिक थेरेपीज का सुझाव देती है। इस कम पढ़ी-लिखी टीम के सदस्यों ने अपने काम में जो सफलता हासिल की है वो श्रेय दुनिया में किसी दवा को नहीं मिल सकता है। मुक्तांगन के काम से मरीजों में जो आत्मविश्वास और संयम पैदा होता है वो दवाईयों पर आधारित इलाज से कभी सम्भव नहीं हो पाता।

मुझे 'सोबर' शब्द पर अचरज होता है, उसका मतलब ड्रग्स-मुक्त जीवन होता है। उसका मतलब शांत मन, संतुलित दिमाग आदि होता है जो ड्रग्स-मुक्ति के क्षेत्र में काम करने वालों के लिए एक विशेष महत्व रखता है। 'सोबर' शब्द अब महाराष्ट्र के दूर-दराज के गांवों में फैल चुका है। जो महिलाएं बिल्कुल अंग्रेजी नहीं जानती, वो भी मुक्त होकर इस शब्द का उपयोग करती हैं। एक अन्य शब्द है 'शैअरिंग' यानि

‘बांटना’ जिसका भी उपयोग एडिक्ट्स और उनके संबंधी लोग करते हैं। इस ‘शैअरिंग’ का मतलब सामान्य शब्द से अलग है। इस ‘शैयरिंग’ में मरीज व्यसन-मुक्ति के अपने अनुभव, अन्य लोगों के साथ बांटता है, जिससे बहुत अधिक लाभ होता है। एए की ज्यादातर बैठकों में कोई औपचारिक भाषण नहीं होता है। उनमें लोग बस अपनी व्यक्तिगत कहानियां सुनाते हैं। मुझे यह तकनीक बहुत उपयोगी और प्रभावशाली लगी। काश, भारत में लोग सार्वजनिक जीवन की ऐसी कहानियां एक-दूसरे के साथ ‘शैअर’ कर पाते।

हम एक अन्य शब्द का बहुत उपयोग करते हैं और वो है ‘फॉलो-अप’। इसका मतलब मरीज और मुक्तांगन के बीच, एक लम्बे काल के लिए सम्बंध बनाना है। मरीज के मुक्तांगन छोड़ने के बाद भी, यह सम्बंध कायम रहता है। मरीज लगातार अपने बारे में सूचना देते रहें, इसे हम प्रोत्साहित करते हैं। इससे हमें उनकी प्रगति और उपचार के प्रभाव के विषय में पता चलता रहता है। बातचीत के दौरान अब महिलाएं भी ‘फॉलो-अप’ शब्द का खूब उपयोग करती हैं। कभी कोई इसका गलत उच्चारण भी करता है। पर हम उसका मतलब तुरन्त समझ जाते हैं।

‘फॉलो-अप’ बहुत आवश्यक है। उपचार के बाद मरीज ने संयम रखा है, या नहीं, इस पर नजर रखना जरूरी है। खासकर उन मरीजों पर जिन्होंने जिंदगी में व्यसन न करने का वादा किया था। कुछ संयम की जांच के लिए एक परीक्षा रचते हैं। वे दारू के अड्डे पर जाते हैं, पर वहां से बिना पिए वापस लौटते हैं। वायदों के बावजूद, इन लोगों के ड्रग्स और शराब का सेवन दुबारा शुरू करने की सम्भावना काफी अधिक होती है। कुछ लोग दारू के अड्डे पर जाकर बिना पिए लौट आते हैं। पर उनका क्या, जिन्हें पीने की गहरी तलब उठती हो? पता नहीं शराब की गंध से, दिमाग में कब फितूर शुरू हो जाए? क्यों फालतू के हीरा बनें? इसकी बजाए एडिक्ट्स को, ड्रग्स और दारू से मुक्त हरेक दिन, खुद के लिए ईश्वर की कृपा मानना चाहिए। बिना किसी हरकत के, बिना डींग मारे एक सामान्य जीवन जी पाने में ही सच्ची बहादुरी है। इस संदर्भ में मुक्तांगन का ‘फॉलो-अप’ बहुत अहम है। मुक्तांगन के लिए यह बेहद महत्व रखता है क्योंकि ‘फॉलो-अप’ से हम मरीजों के संयम को कायम रख सकते हैं। हम मरीजों को नाजुक और खतरों वाले निर्णय लेने से रोक सकते हैं। जीवनशैली में तीव्र बदल के नतीजों से भी काउंसिलर्स, उन्हें आगाह कर सकते हैं। जब पुनर्वसन के मरीज नए धंधे के लिए बड़ा कर्ज लेते हैं तो हम उन्हें नई जीवनशैली से बचने की सलाह देते हैं। हम उन्हें धीरे-धीरे, कदम रखने की और अपनी खोई सामाजिक प्रतिष्ठा हासिल करने की सलाह देते हैं। इन तिरिस्कृत लोगों को हरेक निर्णय, ठोक बजा कर ही लेना

चाहिए। समाज में प्रतिष्ठित लोगों के विपरीत, इन मरीजों को गलतियां करने से बचना चाहिए। जिन्होंने पहले कभी गलती न की हों, अगर वो गलतियां करते हैं, तो हम उन्हें समझा देते हैं। परन्तु जो पहले से ही गैरजिम्मेदार थे, उन्हें अपना हर कदम सावधानी से आगे रखना चाहिए। उन्हें तेज रफ्तार वाली सुपर-हाईवे से बचना चाहिए।

पुणे में रहने वाले व्यसन-मुक्त लोगों से 'फॉलो-अप' करना हमारे लिए आसान होता है। पर दूर-दराज रहने वाले लोग भी, हमें कभी-कभी मध्य-रात्रि के समय फोन करते हैं। हमारे स्वयंसेवी रोज शाम को दूर शहरों की फोन कॉल्स का उत्तर देते हैं। फोन करने वाला बस मुक्तांगन में किसी व्यक्ति से सिर्फ बात करना चाहता है। उनमें मुक्तांगन के लोगों से बात करने की तीव्र इच्छा होती है। कभी-कभी सुधरे एडिक्ट्स की पत्नियां उन्हें मुक्तांगन जाकर आराम करने की सलाह देती हैं। "लम्बे अर्से से तुम काफी चिड़चिड़े हो गए हो। मायके जाओ, कुछ दिन मुक्तांगन रह कर आओ।"

कभी-कभी मुझे रात के वक्त फोन आते हैं, "बाबा, आज मेरी पत्नी से लड़ाई हुई है। मेरा दिमाग घूम रहा है। मैं क्या करूं?" मरीज पूछता है। मैं मरीज की पूरी बात सुनता हूं। पूरा प्रयास करता हूं कि वो ड्रग्स या दारू से दूर रहे। हम मरीजों को हमेशा बताते हैं कि तीव्र तलब लगने पर वो अपने सगे-सम्बंधियों से फोन पर बात करें। "किसी चहेते को फोन करो और अपनी तलब को बुझाओ। मध्य रात को भी फोन करो। घबराओ और शर्माओ नहीं। बाद में तुम उनसे क्षमा मांग सकते हो।" मुझे अनेकों पत्र मिलते हैं जिसमें मरीज अपनी निजी व्यक्तिगत समस्याएं बताते हैं। वो अपने घरेलू जीवन की मुश्किलें भी साफ-साफ लिखते हैं।

इससे मुझे विश्वंभर केलकर की याद आती है। वो कभी हमारे यहां इलाज के लिए आए थे। तब तक वो अपनी नौकरी और बहुत धन-दौलत गंवा चुके थे। परन्तु मुक्तांगन में आकर वो ठीक हुए। क्योंकि वो पुणे में ही रहते थे इसलिए वो मुक्तांगन में हरेक शुक्रवार को आयोजित बैठकों में भाग लेते थे। मुक्तांगन में हर शुक्रवार को 20-22 लोगों का बैच उपचार समाप्त होने के बाद घर जाता है। उनको अलविदा कहने के लिए हम एक छोटा समारोह आयोजित करते हैं। विश्वंभर ने घर जाने के बाद उन मीटिंग्स में आना शुरू किया। वो बैठकों में नियमित रूप से आता था। जब वो पूरे एक साल यानि 52 हफ्तों तक आया तब हमने गुलाब का फूल देकर उसका सत्कार किया। यह उपक्रम '52 शुक्रवार के व्रत' के नाम से फैल गया। पुणे में रहने वाले कई मरीजों ने यह व्रत किया और वे अच्छे हो गए।

हर महीने के आखरी शनिवार को एक प्रोग्राम होता है। उसमें वे मित्र आते हैं जिन्होंने एक साल से कोई नशा नहीं किया है। वे आकर अपने दिल की बातें बताते

हैं। हम एक टोकन देकर उनका सम्मान करते हैं। जब '52 शुक्रवार के व्रत' शुरू हुए फिर किसी ने '52 शनिवार के व्रत' शुरू किए। हर महीने के आखरी शनिवार को लोग इसके लिए आते हैं। बारहवें शनिवार को उन्हें नशामुक्ति के मेडल से उनका सम्मान किया जाता है।

मुक्तांगन की सबसे सुंदर बात यह है कि इन तमाम उपक्रमों को हमारे मित्रों ने शुरू किया है।

मैंने पहले भी इस बात का जिक्र किया है। मुक्तांगन बहुत सी भारतीय परम्पराओं में विश्वास रखता था। इन परम्पराओं का 'हिन्दु' होना जरूरी नहीं था। लोकप्रिय परम्पराएं वो थीं, जिसमें लोग आपस में मिलते और बातचीत करते थे। दीप प्रज्ज्वलन, धर्म-मुक्त मंत्रों का उच्चारण, दही-शक्कर के साथ विदाई, दीवाली का पर्व - इन सभी परम्पराओं को लोगों की सक्रिय भागीदारी और एक स्वस्थ वातावरण के निर्माण के लिए मनाया जाता था। हमने इन पर्वों को अपनी जरूरतों के हिसाब से बदला। उदाहरण के लिए बाहर की दुनिया में, दीवाली पर बहुत धुआं, शोर और पैसा खर्च होता है। हम दीवाली को बिना फटाकों के पर्यावरण-मित्र तरीके से मनाते हैं। उस शुभ दिन सभी लोग सुबह होने से पहले नहाते हैं। मुक्तांगन में लोग अपने हाथों से बहुत सुंदर दीवाली की कंदील बनाते हैं जिन्हें पुणे की कुछ कम्पनियां खरीदती भी हैं। मुक्तांगन को इन कंदीलों से सजाया जाता है और जमीन पर रंगोली के सुंदर नमूने बनाए जाते हैं। ऑडिटोरियम के आसपास के खुले स्थान पर तीन-चार मिट्टी के किले बनाए जाते हैं। यह परम्परा शिवाजी और अन्य योद्धाओं को सम्मानित करती है। बाद में इन किलों के डिजाइन, उनकी बारीकी और तकनीकी गुणवत्ता का मूल्यांकन होता है। सबसे अच्छा किला चुनने का काम मुझे दिया जाता है। हम मुक्तांगन में बनी मिठाईयां खाते हैं। सब लोग मिलकर गाने गाते हैं और अंत में मुझ से बांसुरी बजाने की फरमाईश की जाती है। मुक्तांगन में दीवाली के त्यौहार को आप एक प्रकार की थेरेपी ही मान सकते हैं। पर्व के लिए तैयारियों में सभी लोग अलग-अलग टीमों में काम करते हैं और सृजनात्मक कला के काम में डूब जाते हैं।

अब मैं फॉलो-अप के मुद्दे पर वापस आऊंगा। अब मैं बिना इधर-उधर भटकें उस पर प्रकाश डालूंगा। मुक्तांगन में काउंसिलर पद पर काम करने वाला, बीस साल सोबर रहा हुआ प्रसाद ढवले फॉलो-अप काम में हमारी प्रेरणा हैं। वो सतारा जिले में कराड के रहने वाले हैं। हर महीने वो अपनी पत्नी और माता-पिता से मिलने कराड जाते हैं। उन्होंने कराड और उसके आसपास के इलाकों में फॉलो-अप करने के लिए सुनंदा की अनुमति मांगी। सुनंदा इससे बहुत खुश हुई। उसके बाद प्रसाद सांगली,

तासगांव, इच्छलकरंजी और कोल्हापुर के मरीजों से भी मिलने लगे। उन्होंने मुक्तांगन के लिए पूरे दक्षिण महाराष्ट्र का इलाका कवर किया। मृदु स्वभाव के कारण वो लोगों को समस्याओं को तीव्रता और शांति से निबटा देते थे। उसके बाद अन्य कई स्वयंसेवियों ने औरंगाबाद, नासिक और सोलापुर में भी फॉलो-अप का कार्य शुरू किया। जिले मुख्यालयों में जाकर वो आसपास के छोटे शहरों के मरीजों से भी मिलते थे। इस प्रकार इस पूरे इलाके में फॉलो-अप का हमारा एक अच्छा जाल बना। हर तीन महीनों में मैं भी इन फॉलो-अप केंद्रों में जाता हूँ। मेरे जाने से पहले हमारा स्टॉफ वहां घर-घर जा-जाकर पूर्व तैयारी करता है। इन चर्चाओं के दौरान जो मरीज मुक्तांगन में भर्ती होना चाहते हैं हम उनकी तारीख तय करते हैं। मरीजों और उनके माता-पिता के लिए विशेष मीटिंग्स होती हैं। इन उपकेंद्रों में बहुत से लोग मुझसे मिलने आते हैं। उनकी जिंदगी में मेरे लिए एक विशेष स्थान है। मेरी लोकप्रियता का सारा श्रेय सुनंदा को जाता है जिसकी विरासत को हम सब लोगों ने आगे बढ़ाया है। वैसे लोग मुझे अच्छे लगते हैं। लोग मुक्तांगन को जो प्यार और दुलार देते हैं वो प्राकृतिक रूप से मुझे ही मिलता है। इस मामले में मैं वाकई, खुशनसीब हूँ।

इसी प्रकार की एक बैठक में मेरी भेंट एक मरीज जयंत, की पत्नी से हुई। उसके चेहरे पर जयंत की मार के साफ निशान थे। जयंत मेरे पास आने की हिम्मत नहीं कर पा रहा था, इसलिए किसे ने उससे खासतौर पर मुझसे मिलने को कहा। वो शर्म के कारण बोल नहीं पा रहा था। तभी मुझे ऐसे मरीजों के साथ सुनंदा का मानवीय व्यवहार याद आया। मैंने उससे कहा, “तुम अपने जीवन को इस तरह कब तक बरबाद करोगे? चलो मुक्तांगन में भर्ती हो जाओ। उससे तुम्हारा भविष्य सुधरेगा।” जयंत तुरन्त मेरी बात मान गया। उसे तुरन्त कार में बिठाकर एक लम्बी यात्रा के बाद मुक्तांगन लाया गया। रास्ते में उसने कई बार दारू पी। परन्तु हमने उसकी सनक को अनदेखा किया। भर्ती होने के दो दिनों बाद जयंत शांत हुआ। उसके बाद उसने कई सालों तक शराब नहीं छुई। वो और लोगों से कहता, “मुझे अपनी आदतों को बदलना ही था, क्योंकि मैं बाबा के विश्वास को नहीं तोड़ सकता हूँ।” बाद में मैंने जयंत की पत्नी से उसके गुस्से के बारे में पूछा। “बेहतर है। अब जयंत से ज्यादा मुझे गुस्सा आता है,” उसने हंसते हुए जवाब दिया।

जयंत के कोल्हापुर से तबादले की भी एक रोचक कहानी है। अपना तबादला रद्द कराने के लिए वो मुम्बई गया। नशा करने के कारण उसकी प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल चुकी थी और कोई भी सीनियर अफसर उसकी बात सुनने को तैयार नहीं थे। जयंत उनसे कहता कि वो नशा छोड़ चुका था और उसकी पुष्टि वो मुझसे कर सकते

थे पर कोई उसकी बात पर यकीन नहीं करता था। कुछ अफसरों ने मेरी पुस्तकें जरूर पढ़ीं थीं। उन्होंने जयंत से कहा, “बड़े-बड़े नाम मत लो। उससे तुम आरोपों से बरी नहीं होगे।”

जयंत ने उत्तर दिया, “वो प्रसिद्ध लेखक दुनिया के लिए एक बड़ा नाम होंगे पर हमारे लिए तो वो ‘बाबा’ बिल्कुल पिता जैसे हैं। मैं अभी आपसे उनकी बात करवाता हूं।” अफसर, जयंत के दावे की पुष्टि करना चाहते थे और मैंने उन अधिकारियों से कहा, “कृपा कुछ समय के लिए उसे कोल्हापुर में ही रहने दें। जब फॉलो-अप का उपचार खत्म हो जाए फिर आप जहां चाहें उसका तबादला कर दें।” वो मेरी बात मान गए। काफी समय बाद जयंत का दूसरे जिले में तबादला हुआ। वहां जाकर जयंत ने खुद का फॉलो-अप ग्रुप शुरू किया। अभी भी वो मरीजों को सलाह देता है।

मकरंद की कहानी भी वैसी ही है। वो पढ़ा-लिखा है और अच्छे परिवार का है। दारू के नशे में फंसने के बाद उसकी पिता के धंधे में रुचि खत्म हो गई। उसकी पत्नी उसे छोड़ने वाली ही थी। उनकी समस्या पता चलते ही मैंने उन दोनों को बुलाया और उनकी जिम्मेदारी ली। मैंने मकरंद से मुक्तांगन में इलाज होने तक, रहने को कहा। इस बार वो उपचार के लिए गम्भीर था जबकि पहले कई बार इलाज फेल हो चुका था। तीन महीने मुक्तांगन में रहने के बाद वो घर वापस गया। उसके परिवारवालों के साथ मेरा सम्पर्क बढ़ा और आज वो मेरे बहुत करीबी मित्र हैं। जब कभी मैं कोल्हापुर जाता हूं तो हम साथ-साथ पन्हाला के हिल-स्टेशन पर जरूर जाते हैं। वहां एक बड़े खम्बे के पास तेज हवा चलती है। उस रमणीक स्थान पर बैठकर हम अपने जीवन के बारे में बातें करते हैं। बाद में मैं उस जगह पर बांसुरी बजाता हूं।

मेरे कई अन्य मित्र हैं जो मुक्तांगन से किसी भी रूप में जुड़े नहीं हैं। पर बाद में यह लोग भी, मुक्तांगन परिवार के मित्र बन गए। मिसाल के लिए रणजित जाधव अपने बंगले का बड़ा हॉल हमें बैठकें आयोजित करने के लिए देते हैं। उसी प्रकार मित्र सुहास घाटे हमारे लिए कार्डसिलिंग का काम करते हैं।

अब मैं आपको एक अन्य मरीज दीपक के बारे में बताऊंगा। वो भी कराड के थे और अपनी पत्नी को पीटते थे। एक बार बहुत वहशी पिटाई के बाद पत्नी को अस्पताल में भर्ती कराना पड़ा। क्योंकि उनका घर हमारे कोल्हापुर यूनिट के बहुत पास था इसलिए मैं पत्नी से कई बार जाकर मिला। मैंने उनके शरीर पर चोटों और पट्टियों को देखा। एक बार जब मैं कोल्हापुर गया तो हमारे स्वयंसेवी प्रसाद ढवले ने मुझसे कहा कि दीपक मुझे दूर से नमस्कार करना चाहता था क्योंकि वो मिलने में उसे शर्म आ रही थी। मैं ऑटोरिक्षा से एस. टी. बस स्टैंड की ओर जा रहा था। मैंने दीपक

को बस स्टॉप के पास खड़ा हुआ देखा। मैंने उससे अभिनंदन में हाथ हिलाया और उसका दीपक पर बहुत प्रभाव पड़ा। वो तुरन्त दारू नहीं छोड़ पाया पर उसने हमारी बैठकों में नियमित रूप से आना शुरू किया। एक दिन उसने मुझसे कहा, “आप हमारे घर खाने के लिए क्यों नहीं आते?” मैंने तुरन्त कहा, “अगर तुम एक साल तक दारू न पीने की कसम खाओ, और उसे पूरा करो, तो मैं तुम्हारे घर जरूर आऊंगा।” उसने मेरी बात को गम्भीरता से लिया और एक साल दारू छोड़ने के लिए उसका मुक्तांगन में सम्मान भी हुआ। उसके बाद मैं दीपक के घर गया जहां उसकी पत्नी बहुत खुश लगी। अब उसके चेहरे पर चोटों के निशान नहीं थे। उस दिन पड़ोसियों को भी खाने के लिए बुलाया गया था। सब लोगों को बहुत मजा आया। जब मैं जाने लगा तब दीपक ने पूछा, “बाबा, आप दुबारा कब आएंगे?” मैंने उत्तर दिया, “तुम्हारे गुटका छोड़ने के एक साल बाद।” दीपक अपनी पत्नी की ओर देखकर मुस्कुराया।

मैं आपको एक लम्बे पत्र के बारे में बताना चाहता हूँ जो मुझे अभी-अभी एक मरीज से मिला। अक्सर मैं पत्र को काउंसलर्स के हवाले कर देता हूँ। पर यह पत्र कहीं रखा रह गया और बहुत समय बाद ही मैंने उसे पढ़ा। इसलिए मैं अपने आप को दोषी समझ रहा था। मुझे खुशी थी कि जितेंद्र नशे से खुद को दूर रख पाया था। उसके अन्य समस्याएं थीं - कर्ज और कम वेतन वाली नौकरी। जितेंद्र ने एक प्लॉट पर लोन लिया था जिस पर एक करीबी रिश्तेदार ने कब्जा कर लिया था। यह पढ़कर मैं तुरन्त मुक्तांगन में फॉलो-अप के लोगों के पास गया। वहां हमारे स्वयंसेवी प्रसाद ढवले ने मुझे जितेंद्र की सही-सलामती के बारे में आश्वस्त किया। “जितेंद्र अब ठीक-ठाक है। मैंने उसे सहकारी बैंक ले गया और वहां उसके कर्ज पर सूद माफ कराया। इससे उसका कर्ज कम हुआ। और जब बैंक वालों को जितेंद्र की व्यक्तिगत कहानी का पता चला तब उन्होंने उसे एक नौकरी दे दी। अब कर्ज की किश्त उसके वेतन में से कटती है।” प्रसाद ने यह भी बताया कि जितेंद्र अब नियम से फॉलो-अप मीटिंग्स के लिए आता है। मैं जितेंद्र के बारे में सुनकर और साथ में प्रसाद के उत्तम के बारे में सुनकर बहुत खुश हुआ। प्रसाद चुपचाप अपना काम करता है। वो अपने काम का श्रेय तक नहीं लेता है। जब प्रसाद के काम की प्रशंसा होती है तब वो वहां से कट लेता है।

मुझे खुशी है कि प्रसाद जैसे स्वयंसेवियों ने अपने-अपने इलाकों में स्थानीय स्तर पर काफी समर्थन प्राप्त किया है। मिसाल के लिए हम कोल्हापुर में अपनी सभी बैठकों रणजित जाधव के बंगले में करते थे। बाद में हम एक केंद्रीय हॉल में शिफ्ट हुए। प्रसाद द्वारा आयोजित मासिक बैठकों में, और मेरे आगमन पर विशेष बैठकों में लोग नियमित रूप से आते हैं।

कई शुभचिंतकों ने हमें बैठकों आयोजित करने के लिए निशुल्क जगह दी है। नासिक के रोटरी क्लब ने, अहमदनगर के सोनार अस्पताल ने, और सांगली के एक मेडिकल सेंटर ने। पूरे महाराष्ट्र भर में हमारे मित्रों का एक जाल है, जो बहुत खुशी की बात है। हरेक केंद्र मेरे आगमन का बेसब्री से इंतजार करता है। नासिक की इकाई मुझे अपनी बैठकों में बुलाती है तो कोल्हापुर वाले मुझे किसी अन्य कार्यक्रम के लिए आमंत्रित करते हैं। मैं हर जगह जाने की कोशिश करता हूं। मुझे जगह-जगह जाना और वहां फॉलो-अप मीटिंग्स करने में मजा आता है। अक्सर मेरे आने की सूचना अखबारों में छपती है। जिन लोगों ने बहुत सालों से नशा छोड़ा है वो बड़ी संख्या में इन अवसरों पर आते हैं। इन मित्रों को मिलने का यह एक सुनहरा मौका होता है। ऐसे भी लोग हैं जो शत-प्रतिशत नशा-मुक्त रहे हैं। अक्सर उनकी पत्नियां मुझे 'असलियत' से अवगत भी कराती हैं। नशा-मुक्ति के बारे में एक बात सच है। जब नशा-मुक्ति सच में होती है, तो उसे छिपाना मुश्किल होता है, और जब नशा-मुक्ति नहीं होती है, तो उसका दावा नहीं किया जा सकता है।

पूरे महाराष्ट्र में हमारे 24 उपकेंद्र हैं। यह उपकेंद्र बिना किसी संचालन के बहुत सुचारू रूप से चलते हैं। वहां मरीज एक-दूसरे की मदद करते हैं और काउंसिलर्स मरीजों को दारू छोड़ने में सहायता करते हैं। जब कभी कोई स्वयंसेवी मेरे सामने इन केंद्रों की प्रशंसा करता है तो मेरा दिल खुशी से भर जाता है। मुझे इस विशाल नेटवर्क का गर्व है जिसे लगभग शून्य-कीमत पर खड़ा किया गया है। बस के किराए के अलावा इन केंद्रों के पालन-पोषण पर हमने और कोई खर्चा नहीं किया है। हमारे अधिकांश स्वयंसेवक, मरीजों के घरों में रहते हैं और उससे होटलों का खर्च बच जाता है। हम केवल बड़ी बैठकों के लिए, जिनमें बड़ी संख्या में लोग आते हैं के लिए ही, किसी हॉल को किराए पर लेते हैं। इन मौकों पर मरीजों और उनके माता-पिता के चेहरों की खुशी बस देखते ही बनती है।

मुझे पन्हाला के हिल-स्टेशन पर आयोजित एक मीटिंग की याद है। यह एक अत्यंत यादगार बैठक थी। वहां आई सभी महिलाएं हरी घास पर आराम कर रही थीं, गप्पे लगा रही थीं जबकि मर्द बड़े-बड़े बर्तनों में खाना पका रहे थे। मर्द मरीजों ने मुझसे कहा, "बाबा आप अपनी बेटियों के साथ बातचीत करें, जब तक हम अपना काम करेंगे।" जब महिलाओं ने सहायता का प्रस्ताव रखा तब उन्होंने कहा, "आप लोग आराम से बैठें। हमारा काम ठीक चल रहा है। मुक्तांगन के कारण हम अच्छा भोजन पकाना सीख गए हैं।" पहले सभी महिलाओं और मुझे खाना खिलाया गया और उसके बाद ही मर्दों ने खाना खाया। जब आदमी खाना खाने बैठे तो महिलाओं ने उन्हें खाना परोसा।

यह दृश्य मेरे दिल को छुआ। अक्सर मर्द, महिलाओं के लिए काम नहीं करते हैं। पतियों को थाली में भोजन परोसा जाता है। और यहां हमने उसका बिल्कुल उल्टा देखा। हंसती, मुस्कुराती महिलाओं को देखकर दिल और आश्वस्त हुआ। पहले इन महिलाओं के चेहरों और शरीर पर चोट के निशान होते थे। अब उनकी मुस्कुराहट में वे पुरानी यादें दब गई थीं, और वे खिलखिलाकर हंस रही थीं। मुझे उनके पतियों यानि अपने बेटों को भी देखकर अच्छा लगा। वे अपने अहम को थूककर महिलाओं का काम कर रहे थे।

सुनंदा अक्सर अपने मरीजों से कहती, “मैं इलाज के दौरान आपसे केवल नशा छोड़ने की आशा नहीं रखती हूं। वो उपचार से होगा ही। मेरी अपेक्षा इससे ज्यादा है। मैं चाहती हूं कि आप बेहतर, अधिक दयालू इंसान बनें।” पन्हाला में मैंने जो दृश्य देखा मैं उसके बारे में सुनंदा को बताना चाहता था। वैसे सुनंदा भौतिक रूप से दुनिया में नहीं है पर ऐसे खुशी के अवसरों पर वो जरूर हमारे साथ होती है। मुक्तांगन के व्यसन-मुक्त बच्चों ने उसे जरूर खुश किया होता।

मुझे खुशी है कि महाराष्ट्र अब इस प्रकार के फॉलो-अप केंद्रों की एक श्रृंखला है। ठाणे स्थित हमारे केंद्र में पिछले 14 सालों में एक भी नागा नहीं हुआ है। नासिक की बैठकें हमारे एक मरीज के आंगन में होती हैं। उसके घर के आसपास चॉल हैं और मुख्य सड़क के पास होने के कारण वहां बहुत गाड़ियों का ट्रैफिक रहता है। आसपास के लोग इस बैठक को बड़ी उत्सुकता से देखते हैं। वो अचरज करते हैं कि हम कैसे मरीजों को सलाह देते हैं, उनकी समस्याओं को सुलझाते हैं और फिर साथ मिलकर रणनीतियां तय करते हैं जिससे कि आपस में झगड़ा न हो। हम हमेशा किसी सुलह पर पहुंचने की कोशिश करते हैं, और इन प्रयासों की लोग प्रशंसा करते हैं।

अब हाल ही में कोल्हापुर के पास इचलकरंजी में हुई बैठक काफी शिक्षाप्रद रही। हमारे स्वयंसेवक दीपक सोमाणी ने वहां पर एक मजबूत ग्रुप खड़ा किया है। उस दिन मैंने तम्बाकू के नशे को छोड़ने पर भाषण दिया। हरेक को मेरी बात अच्छी लगी। मैंने हरेक मरीज से उनके द्वारा नशा छोड़ने की अवधि के बारे में जाना। उन्होंने मुझे अपनी सफलता की कहानियां सुनाईं। कुछ को तम्बाकू छोड़ना बहुत मुश्किल लगा। मैंने कुछ लोगों से सार्वजनिक रूप से तम्बाकू का नशा छोड़ने की कसम खाने को कहा। “बाबा को बेवकूफ मत बनाओ और अपनी जेबों में से तम्बाकू के पाऊच निकालो।” लोगों की सहमति के बाद ही मैं उनके तम्बाकू के पाऊच लूंगा। फिर सब लोग तम्बाकू त्यागने वालों के सम्मान में तालियां बजाएंगे। कुछ देर बाद, मेरे एक ओर तम्बाकू का सेवन वालों की लाइन लगी थी और दूसरी ओर गुटके और तम्बाकू के

पाऊचों का ढेर लगा था। यह एक संकेतिक पहल थी। मुझे पता था कि कुछ मरीज अपने वादे को पूरा नहीं कर पाएंगे। पर मुझे आशा है कि कुछ लोग तम्बाकू खाना हमेशा के लिए छोड़ देंगे। क्या यह लोग महत्वपूर्ण नहीं हैं?

इचलकरंजी से पुणे आते वक्त मैंने तम्बाकू के सारे पाऊचों को एक खुले मैदान में फेंक दिया। मुझे याद है कि सुनंदा ड्रग्स के पाऊच और पैकेट नदी में फेंकती थी। वो घर आते वक्त होल्कर पु. ल. पर खड़े होकर उन ड्रग्स के पाऊचों को नदी में डालती थी। ये पैकिट, मुक्तांगन में दाखिला लेने आए युवा मरीजों की जेबों से निकले थे।

जैसे वो नियमित रूप से पाऊचों को नदी में डालती, एक स्वयंसेवी बार-बार उससे कहता, “मैडम, इससे नदी की मछलियां एडिक्ट बन जाएंगी!”

“नहीं, मछलियां समझदार होती हैं, वो इस कचरे को छुएंगी तक नहीं,” सुनंदा जवाब देती।

अंत के शब्द

अभी तक मुझे जो याद आया वो मैंने लिखा। पर भला कोई कितना लिख सकता है? मेरा उद्देश्य मुक्तांगन का केवल सार बताना है। और उसके लिए जो लिखा वो पर्याप्त है।

अनुदान देने के बाद साहित्यकार पु. ल. देशपांडे ने कहा, “मैं इस पुनर्वसन केंद्र के लिए सफलता और लम्बी उम्र की शुभकामनाएं नहीं दूंगा। इसके विपरीत मेरी इच्छा है कि ऐसे केंद्रों की समाज को जरूरत ही न हो, और वो जल्दी-से-जल्दी बंद हो जाएं।”

पु. ल. देशपांडे की बात सही थी। मैंने यहां मुक्तांगन की सफलता की कहानी नहीं सुनाई है। सुनंदा ने हमेशा एक ड्रग्स मुक्त समाज के लिए काम किया था। वो मुक्तांगन पुनर्वसन केंद्र को एक दिन एक सांस्कृतिक केंद्र में बदलना चाहती थी। वो इस केंद्र में अनेक कला विधाओं को फलता-फूलता देखना चाहती थी। वो चाहती थी कि अलग-अलग कलाकारों को इस परिवेश में सच्चा आश्रय मिले। वो शौकिया कलाकारों को प्रोत्साहित करना थी और उस स्थान को कला प्रदर्शनियों के लिए उपयोग करना चाहती थी।

विचार गजब का था। परन्तु वास्तविकता बिल्कुल अलग थी। समय के साथ-साथ शराब कम्पनियों की प्रतिष्ठा बढ़ी है। शराब पीना और उसे पिलाना एक सामाजिक शिष्टाचार बन गया है। इसलिए अभी सांस्कृतिक केंद्र बहुत दूर की बात है। एक समय मुक्तांगन में 30 मरीज थे, आज 150 हैं। पहले पुणे के बाहर मात्र एक काउंसिलिंग सेंटर था, आज 23 हैं। हमें लगता था कि महिलाएं शराब नहीं पीती होंगी। पर आज महिलाओं के लिए एक अलग सेक्शन है। हमें इन उपलब्धियों पर गर्व है। हम कॉरपोरेट कम्पनियों की तरह अपने कार्य विकास की डींग नहीं मारते हैं। असलियत तो यह है कि समस्या का प्रमाण बढ़ा है और वो ज्यादा जटिल बनी है, जिसके कारण हमें अधिक मेहनत करनी पड़ती है। वर्तमान स्वयंसेवियों के काम के घंटे बढ़ गए हैं। इसलिए अब हमें अधिक स्वयंसेवियों की आवश्यकता होगी। यह अनिवार्य है। हमें माता-पिता, बच्चों, पत्नियों और बड़े समुदाय की मदद करनी है।

कुछ लोग हमारे प्रयासों के खिलाफ तर्क देते हैं। हम कैसे शराब कम्पनियों और ड्रग माफिया से प्रतिस्पर्द्धा कर सकते हैं? क्या हमारे प्रयास कभी उनकी बराबरी कर पाएंगे? हम कब तक उनके द्वारा पैदा की बरबादी को सम्भालते रहेंगे? जब गाड़ियों से निकलते धुएं के प्रदूषण से, फेफड़ों के कैंसर की दर बढ़ती है तो कैंसर डॉक्टर क्या करते हैं? क्या वो मरीजों का इलाज करना बंद कर देते हैं? अगर आग लगाने वाले ताकतवर और आक्रमक हैं, तो क्या हम अपना बचाव कार्य बंद कर दें? हमारे काम की पहुंच अपर्याप्त है, फिर भी हमने अपना काम जारी रखा है।

मैंने मुक्तांगन के अनुभवों को इस पुस्तक में लिखा है। यह हमारे व्यावसायिक विकास का लेखा-जोखा नहीं है। हम अपने विस्तार का जश्न नहीं मनाना चाहते हैं। हमने संस्था की दसवीं वर्षगांठ को सार्वजनिक रूप से नहीं मनाया, न ही हमने उस अवसर पर किसी मशहूर फिल्मी सितारे को बुलाया। सालगिरह, मुक्तांगन में एक छोटे समारोह के रूप में मनाई गई, जिसमें हमारा पहला मरीज मुख्य अतिथि बना। बाद की जयंतियां हम सुनंदा के निधन के कारण, अच्छी तरह से नहीं मना पाए। हमारे ऊपर काम का इतना अत्याधिक बोझ था कि वर्षगांठ हमें याद ही नहीं रहती थी। अब मुक्तांगन 25 वर्ष पूरे कर चुका है। अगले साल मुक्तांगन 30 साल पूरे करेगा। इस अवसर को हम अपने सगे-सम्बंधियों के साथ पुनर्मिलन का मौका मानते हैं। क्या समाज सेवा की कोई शेखी मार सकता है? अगर हम अपने सामाजिक कार्य का जश्न मनाएंगे तो उसका मतलब होगा कि हमने उन मरीजों से कुछ नहीं सीखा जिन्होंने मुक्तांगन की निःस्वार्थ सेवा की।

यह सच है कि नशीली शराब और ड्रग्स आदि के उत्पादन को हम बंद नहीं कर सकते हैं। परन्तु हमने अपने तरीके से, एक छोटी सी पहल की है। आजतक हमने 20,000 मरीजों से ज्यादा की सहायता की है। हम शराब के खिलाफ कोई बड़ा मुहिम तो नहीं चला पाए पर हमने उसके दुष्परिणामों के खिलाफ जागरूकता जरूर पैदा की है। आज हमारे 16,000 मित्र हैं जिनका पूरी तरह इलाज हो चुका है। इन मित्रों ने बहुत सकारात्मक रूप से अपने करीब के लोगों की जिंदगियों पर असर डाला है। ऐसे सुधरे और स्वास्थ्य हुए लोगों की संख्या को हम अवश्य बढ़ा सकते हैं। हम बीड़ी, सिगरेट और शराब का उत्पादन बंद नहीं कर सकते, पर उनसे जुड़े आकर्षण का जरूर पर्दाफाश कर सकते हैं। जो लोग शराब नहीं पीते हैं, उन्हें अपने इस निर्णय पर अडिग होकर, खड़े रहना चाहिए। उन्हें अपने निर्णय को स्पष्ट रूप से रखना चाहिए जिससे कि बाकी लोग उनके चुनाव का आदर कर सकें। समाज, एक दिन में नहीं बदला जा सकता है पर हम अच्छे विचारों और विवेक का एक दीपक तो जला

ही सकते हैं। अगर हम कहें, “हां, हम कर सकते हैं” तो शायद एक बड़ा परिवर्तन लाना सम्भाव हो।

जैसे मैंने शुरू में बताया, पु. ल. देशपांडे ने कहा, “अगर एक भी परिवार नशे के खतरे से मुक्त होगा तो मेरा यह दान एक नेक काम पर खर्च होगा।” उन्होंने कहा कि अगर एक घर में भी खुशी का दीप जलेगा, तो वो मुक्तांगन के प्रयास से प्रसन्न होंगे। मैं पु. ल. और उनकी पत्नी सुनीताबाई को बताना चाहूंगा कि उनके आशीर्वाद से मुक्तांगन, हजारों घरों में दीप जलाने में सफल हुआ है। वो ज्ञान के दीप जलाता रहेगा। एक दिन यह दीपक, अंधकार को निगल जाएंगे।

मुक्तांगन के पास राजनैतिक सत्ता या आर्थिक ताकत नहीं है। पर हम में लोगों की सेवा करने की अंदरूनी इच्छा है। और अगर यह तमन्ना जारी रहेगी, तो मुश्किल-से-मुश्किल काम भी सम्भव हो जाएंगे। हममें अच्छे काम करने की तीव्र इच्छा है, और शायद वो नियम हमें एक दिन, अपनी मंजिल तक ले जाएगा!



मूढ़ बनाने का कारखाना

अनिवार्य स्कूली शिक्षा का छद्म पाठ्यक्रम

जॉन टेलर गेट्टो

2012 | 140 pages | Paperback | ISBN 978-93-82400-00-4 | Rs. 200

लगातार बजने वाली घंटियाँ, एक कक्ष से दूसरे कक्ष में, प्रतिदिन आठ घंटे की कैद, आयु के अनुसार सब्जी-भाजियों की तरह विभाजन, निजता की कमी और निरंतर निगरानी, क्रियाशील समुदाय से पूरी तरह काटकर तथा स्कूल के बाकी सभी पाठ्यक्रमों की रचना इस प्रकार की गई है कि हमारे बच्चों को यह न सीखने दिया जाये कि वे किस तरह सोच समझकर कार्य करें – वे हमेशा दूसरों पर निर्भर बने रहें।

तीस वर्ष तक सरकारी स्कूलों में पढ़ाने और लगातार पुरस्कार जीतने के बाद जॉन टेलर गेट्टो इस दुःखद निर्णय पर पहुँचे कि स्कूलिंग का शिक्षा में कोई वास्ता नहीं है – बहुत ही थोड़ा सा – बल्कि युवाओं को यह सिखाना कि कैसे आर्थिक और सामाजिक प्रणाली की चाकरी की जाये। डंबिंग अस डाउन वर्तमान स्कूली शिक्षा प्रणाली की कई भयानक वास्तविकताओं को उजागर करती है और उन अभिभावकों के लिए एक पथ-प्रदर्शक बन गई है जो “दूसरा और सही रास्ता” तलाशना चाहते हैं। यह पुस्तक भारतीय संदर्भ में भी उतनी ही प्रासंगिक है और हमें यह सोचने को बाध्य करती है कि हम कैसे हमारे बच्चों को शिक्षित करें – और किसके लिए।

अनुक्रमणिका : भारतीय संदर्भ में प्रस्तावना - मनीष जैन। प्रस्तावना, थामस मूर। परिचय, डेविड अल्बर्ट। लेखक के विषय में। 1. सात-सबक वाला स्कूल अध्यापक 2. मनोविकृति स्कूल 3. हरित मोनोनगहेला 4. हमें कम स्कूल चाहिए, अधिक नहीं 5. धर्मसभात्मक सिद्धान्त। बाद में : दशम वर्षगांठ संस्करण। ताज़ा कलम 2005 अंग्रेजी प्रकाशक की ओर से।

जॉन टेलर गेट्टो ने न्यूयार्क सिटी पब्लिक स्कूल में तीस वर्षों तक पढ़ाया है। उन्हें इस दौरान न्यू यार्क सिटी टीचर अवार्ड और न्यू यार्क स्टेट टीचर अवार्ड से भी पुरस्कृत किया गया था। शिक्षा में नई सोच को लेकर वे काफी लोकप्रिय वक्ता हैं और अपने व्याख्यानों के लिए उन्होंने पुरे उत्तर अमरीका में करीब 15 लाख मील की लंबी यात्राएँ की हैं। उनकी प्रलयकारी पुस्तक “डंबिंग अस डाउन” की अंग्रेजी में अब तक दो लाख से भी ज्यादा प्रतियाँ छप चुकी हैं। हाल ही में सत्याग्रह की भावना से उन्होंने मानकीकृत परीक्षा को तोड़ने और शिक्षा प्रणाली से असहयोग करने के लिए एक आंदोलन की शुरुआत की है – परीक्षा पुस्तकों में यह लिखना कि “*मैं आपका टेस्ट नहीं लेना पसंद करूँगा।*” उनकी अन्य पुस्तकें हैं, *ए डिफरेंट काइन्ड ऑफ टीचर*, *द अण्डरग्राउन्ड हिस्ट्री ऑफ अमेरिकन एजुकेशन* और *विपन्स ऑफ मास इन्स्ट्रक्शन*, *डंबिंग अस डाउन*, *मूढ़ बनाने का कारखाना*।



प्राचीनता का भविष्य

भूमंडलीकरण की ओर अग्रसर विश्व को लदाख की सीख

हेलेना नॉर्बर्ग-होज़

2013 | 224 pages | Paperback | ISBN 978-93-82400-01-1 | Rs. 250

लदाख या “छोटा तिब्बत” की संस्कृति, परंपरा तथा हो रहे परिवर्तनों पर एक चलता फिरता दर्पण है “प्राचीनता का भविष्य”। यह पुस्तक विकराल होती वैश्विक अर्थव्यवस्था की सच्चाई उजागर करने के साथ ही आर्थिक स्थानीयकरण के पक्ष में समर्थन जुटाने की जरूरत के लिये अंतिम चेतावनी भी देती है।

1975 में, हेलेना नॉर्बर्ग-होज़ जब पहली बार लदाख आई, तब परिवार एवं समुदाय स्वस्थ एवं सुदृढ़ थे, लोग सौम्य थे और अर्थव्यवस्था आत्मनिर्भर। फिर विकास की एक लहर आई। गत तीन दशकों से हिमालय का यह हिस्सा बाहरी बाज़ारों और पश्चिम आधारित प्रगति की चपेट में आ गया है। इसके नतीजे बड़े ही भयावह हैं – प्रदूषित हवा और पानी से लेकर खाने संबंधी विकार से लेकर सांप्रदायिक झगड़े – सब कुछ पहली बार।

लेकिन यह कहानी निराशा से दूर, आशा की ओर ले जाती है। हेलेना नॉर्बर्ग-होज़ का तर्क है कि यह सामाजिक और पर्यावरणीय विघटन न तो अपरिहार्य है और न ही क्रम-विकास की देन, अपितु एक सोची समझी चाल के तहत राजनीतिक और आर्थिक फैसलों का उत्पाद है। अपने नए “बाद में” में वे लिखती हैं कि लदाख की सांस्कृतिक विरासत को पुनर्स्थापित करने के प्रेरणादायी प्रयास शुरू हो चुके हैं, जिसमें पाँच हजार महिलाओं का सशक्त समूह और गाँव के स्तर पर नवीनीकरण करने योग्य ऊर्जा परियोजनाएँ शामिल हैं। वह विश्वभर में चल रहे स्थानीयकरण आंदोलनों के बारे में भी बतलाती है कि किस तरह उन्होंने शोषण की अर्थव्यवस्था को त्याग कर स्थान आधारित संस्कृति की ओर देखना शुरू कर दिया है, जो फिर से समुदायों को सुदृढ़ करने और प्रकृति से हमारे संबंधों को मज़बूत बनाने का काम करती है।

अनुक्रमणिका : आभार। प्रस्तावना: धर्मगुरु दलाई लामा। परिचय: पीटर मैथिसेन। मंगलाचरण: लदाख से सीख।

भाग I : 1. “छोटा तिब्बत” 2. ज़मीन के साथ रहना 3. चिकित्सक और शमन 4. हमें साथ मिलकर रहना है 5. लयबद्धता रहित नृत्य 6. बुद्धवाद: जीवन की एक शैली

भाग II : 7. जोड़िए डी विवरे 8. पश्चिम का आगमन 9. मंगल ग्रह के लोग 10. पैसा है तो दुनिया बस में 11. लामा से अभियन्ता 12. पाश्चात्य रीति से सीखना 13. केन्द्र की तरफ खिंचाव 14. विभाजित लोग

भाग III : 15. न कुछ श्याम है, न कुछ श्वेत है 16. विकास का छल 17. प्रति-विकास 18. लदाख परियोजना। उपसंहार: “प्राचीनता का भविष्य”। बाद में: सुख का अर्थशास्त्र।

हेलेना नॉर्बर्ग-होज़ अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त सांस्कृतिक आलोचक, लेखिका और पर्यावरणविद होने के साथ-साथ विश्वव्यापी स्थानीयकरण आंदोलन की प्रणेता भी हैं। 1975 से वे पारंपरिक विकास की संभावनाओं की तलाश करने हेतु लदाख आ रही हैं। इन प्रयासों के लिये उन्हें राइट लाइवलीहुड पुरस्कार मिला, जो नोबल पुरस्कार का विकल्प है।



सातत्य की अवधारणा

खोए आनंद की तलाश में

जीन लीडलॉफ

2012 | 208 pages | Paperback | ISBN 978-81-920957-6-9 | Rs. 200

“मैं नहीं जानता कि क्या दुनिया को एक पुस्तक से बचाया जा सकता है, परन्तु यदि ऐसा हो सकता तो वो पुस्तक सिर्फ यही हो सकती है।”

जॉन हॉल्ट

जीन लीडलॉफ ने दक्षिण अमेरिका के घने जंगलों में पाषाण युगीन इंडियनों – सनेमा और येक्वुआना लोगों के साथ करीब ढाई वर्ष बिताये। यहाँ उसे हुए अनुभवों ने उसकी उस पश्चिमी अवधारणा को ध्वस्त कर दिया कि हमें कैसे रहना चाहिये और उसकी एक अलग धारणा बनी कि मनुष्य का स्वभाव आखिर है क्या ? “हम अपनी पश्चिमी सभ्यता में खूद के स्वभाव को समझ नहीं ही पाए हैं?” अपनी अवधारणा की पुष्टि के लिए वह पाँचवी बार फिर से गई और “द कन्टिन्युअम कान्सेप्ट” लिखी। उसका मानना है कि यह बात तार्किक क्षेत्र में आती ही नहीं कि शिशु के साथ कैसा बरताव किया जाए। शिशु पालन पर अपने समय की एक सर्वश्रेष्ठ पुस्तक।

“...अच्छू ने ऐसा कोई संकेत नहीं दिया कि मुझे तेज़ चलना चाहिए, या अगर मैं आरामदायक गति से चलूँगी तो मेरी प्रतिष्ठा आहत होगी, कि मेरे कार्य प्रदर्शन से मुझे आँका जा रहा है या रास्ते में लगने वाला समय पहुँचने के बाद के समय से कम वांछनीय है।”

इसी पुस्तक से

“यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि हम अपने सहजबोध से इतना दूर हो गए हैं कि अब हम इन्सानों को इन्सान जैसा व्यवहार करना भी एक पुस्तक से सीखना पड़ रहा है। पर अगर कोई पुस्तक है जो ऐसा कर सकती है तो निश्चित ही वह ‘सातत्य की अवधारणा’ है।”

योरित-अविराम, ओरोविल, सातत्य पालक

अनुक्रमणिका : भारतीय संदर्भ में प्रस्तावना। परिचय। 1. मेरे विचारों में क्रान्तिकारी बदलाव कैसे आया 2. सातत्य की अवधारणा 3. जीवन का प्रारंभ 4. बढ़ना 5. अत्यावश्यक अनुभवों से वंचित होना 6. समाज 7. सातत्य के सिद्धान्तों को पुनः लागू करना।

जीन लीडलॉफ न्यूयार्क में जन्मी और पली बड़ी थी। अपनी स्नातक शिक्षा के बाद वह कार्नेल युनिवर्सिटी गई लेकिन बिना कोई डिग्री लिए ही उसने अपनी यात्राएँ शुरू कर दी – पहले वह यूरोप को लेकर आकर्षित हुई और फिर दक्षिण अमरीकी जंगलों में। उनकी यह पुस्तक का करीब पन्द्रह से अधिक भाषाओं में छप चुकी है और शीघ्र ही बनियन ट्री द्वारा कई अन्य भारतीय भाषाओं में उपलब्ध कराई जाएगी।



लड़ाई से लगाव

अमरीका युद्ध छोड़ने में क्यों असमर्थ है

जोइल आन्द्रेज

2011 | 90 pages | Paperback | ISBN 978-81-920957-0-7 | Rs. 140

“लड़ाई से लगाव पुस्तक दुनिया की सबसे बड़ी, ताकतवर और विनाशकारी सैनिक ताकत से टक्कर लेती है। पिछले कुछ सालों में अन्य देशों की तुलना में अमरीका बहुत ज्यादा युद्धों में उलझा रहा है। पैना-प्रहार करती और तथ्यों पर आधारित यह किताब अपने पक्ष में 150 सबूत पेश करती है। पुस्तक शुरू करने के बाद आप उसे पूरा पढ़े बिना नहीं रख पायेंगे। दो घंटों में खत्म होने वाली इस किताब को आप जल्दी भूल नहीं पायेंगे।”

अरविंद गुप्ता

जोइल आन्द्रेज की यह **चित्र-कार्टून** पुस्तक “एडिक्टेड टू वार”, एक ऐसी पुस्तक है जो केवल युद्ध की विभिषिका ही नहीं वरन् दूसरे के संसाधनों पर कब्जा कर दुनिया में देश एवं शान्ति स्थापना के नाम पर युद्ध को कारगर उपाय बताने वाली संकल्पना की पूरी कलाई खोलकर रख देती है। यह पुस्तक इतनी सरल एवं सहज है कि छोटे से लेकर बड़े बुढ़ों तक को युद्ध का असली मकसद समझ में आ जाता है।

युद्ध विचारहीनता या संवेदनहीनता जन्म गतिविधि न होकर दुनिया में संसाधनों पर कब्जा कर समूची मनुष्यता को अपनी ताकत के अधीन करने की एक ऐसी सोची समझी साजिश है, जिसको देशहित या शान्ति स्थापना या मानव अधिकार की रक्षा के नाम पर दुनिया की साम्राज्यवादी ताकतें लोगों की भावना को भड़का कर पूरा करती है।

भारत और अन्य देश अमरीका को एक जालिम और तानाशाह मुल्क जैसे देखते होंगे। वो सोचते होंगे कि अमरीकी जनता भी इस कुकर्म में शामिल होगी। पर अमरीका में युद्ध-विरोधी एक शानदार परंपरा है। यह युद्ध-विरोधी आंदोलन वर्तमान में मजबूती से उभर रहा है। इस किताब के जरिए हमारा प्रयास अमरीकी तानाशाहों के कुकर्मों पर बंदिश लगाना है। इस पुस्तक के प्रकाशन से भारत और अमरीकी जनता के संयुक्त युद्ध-विरोधी प्रयासों को बल मिलेगा और दोनों देश मिलकर दुनिया में अमन करने की पहल करेंगे। क्योंकि अंततः हम सभी लोग ‘एक ही नाव पर सवार हैं।’

अनुक्रमणिका : भारतीय संस्करण के लिए लेखक का आमुख। भारतीय अंग्रेजी प्रकाशक का आमुख। अमरीकी और अनुवादित संस्करणों पर एक नोट। प्रस्तावना। दो शब्द - अरविन्द गुप्ता। परिचय। 1. “अलौकिक भविष्य” 2. “शीत युद्ध” 3. “नये विश्व का प्रारूप” 4. “आतंकवाद पर युद्ध” 5. युद्ध के मुनाफाखोर 6. सैन्यवाद की कीमत 7. सैन्यवाद और मीडिया 8. सैन्यवाद का प्रतिरोध 9. आप क्या कर सकते हैं? संदर्भ।

जोइल आन्द्रेज - जब वे डेट्राइट मिशिगन प्राइमरी स्कूल में थे तभी से अपने माता-पिता के वियतनाम युद्ध के खिलाफ प्रदर्शनों में हिस्सा लेना शुरू कर दिया था। तब से वे एक सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ता के रूप में जातीय-समानता की स्थापना, कामगारों को संगठित करने और अमरीका द्वारा विदेशों में किए जा रहे आक्रमणों का विरोध कर रहे हैं। लड़ाई से लगाव उनकी तीसरी चित्रमय प्रस्तुति है



NARMADA : RIVER OF JOY

AMRITLAL VEGAD

2014 | 232 pages | Paperback | ISBN 978-93-82400-11-0 | Rs. 300

This is Amritlal Vegad's second book in a remarkable trilogy in which he records his circumambulation of the magnificent Narmada River. Here, the award-winning author and artist continues his compelling account of the 2,624 kilometre journey by foot over a 22 year period.

Blending his keen powers of observation with his artist's eye and irresistible story-telling skills, he unfolds the many moods of the iconic river, the unforgettable scenes and sights along its banks, and the colourful cast of characters he comes across. His vivid narration not only makes the reader his eager travelling companion, but draws attention to a host of intriguing aspects of the journey that a casual traveller might otherwise miss.

The Narmada River is the traditional water boundary between the north and the south of the Indian sub-continent. The fifth-largest river in India, the Narmada flows 1,321 kilometres in the rift formed by the two mountain ranges that run across central India: the Vindhyas to the north, and the Satpuras to the south. Her journey begins in Amarkantak in Madhya Pradesh; she then flows westwards via the state of Maharashtra to the coast of Gujarat, west of the city of Bharuch, emptying into the Gulf of Khambat. From a trickle at the source, the Narmada expands into a mighty 20-kilometre wide body of water at the estuary.

All along her course, the Narmada offers numerous fine vistas, some of them breathtaking in their unspoilt beauty. Her uniqueness lies in the fact that she is the only sacred river in India that is circumambulated (walked around in worship). Legend says that the Narmada never married, and being a virgin, is held to be more scared than even the Ganga, the most important of India's five holiest rivers. The prescribed period for the Narmada parikrama (pilgrimage) is three years, three months and 13 days. The full circuit, up and down the entire length of her banks, is 2,624 kilometres.

Hailed as the eternal Mother, the Narmada is always referred to in the feminine gender. The name 'Narmada' translates into 'Giver of Joy'.



THE HAPPY CHILD

Changing the Heart of Education

STEVEN HARRISON

2014 | 162 pages | Paperback | ISBN 978-93-82400-09-7 | Rs. 250

Children Naturally want to learn, Steven Harrison asserts in *The Happy Child*, so let them direct their own education—in democratic learning communities, where they can interact seamlessly with their neighborhoods, their towns, and the world at large. Part social critic, part humanistic visionary, Harrison not only describes a reorientation of education, but the possibility of rethinking our families, communities, and workplaces, and ultimately what gives our children—and all of us—real happiness.

Contents : Foreword for Indian Edition. Introduction

Part I : The Happy Child

1. Learning and Happiness
2. Educating the Whole Child
3. Learning to Fail
4. Who Is the Educator?

Part II : Education and Fear

1. Learning without Fear
2. Failing Grades
3. Testing, Testing
4. Learning and Behavior
5. Beyond Fear
6. The Happy Child in the Fragmented World
7. The Failure of Education

Part III : Democratic Learning

1. Individual and Society
2. Compulsory Education
3. Forced Curriculum and the Creatures of the State
4. Debate and Decision Making in Learning
5. Freedom and Responsibility:
6. You Can't Have One without the Other

Part IV : Learning and Belief – The Strange Case of the Missing Reality

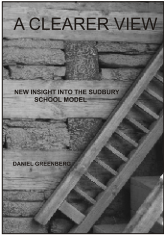
1. Culture and Perspective
2. Thought as Technology
3. Nothing: What You've Been Looking For
4. The New Docudrama Reality:
5. The Merger of Fact and Fiction
6. Everything Is Food for the Mind
7. Sharing Our Disbelief

Part V : The Heart of Learning

1. Don't Trust Anyone over Three
2. The Profound Knowledge of Not Knowing
3. Spirituality and Learning
4. Mentoring the Heart of Learning

Part VI : Creating Learning Communities

1. The Living School
2. Productivity and Happiness
3. The Intentional Family
4. Living Communities
5. Learning Communities



A CLEARER VIEW

New Insight into the Sudbury School Model

DANIEL GREENBERG

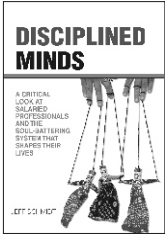
2013 | 142 pages | Paperback | ISBN 978-93-82400-04-2 | Rs. 200

This book shows how the people who struggled to implement this new educational model deepened their understanding of topics such as play, conversation, and democracy. The talks were collected in this wonderful book which packs a big punch in a little volume. It is particularly valuable for parents considering Sudbury model education for their children.

"We always felt that Sudbury Valley was the best place to develop each child's unique potential to the fullest. That was a given for us from day one. The question is, how does this beautiful concept relate to setting up a school? It turns out that, when you think of the notion of developing each child's unique destiny, you realize that it connects directly into the great debate of Nature vs. Nurture. And the fact is that, at least in this juncture in human history, no one has an answer to the question of which of these is the determining factor, or the most important factor, or what relative weight can be given to each one. Both factors seem to play a role. So, for us, the question became, how does the school environment relate to each of these two factors, assuming that they both play a role? How does the school environment help each child to realize their own destiny."

"That idea is the origin of the school's "Art of Doing Nothing" concept. In other words, outsiders—staff, or parents, or other members of the school community—have to take great care not to intervene in this natural unfolding of the child's capabilities. That's very important to us in the school. It has been for a long time. It's become reinforced by our experience over and over again. We have come to understand clearly that any intervention engaged in by the school will undermine, to a certain extent, the innate natural drives and tendencies of a growing child."

Contents : Foreword 1. The Meaning of Play 2. Conversation: the Staple Ingredient 3. What is the Role of Parents? 4. The Significance of the Democratic Model 5. Developing Each Child's Unique Destiny 6. Why Sudbury Valley School Doesn't work for Everyone



DISCIPLINED MINDS

A Critical Look at Salaried Professionals and the Soul-Battering System that Shapes their Lives.

JEFF SCHMIDT

2012 | 305 pages | Paperback | ISBN 978-81-920957-2-1 | Rs. 400

Who are you going to be? That is the question.

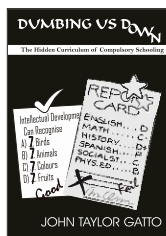
In this riveting book about the world of professional work, Jeff Schmidt demonstrates that the workplace is a battleground for the very identity of the individual, as is graduate school, where professionals are trained. He shows that professional work is inherently political, and that professionals are hired to subordinate their own vision and maintain strict "ideological discipline."

The hidden root of much career dissatisfaction, argues Schmidt, is the professional's lack of control over the political component of his or her creative work. Many professionals set out to make a contribution to society and add meaning to their lives. Yet our system of professional education and employment abusively inculcates an acceptance of politically subordinate roles in which professionals typically do not make a significant difference, undermining the creative potential of individuals, organizations and even democracy.

Schmidt details the battle one must fight to be an independent thinker and to pursue one's own social vision in today's corporate society. He shows how an honest reassessment of what it really means to be a professional employee can be remarkably liberating. After reading this brutally frank book, no one who works for a living will ever think the same way about his or her job.

Contents : Acknowledgements. Author's preface to Indian Edition. Introduction 1. Timid Professionals 2. Ideological Discipline 3. Insiders, Guests and Crashers 4. Assignable Curiosity 5. The Social Significance Concealment Game 6. The Division of Labor 7. Opportunity 8. Narrowing the Political Spectrum 9. The Primacy of Attitude 10. Examining the Examination 11. Gratuitous Bias 12. "Neutral" Voices 13. Subordination 14. Resisting Indoctrination 15. How to Survive Professional Training with your Values Intact 16. Now or Never. Index.

Jeff Schmidt was an editor at *Physics Today* magazine for nineteen years, until he was fired for writing this provocative book.



DUMBING US DOWN

The Hidden Curriculum of Compulsory Schooling

JOHN TAYLOR GATTO

2012 | 148 pages | Paperback | ISBN 978-81-920957-3-8 | Rs. 200

"Gatto comes down hard on the industrial one-size-fits-all schooling model. He argues that not only are schools irrelevant to the lives of children, they are in fact damaging. His central thesis is that factory schooling is causing great harm to children and communities. It is an anti-learning, anti-social and anti-democratic activity."

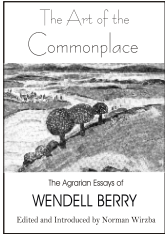
— Manish Jain, Shikshantar Andolan

Continuous ringing of the bells, from one compartment to another compartment, every day eight hours of confinement, the age-segregation like vegetables, the lack of privacy and constant surveillance, the crazy sequences, cut-off from the working community and all the rest of the national curriculum of schooling are designed exactly as if someone had set out to prevent children from learning—how to think and act—to coax them into addiction and dependent behavior.

After teaching for years John Taylor Gatto reached to the sad conclusion that schooling has nothing to do with learning—but to teach young people to conform to the economic and social order. *Dumbing Us Down* reveals shocking reality to today's school system and has become a beacon for parents seeking alternatives to it.

Contents : Foreword for Indian Edition, by Manish Jain. Foreword, by Thomas Moore. Introduction, by David Albert. Publisher's Note — from the US Edition. About the Author. 1. The Seven-Lesson Schoolteacher 2. The Psychopathic School 3. The Green Monongahela 4. We Need Less School, Not More 5. The Congregational Principle. Afterword. Postscript 2005 — from the Publisher

John Taylor Gatto has taught for over 30 years in Government Public Schools and is recipient of the New York City Teacher of the Year Award and New York State Teacher of the Year. He is much sought after speaker on Education. Recently he has started Bartleby Project to peacefully refuse to take standardized tests or to participate in any preparation of these tests by simply writing "*I would prefer not to take your test.*"



THE ART OF THE COMMONPLACE

The Agrarian Essays of Wendell Berry

WENDELL BERRY

2012 | 360 pages | Paperback | ISBN 978-81-920957-4-5 | Rs. 400

The Art of the Commonplace is a collection of twenty one essays written by Wendell Berry, one of the best minds of our times. His essays offer an agrarian alternative to our mindless urban lives. Berry believes in healthy rural communities, sustainable agriculture, appropriate technology, hard work and frugality. These essays bring out these and many more of his beliefs in a simple and eloquent language.

Berry is against the corporate takeover of agriculture and he defends farming communities and family integrity. He believes that greed, violence, adherence to a wrong philosophy of life and simple common sense factors like the erosion of the top soil contribute to the destruction of the "good life". Anyone who introspects on "where has the simple, good life gone?" must read these essays.

Contents : Introduction : The Challenge of Berry's Agrarian Vision

Part I: A Geobiography – 1. "A Native Hill"

Part II: Understanding Our Cultural Crisis – 1. The Unsettling of America
3. Racism and the Economy 3. "Feminism the Body, and the Machine" 4. "Think Little"

Part III: The Agrarian Basis for an Authentic Culture – 1. "The Body and the Earth" 2. "Men and Women in Search of Common Ground" 3. "Health Is Membership" 4. "Sex, Economy, Freedom, and Community" 5. "People, Land, and Community" 6. "Conservation and local Economy"

Part IV: Agrarian Economics – 1. "Economy and Pleasure" 2. "Two Economies" 3. "The Whole Horse" 4. "The Idea of a Local Economy" 5. "A Bad Big Idea" 6. "Solving for Pattern"

Part V: Agrarian Religion – 1. "The Use of Energy" 2. "The Gift of Good Land" 3. "Christianity and the Survival of Creation" 4. "The Pleasures of Eating". Acknowledgements

Wendell Berry is America's most eloquent and prolific defender of traditional rural economy and small scale farming. He is the author of more than fourty books. He lives and works in his native Kentucky with his wife, Tanya Berry, and their children and grand children.

जब लोग दारू या ड्रग्स के चंगुल में फंसते हैं तब उनका पूरा परिवार बरबाद हो जाता है। उस स्थिति से उबरने के लिए एडिक्ट और उसके सगे-संबंधियों को बहुत कठिन प्रयास करना पड़ता है। आज कई संस्थाएं शराब या ड्रग्स मुक्ति के काम में लगी हैं। पर आज से पच्चीस साल पहले बहुत कम ही लोग इस क्षेत्र में कार्यरत थे। तब चंद लोगों ने नशाबंदी के एक अभिनव कार्यक्रम का सूत्रपात किया। इस प्रयोग ने, भारतीय सांस्कृतिक परिवेश के संदर्भ में, पुनर्वसन का पथ-प्रदर्शक कार्य प्रारम्भ किया। इस तरीके में मरीज और उसके परिवारजनों का सहयोग अनिवार्य था। इसमें 'व्यक्ति' उपचार का केंद्र था, और औषधियों पर निर्भरता न्यूनतम थी। इस अग्रणी प्रयोग का नाम था - मुक्तांगन और वो पिछले 25 सालों से नशामुक्ति के कार्य में सक्रिय है।

मुक्तांगन की कहानी को उसके संस्थापक डॉ. अनिल अवचट ने लिखा है। वो मराठी साहित्य के जाने-माने हस्ताक्षर हैं। उन्हें कई पुरस्कारों से नवाजा जा चुका है, जिसमें साहित्य अकादमी का प्रतिष्ठित सम्मान भी शामिल है।

बनियन ट्री

BANYAN
TREE

₹ 250

ISBN: 978-93-82400-19-6



9 789382 400196

